नरेन्द्र मोहन
सृजन और संवाद

संपादक

डॉ० वीरेन्द्र सिंह

डॉ० भगवानदास वर्मा
और
डॉ० सुखबीर सिंह
की स्मृति में

की बात भी निहित है। मेरी दृष्टि से रचनाकार और आलोचक एक ही प्रक्रिया के अंग हैं, दोनों सृजन और विचार-संवेदन के भागीदार हैं और दोनो ही लगातार अपने को तोड़ते एवं विकसित करते हैं। यहीं दोनों का दोनों के लिए एक 'रचनात्मक' संवाद है, एक योगदान है जो विरोध-बिंदुओं के बावजूद एक मैत्री-पूर्ण संवेदनशील 'संवाद' की स्थिति है। यदि ऐसा नहीं है तो मैं उसे तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिसंपन्न आलोचक या रचनाकार नहीं कहूंगा। इस संपादन में मेरी यही दृष्टि है।

अब प्रश्न है कि मैंने समकालीन रचनाकारों में नरेन्द्र मोहन को क्यों चुना ? इस निर्वाचन में उन रचनाकारों के प्रति कोई दुराव या उपेक्षा का भाव नहीं है जिन्हें मैंने नहीं चुना है। नरेन्द्र मोहन एक लंबे अरसे से सृजन-कर्म में जुटे हुए हैं और इस सृजन को उन्होंने तीन विधाओं या सृजन-माध्यमों में गतिशील किया है—कविता, नाटक और आलोचना और इन तीनों में उनकी 'रचना-दृष्टि' का सापेक्ष संबध एवं विकास प्राप्त होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि उनकी रचना-दृष्टि और आलोचना-दृष्टि पूर्वाग्रहों एव विचारधाराओं के आग्रह से काफी सीमा तक बची हुई है, इसके विपरीत वे 'विचार' की गतिशीलता के कायल हैं और इस गतिशीलता में विचारधाराओं का अपना स्थान है क्योंकि कोई भी विचारधारा रचना-दृष्टि के विकास में कुछ-न-कुछ योगदान देती है, यदि उसे तटस्थ एव वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रहण किया जाए। यह बात मैं नरेन्द्र मोहन की रचना-दृष्टि में परोक्ष रूप से पाता हूं और इस प्रकार, उनकी रचनात्मकता में यथार्थ के बाह्य और आंतरिक पक्षों का एक सापेक्ष एवं द्वंद्वात्मक रूप दृष्टिगत होता है। यह संपादन नरेन्द्र मोहन के इन दोनों पक्षों को रेखांकित करने का प्रयत्न करता है। समग्र रूप से इसका विवेचन और मूल्यांकन मैंने पुस्तक के अंतिम प्रकरण 'एक समग्र दृष्टि' में करने का प्रयत्न किया है। मैं समझता हूं कि एक संपादक का दायित्व जहां एक ओर भिन्न दृष्टियों को सम्मुख रखना है, वहीं दूसरी ओर, उनके मध्य जो संवाद की स्थितियां हैं, उन्हें भी रेखांकित करना है और साथ ही, रचनाकार के समग्र मूल्यांकन को पेश करना है। यह संपादन कहां तक यह कार्य कर सका है, इसे सुधी पाठकगण एवं साहित्य-प्रेमी ही बता सकेंगे। इस संपादन में जिन आलोचक-बंधुओं ने मेरा अनुरोध स्वीकार कर इसमें योगदान दिया है, उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूं क्योंकि उनके सहयोग के बिना मैं कैसे सफल हो सकता था !

—वीरेन्द्र सिंह

अनुक्रम

प्रथम खंड : संवाद : रेखाचित्र

द्वितीय खंड : काव्य-रचना की अंतर्यात्रा

तृतीय खंड : लंबी कविताओं की संरचना

चतुर्थ खंड : नाट्य-संरचना और रंग-बोध

पंचम खंड : आलोचना-दृष्टि एवं समग्र मूल्यांकन-दृष्टि

प्रथम खंड

संवाद : रेखाचित्र

सृजन : जिंदा रखने का तरीका

(संदर्भ : सृजन : डॉ० वीरेन्द्र सिंह के साथ बातचीत)

प्रश्न : आपने साहित्य की तीन विधाओं—कविता, नाटक और आलोचना मे लिखा है। क्या अभिव्यक्ति-माध्यम को लेकर कोई दुविधा या कठिनाई आपके सामने आई ?

उत्तर : सृजन और विधा का संबंध उपरी या बाहरी नहीं, अंदरूनी है, यह मैंने अलग-अलग विधाओं में लिखते हुए महसूस किया है। 'सृजनात्मकता को एक रूप पाना ही है, वह स्वतः पा लेती है', पहले के कुछ लेखकों का इस तरह सोचना एक तरह से ठीक ही था। उनके सामने यह प्रश्न इस रूप में था भी नहीं जिस रूप में आज के लेखकों के सामने है। इतनी विधाएं और माध्यम तब थे भी कहा ? आज सृजनात्मक अभिव्यक्ति के इतने माध्यम हैं कि अलग-अलग सृजन-अवस्थाओ मे लेखक के सामने माध्यम का संकट आ सकता है। इसीलिए एक कारण शायद यह भी है कि आधुनिक लेखक को (जो एक से अधिक माध्यमों में लिखता है) गहरी कशमकश में से गुजरना पड़ता है। वह कैसे अभिव्यक्त करे ? किस फार्म मे, किस विधा में अपने सृजनात्मक प्रवाह को बांधे ? सृजन और माध्यम, अनुभूति और अभिव्यक्ति का अटूट रिश्ता कैसे सधे, इससे खुद मुझे एक से अधिक विधाओ मे लिखते हुए जूझना पड़ा है। प्रारंभिक तौर पर इस तरह जूझने के अलावा और कोई दुविधा या कठिनाई मुझे रचने के दौरान नहीं होती।

प्रश्न : कठिनाई न भी रहे, सृजन-प्रवृत्ति और माध्यम में रिश्ता बैठाने की समस्या तो आती ही होगी। क्या अपनी रचनाओं से उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे ?

उत्तर : मैंने अपनी सृजन-प्रवृत्ति के केंद्रबिन्दु विचार को बहुत पहले समझ लिया था। मैंने इसे अपने स्वभाव में रचा-बसा पाया था और इसे अनुभव के विरोध में नहीं, अनुभव के बीच से फूटते हुए देखा था। शुरू-शुरू में यह प्रवृत्ति छोटी कविताओं में अनुभव और विचार के एक खास समीकरण के तौर पर सामने आई थी लेकिन एक रचना समय में मुझ लगा कि यह प्रवृत्ति वहत्तर स्तर की

किया। अपनी दो छोटी कविताओं के ज़रिये शायद बात अधिक स्पष्ट कर सकूं —"सन्नाटा तानाशाही की जान है/और हंसी सन्नाटे के सीने में धंसता हुआ तीर/हंसते-हंसते जान ले लोगे क्या।" (कविता—हंसते-हंसते) × × × "नदी में डूबती हुई रात का/आखिरी सिरा थामे रहा/कांपते पलों में/और एक हिचकी के साथ/नदी में डूब गई रात" (कविता—देहांत)। इन दोनों कविताओं के पीछे जटिल संदर्भ कार्य कर रहे हैं। इनमें से संवेदनात्मक तनाव की मनोदशा विचार और बिंब से संतुलित है। इनमें ब्यौरे नहीं हैं। ब्यौरों से इन कविताओं को विस्तार दिया जा सकता था लेकिन तब ये कविताएं नष्ट हो जातीं। हंसी और नदी के बिंब इन कविताओं को अंतर्वर्ती लय मे बांधे हुए हैं। ये बिंब मेरी लंबी कविताओं मे भी मिलेंगे लेकिन वहां इन बिंबों के साथ परिवेश और इतिहास के ब्यौरे भी सटे हुए हैं। वे विचार के तार में पिरोये हुए हैं। नाट्य रचना की बात और है। नाटक लिखने में प्रवृत्त न हुआ होता अगर अनुभव, विचार और मंतव्य दृश्य रूप मे तैरते हुए न दिख जाते। यह 'देखना' ही नाटक की जान है। नाटकीय शब्द, बिंब और ब्यौरे पात्रो के ज़रिये आते हैं। उनमें कई संदर्भों की अनुगूंज समाई रहती है। अलग-अलग और मिल-जुलकर वे कब, किन संदर्भों से जुड़ जाएंगे और उन्हे किन अर्थों मे गुंजा देंगे, कहना कठिन है।

प्रश्न : आप विभिन्न विधाओं में लिखते हैं। उनमें कौनसे तत्त्व या घटक ऐसे हैं जो समान रूप से या न्यूनाधिक रूप से समान हैं?

उत्तर : सभी विधाओं में कल्पना, विचार, भाव, अनुभव और संदर्भ के घटक समान रूप से मिलेंगे, लेकिन हर विधा में इनका उपयोग लेखकीय मानसिकता के अनुरूप होगा तथा विधा और सर्जक-मन द्वारा उनका संयोजन, उनका समीकरण और रेखांकन बदल जाएगा।

प्रश्न : विधा या माध्यम का चुनाव करने में क्या हम पूरी तरह से स्वतन्त्र हैं?

उत्तर : पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं हैं। कई बार आंतरिक दबावों से लेखक विवश हो जाता है किसी विधा या माध्यम में लिखने के लिए। सृजन-प्रवृत्ति पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। सर्जक-मन पर पड़ने वाले युग और परिवेश के विभिन्न दबावों की भी एक भूमिका रहती है कि लेखक कविता लिखता है या नाटक, कहानी लिखता है या उपन्यास। कहना न होगा कि इधर जो नई कविताए और माध्यम उभरकर आ रहे हैं, उनके पीछे भी ये दबाव काम कर रहे हैं।

प्रश्न : कविता लिखने की आपकी प्रक्रिया क्या है?

उत्तर : एक बार लिख चुकने के बाद कई बार लगता है कहीं कुछ छूट गया है। तब मैं दोबारा लिखता हूं। कभी-कभी तीसरा-चौथा ड्राफ्ट भी तैयार करता हूं। यह बात लंबी कविताओं पर ही नहीं, छोटी कविताओं पर भी लागूहोती है।

मेरी रचना प्रक्रिया में कहीं स्मृतियों से जुड़ा इतिहास अंटा पड़ा है। रचना-पूर्व के क्षणों में, अबूझ भाषाहीनता में से प्रतीक-बिंब उभरने लगते हैं और मैं उन्हें पकड़ता और संभालता हूं। रचना के उस क्षण में/पहचान में आनी शुरू होती है भाषा/प्रकंपित हो उठता है शब्द-संसार, सुलगने लगता है अंधेरा! मुझे लगता है जैसे कुछ यादें मेरा पीछा कर रही हैं और मैं सरपट भाग रहा हूं मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' के काव्य नायक की तरह 'भागता मैं दम छोड़/घूम गया कई मोड़'। कई बार स्वप्न भी हॉंट करते हैं, घटना और संबंध भी। कभी कोई स्मृति-बिंब या संगीतात्मक ध्वनि या किसी चित्र की रेखाएं मुझे इस तरह घेरती है कि मैं वर्तमान से इतिहास में पहुंच जाता हूं और वहां से पुन: वर्तमान में। लंबी कविताएं और नाटक लिखते हुए मुझे अक्सर कई-कई भाव, विचार और बिंब धड़कते हुए दिखते हैं और मैं इन्हें अपनी रचनाओं का हिस्सा बनाने के लिए जुट जाता हूं।

प्रश्न : लंबी कविता की संरचना में आप किन-किन घटकों को महत्त्व देते है?

उत्तर : अनुभव की बड़ी पूंजी और प्रतिभा के बिना लंबी कविता संभव नहीं है। इसकी संरचना में विभिन्न मनोदशाओं और संदर्भों से जुड़ा, लंबे समय तक बना रहने वाला जो तनाव और द्वंद्व रहता है, उसे कवि कलात्मक ढंग से कैसे सयोजित करे? लंबी कविताओं में विभिन्न संदर्भों से जुड़े ब्यौरों के ज़रिये कविता आत्मवृत्त से समाज और इतिहास-वृत्त तक फैलती है यह ठीक है, लेकिन ब्यौरो और तनावदशाओं में संतुलन कैसे सधे? सवाल यह है कि लंबी कविता में ब्यौरो को केंद्रीय बिंब के साथ कैसे ताना जाए। अलग-अलग कवि अलग-अलग तरह से यह काम करते हैं। कोई किसी केंद्रीय प्रतीक का सहारा लेता है तो कोई किसी केंद्रीय बिंब और विचार का। दीर्घकालीन तनाव को संभालने की बात हो या ब्यौरों को संयोजित करने की, मैंने अपनी लंबी कविताओं में, ब्यौरों और तनाव दशाओं में संतुलन बैठाने के लिए केंद्रीय बिंब खड़े किए हैं। जो भी हो, कला-प्रतिभा के बिना कविता संभव नहीं है—छोटी हो या लंबी।

प्रश्न : आपकी लंबी कविताएं ब्यौरों, घटनाओं, पात्रों और परिवेश के द्वंद्व को रेखांकित करती हैं। इस द्वंद्व को आप किस सीमा तक ले सकते हैं?

उत्तर : मेरी लंबी कविताओं में पात्रों, घटनाओं और ब्यौरों के साथ-साथ परिवेशजन्य द्वंद्व है ज़रूर पर वे कविताएं द्वंद्व तक सीमित नहीं हैं। वे मानसिक-मनोवैज्ञानिक द्वंद्व धरातलों को आत्मसंघर्ष के विभिन्न धरातलों तक ले जाती हैं तथा आत्म और इतिहास, आत्म और समाज के बेहद जटिल और तीखे संघर्षों से भी उन्हें जुड़ता हुआ देखा जा सकता है।

प्रश्न : आज के युग की चुनौतियों का सामना लेखक कैसे कर सकता है?

उत्तर : आज के युग की चुनौतियों का सामना लेखक तीन स्तरों पर कर सकता है। एक—वैचारिक स्तर पर, दो—अभिव्यक्ति के स्तर पर और तीन—कर्म के स्तर पर। आदर्श स्थिति यह है कि विचार, अभिव्यक्ति और कर्म में अंतर न रहे, वैसे विचार और अभिव्यक्ति की ईमानदारी भी सध जाए तो बड़ी बात है। लेखक के लिए समझदारी और विवेक हर सूरत में जरूरी है। उदाहरण के लिए सांप्रदायिकता और सामाजिक शोषण के प्रति एक रुख यह हो सकता है—"भाई, कवि को इन झमेलों से क्या लेना-देना।" यह रुख घातक उदासीनता का है—चीजें जहां, जैसी हैं, उनके वहीं, वैसे पड़े रहने में सुख मानने का है। दूसरा रवैया स्थितियों के यथार्थ को समझकर समस्याओं का सामना करने का है, उनसे सीधे-सीधे निपटने का है। यह विद्रोह और संघर्ष का रवैया है। नकार-निषेध मूल्य नहीं है जबकि विद्रोह और संघर्ष मूल्य है। मेरे विचार में चुनौतियों का सामना करने के लिए विद्रोही और संघर्षशील प्रवृत्ति जरूरी है।

प्रश्न : आपकी बात से लगता है कि आप विद्रोह और संघर्ष को आज की कविता का मुख्य सरोकार मानते है ''

उत्तर : संघर्षशीलता आज की कविता के और मेरी कविता के भी केंद्र मे जरूर है पर यह संघर्षशीलता अनेक आयामों और संदर्भों में फैली हुई है—व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज और राजनीति तक। इस संघर्षशीलता को किसी एक अर्थ तक सीमित नही किया जा सकता। निजी, अंतरंग और पारिवारिक सदर्भ भी केंद्र में आ रहे हैं। ऊपर से साधारण दिखने वाली बातें भीतर तक कचोटने और तिलमिलाने लगी हैं। इससे कविता का बाहरी-भीतरी स्वरूप बदलने लगा है।

प्रश्न : विद्रोही प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए क्या भाषा और अन्य शिल्प-साधनो में परिवर्तन जरूरी नहीं ?

उत्तर : जरूरी है। विद्रोह की प्रवृत्ति अंततः भाषा के मोर्चे पर ले ही जाती है। प्रचलित और चालू ढंग के प्रतीकों और बिंबों में तेजी से उभरते नये यथार्थ को कैसे बांधा जा सकता है ? आज के लेखक को नये बोध की अभिव्यक्ति के लिए भाषा और अन्य कला-साधनों का प्रभावशाली उपयोग करना होगा जिससे नये सौंदर्य-बोध के अनुरूप नये प्रतीकों, बिंबों का प्रकाश रचनाओं में फूट पड़े। इसके लिए चित्रकला, मूर्तिकला, सगीत कला और लोक साहित्य में से नये प्रतीकों और बिंबों को कविता में खींचकर लाना होगा। समाज में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उन्हे देखते हुए कला साधनो में बुनियादी रद्दोबदल करना आज कवि-कर्म का हिस्सा ही है।

प्रश्न : क्या आप समीक्षा को दूसरे दर्जे का कार्य मानते हैं, क्योंकि कहीं आपने कहा है "रचना है इसलिए आलोचना भी है।" स्वयं समीक्षक भी ऐसा

सोचते पाए गए हैं।

उत्तर : आलोचना दूसरे दर्जे का कार्य बिल्कुल नहीं है। रचना आलोचना पर निर्भर है, इससे यह परजीवी विधा हो गई, ऐसा मैं नहीं मानता हूं। "रचना है इसलिए आलोचना भी है", यह कहकर मैं उसकी कृति निर्भरता की तरफ संकेत कर रहा हूं क्योंकि आलोचना बाजीगरी नहीं है, हवा में लट्ठ भांजना नहीं है। आलोचना रचना की झलक देती है लेकिन दूर तक उसे झलकाती भी है। आलोचना का काम दोहरी मेहनत और समझ मांगता है। एक तो उसे कृति के भीतरी संसार की पहचान पानी होती है, दूसरी ओर उसे उस वास्तविक दुनिया को भी जांचते-परखते रहना होता है कृति जिसका प्रतिफलन होती है यानी कृति से वास्तविक दुनिया तक और वास्तविक दुनिया से कृति में अंतर्प्रवेश की यह दोहरी यात्रा उसके दायित्व को बहुत बढ़ा देती है। कृतिकार अपने अनुभव की दुहाई देकर संतुष्ट हो सकता है पर आलोचक को उस अनुभव की क्वालिटी को जानना-परखना भी होता है।

प्रश्न : कई आलोचकों ने आपकी आलोचना को लेकर यह प्रश्न उठाया है कि उस पर कवि-चित्त का प्रभाव है। इसे आप कहा तक स्वीकार करते हैं?

उत्तर : आलोचक मेरी आलोचना पर अगर मेरे कवि-चित्त का प्रभाव देखते हैं तो होगा ही। जब मैं अन्य ज्ञानक्षेत्रों से अप्रभावित न रह सका तो अपने कवि-चित्त के प्रभाव से कैसे बचता? कृति के पास बिना किसी पूर्वाग्रह के पूरी विनम्रता से पहुंचना मेरे कवि-स्वभाव का हिस्सा है। आवेगपूर्ण संसक्ति और तटस्थता मेरे लिए एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आलोचना की अराजकता के इस दौर में सबसे पहले आलोचना को रचना के एक भरोसेमंद साथी के तौर पर सामने आना चाहिए। मुझे लगता है कवि-चित्त इसमें मदद करता है।

प्रश्न : आपकी सोच में कुछ तत्त्व प्रमुख हैं जैसे आधुनिकता, परंपरा, इतिहास, विज्ञान-बोध तथा समाज-शास्त्र के सरोकार। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आप साहित्य के लिए ऐसी दृष्टि के हामी हैं जो अंतःअनुशासनीय हो। यह कहां तक सच है?

उत्तर : आधुनिकता, परंपरा, इतिहास, विज्ञान-बोध और समाजशास्त्रीय सरोकारों ने मेरी सोच को दूर तक प्रभावित किया है, यह सच है। मेरे लिए ये अवधारणाएं ऐसी जिंदा प्रक्रियाएं रही हैं जो एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं हैं—एक-दूसरे से जुड़ी-बिंधी हैं। आधुनिकता की विद्यमानता का अर्थ परंपरा की गैर-मौजूदगी नहीं है। मैं मानता हूं कि लेखकीय मन और दृष्टिकोण को तैयार करने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इस अर्थ में इसे आप साहित्य की अंत:-अनुशासनीय दृष्टि मान लें तो मुझे कोई आपत्ति न होगी। हां, इस संबंध में मत-भेद हो सकता है कि ये सभी प्रक्रियाएं मिलकर साहित्य की पहचान को किस विधि

से कितना उभार सकती हैं। एक अच्छे आलोचक के हाथ में यह एक कारगर आलोचना पद्धति हो सकती है। लेकिन इसके एक तरह के गोरखधंधे में और सतही सरलीकृत विश्लेषण में तब्दील होने का खतरा भी कम नहीं है।

प्रश्न : आपने कविता और कहानी पर जमकर लिखा है लेकिन नाटक पर अपेक्षाकृत कम जबकि इधर आप नाटक की रचना में गहरे जुड़े हुए हैं। यह प्रश्न मैं इसलिए उठा रहा हूं कि नाट्यालोचना हिंदी में अपेक्षाकृत कम ही है और आपने जो थोड़ा-बहुत नाटकों पर लिखा है उससे यह आशा बंधती है कि भविष्य में आप नाट्यालोचना की ओर अग्रसर हो सकते हैं। क्या यह अनुमान ठीक है?

उत्तर : काव्यालोचना और कथालोचना से कहीं अधिक तैयारी की मांग करती है नाट्यालोचना। यह ठीक है कि विगत एक दशक में मैंने एक के बाद एक चार नाटक ('कहै कबीर सुनो भाई साधो', 'सींगधारी', 'कलन्दर', 'नो मैंस-लैण्ड') लिखे है। प्रसिद्ध नाट्य मंडलियों द्वारा उनके मंचन भी हुए हैं। इससे नाटक और रंगमंच के रिश्ते को मैंने बहुत करीब से जाना-समझा है तथा शब्द और दृश्य के रिश्ते को आत्मसात किया है। जाने-अनजाने नाट्यालोचना के लिए खुद को तैयार भी करता रहा हूं। पता नहीं भविष्य में नाट्यालोचना पर कोई व्यवस्थित कार्य कर पाऊं या नही, यह जरूर है कि नाटक और रंगमंच के कुछ पक्ष और समस्याएं ऐसी हैं जिनसे मैं इन दिनों जूझ रहा हूं और भीतर ही भीतर अनुचिंतन चल रहा है। यह नाट्य अनुचिंतन डायरी मे नोट्स का रूप लेगा या निबंधों का, कहना कठिन है।

प्रश्न : आपने शास्त्रीय आलोचना से विदाई की बात की है। इससे आपका क्या अभिप्राय है? क्या आप शास्त्रविरोधी हैं?

उत्तर : आधुनिक सृजन के संदर्भ में ही मैंने शास्त्रीय आलोचना से विदाई की बात कही है। शास्त्रीय आलोचना—जो शास्त्र को नये सिरे से विश्लेषित-मूल्यांकित करने के बजाय शास्त्र की पैरवी करे, जो शास्त्र के जगमगाते सिद्धांतो को रूढ़ियों में बदल दे, ऐसी आलोचना आप ही बताइए, हमारे किस काम की है? इसे शास्त्र के विरोध के रूप में न लीजिए, शास्त्र की पुनर्व्याख्या और पुनर्परीक्षा का मेरा अनुरोध मानिए।

शास्त्रीय आलोचना से विदाई का अर्थ शास्त्र से विदाई नहीं है, शास्त्र को नये संदर्भों में समझने-समझाने की पेशकश है। सवाल शास्त्र के अनुगमन का नहीं, जिस पर शास्त्रीय आलोचना खड़ी है, सवाल आधुनिक रचना के संदर्भ मे उसे जांचने-परखने का है, उसमें कुछ जोड़ने और घटाने का है।

प्रश्न : क्या शास्त्रीय आलोचना में चाहे वह भारतीय हो या पाश्चात्य, प्रगतिशील तत्त्व नहीं है जो आज भी प्रासंगिक है जैसे ध्वनि सिद्धांत, औचित्य सिद्धांत, ट्रेजडी का सिद्धांत?

उत्तर : भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों में निश्चय ही कुछ ऐसे सिद्धांत और मुद्दे हैं जैसे ध्वनि-सिद्धांत, औचित्य-सिद्धांत, ट्रेजडी का सिद्धांत जो महत्त्वपूर्ण हैं और सदियों के काव्य-चिंतन के बाद अर्जित किए गए होंगे। भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द, अर्थ और भाषा पर जो कार्य हुआ है, क्या उसे यों ही खारिज किया जा सकता है? लेकिन क्या उन्हें वैसे ही, बिना विश्लेषण और पड़ताल के स्वीकार कर लिया जाए? यांत्रिक ढंग से उन्हें आधुनिक रचना पर लागू करने से भी कुछ हासिल न होगा। हासिल तब होगा जब हम सदियों पुराने इन सिद्धांतों को आज की रचनाओं में दाखिल होने दें और इस तरह रचनाओं के संदर्भ में उन सिद्धांतों को परीक्षित होने दें ताकि नई परिस्थितियों में उन सिद्धांतो को विश्वसनीय ढंग से पुनर्गठित किया जा सके।

प्रश्न : असल में शास्त्रीय शब्द रूढ़-सा हो गया है जबकि शास्त्र एक व्यापक संदर्भ भी देता है जब वह ज्ञानानुशासन का पर्याय बने। क्या आप सहमत होंगे कि आज के ज्ञानानुशासन भी शास्त्र हैं?

उत्तर : आपका कहना सही है कि 'शास्त्रीय' शब्द जहाँ रूढ़ हो गया है वहां शास्त्र शब्द एक व्यापक अर्थ देता है। जिसमें अन्य विधाओं का भी समावेश है। आचार्य राजशेखर ने बहुत पहले साहित्य विद्या को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और अर्थशास्त्र (दंडनीति) नामक चार विद्याओं का निष्पंद (सार) मानते हुए भी उसे पांचवीं विद्या का स्वतंत्र स्थान दिया था। आज के ज्ञानानुशासन और वे सभी विधाएं, जिनका विकास पश्चिमी पद्धति से हुआ है सारतः शास्त्र के अंतर्गत ही आएंगी।

प्रश्न : राहुल जी ने कहा है कि शास्त्रों में भी विवाद और संवाद होता है जिससे वह अपना विकास करता है। इस संबंध में आप क्या कहना चाहेंगे?

उत्तर : राहुल जी का कहना सही है कि शास्त्र में भी विवाद और संवाद होता है जिससे वह अपना विकास करता है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों में ही नहीं, आधुनिक सौंदर्य-शास्त्र और कला-शास्त्र से भी विवाद और संवाद की प्रक्रियाएं क्रियाशील रही हैं। वे शास्त्र अपना विकास करते रहे हैं, विश्लेषण और आस्वादन के नये-नये बिंदुओं की तलाश करते रहे हैं लेकिन तभी तक जब तक उनमें संवाद और विवाद का दम-खम रहा। जब यह दम-खम न रहा और अंधानुकरण होने लगा तो शास्त्र का व्यवस्थित और स्थिर रूप तो बना रहा, उसकी सक्रियता, गत्यात्मकता और भीतरी शक्ति समाप्त हो गई।

हर दौर में शास्त्र की सामान्य और विशिष्ट अवधारणाओं को टटोलने और पड़तालने की जरूरत होती है। शास्त्र को अपने समय और साहित्य से संबद्ध करके देखने और जांचने की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा महसूस की

जा रही है।

प्रश्न : विचारधारा और शास्त्र में क्या कोई अंतर है? यदि है तो क्या?

उत्तर : शास्त्र और विचारधारा मे गहरा संबंध है। शास्त्र में कई सिद्धांतो और विचारोंका व्यवस्थित रूप रहता है जबकि विचारधारा में किसी एक विचार या किसी एक सिद्धांत के सभी पहलुओं का संग्रथन होता है। शास्त्र के सिद्धांतो और विचारों को व्याख्याओं के जरिये आगे बढ़ाया जाता है। एक लंबे समय की, कई बार सदियों की चिंतनधारा का निचोड़ उसमें रहता है। शास्त्र अक्सर किसी जाति की बौद्धिक क्षमता और सांस्कृतिक मनस् का प्रतिबिंब हुआ करता है जबकि विचारधारा में एक समय खंड की चेतना के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। शास्त्र के मुकाबले विचारधारा की उम्र कम होती है जबकि समय सापेक्षता की दृष्टि से उसमें लेखकों, कलाकारों के लिए अधिक आकर्षण रहता है।

प्रश्न : कविता के लिए सिद्धांतबद्धता और प्रतिबद्धता का क्या अर्थ है?

उत्तर : मेरे विचार में कविता शत-प्रतिशत सिद्धांत से प्रतिबद्ध कभी नहीं हुई। कविता प्रतिबद्ध होती है विचार-प्रक्रियाओं से और जन से जो सभी सिद्धांतों का उत्स है, जहां से सभी विचारधाराएं निकलती हैं।

सिद्धांत और विचारधारा हमारी सृजनात्मक मानसिकता को बनाने-संवारने में निश्चय ही मदद करते हैं लेकिन जब विचार एक सक्रिय इकाई के रूप मे कविता में फैलना शुरू होता है तो वह सुसंबद्ध विचारधारा का उत्स नहीं होता, हो ही नहीं सकता। किसी सिद्धांत या विचारधारा से चाहे वह कितनी भी मूल्य-वान क्यों न हो, कविता नहीं बनती। कविता तभी बनती है जब सिद्धांतो, विचारधाराओं और दर्शनों में बंधे विचारों को 'डी-कोड' करके उन्हें समय और परिस्थिति में फैला दिया जाए और कवि को उनके साथ खुला छोड़ दिया जाए।

प्रश्न : यथार्थ के दो पक्ष हैं जो सापेक्ष हैं—बाह्य और आंतरिक। आपके सृजन-कर्म में ये दोनों पक्ष संवाद की स्थिति में हैं या द्वंद्व की दशा में? विविध विधाओं में इसकी सापेक्ष स्थिति की क्या स्थिति है क्योंकि अक्सर ऐसा होता है कि विधा की संरचना के दबाव में एक पक्ष अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

उत्तर : मेरे सृजन-कर्म में यथार्थ के बाह्य और आंतरिक पक्ष अधिकतर द्वंद्व की स्थिति में ही हैं। कविताएं हों या नाटक, उनमें संवाद की अपेक्षा द्वंद्व की संरचना मिलेगी। नाटक संवादों की कला जरूर है लेकिन इस कला में संवाद पात्रों की द्वंद्वात्मकता और संघर्षशीलता के वाहक होते हैं। उनमें

तीखे विवादों और बौद्धिक मुठभेड़ों की तासीर होती है। कविताओं में संवादों का वैसा रोल नहीं होता। कई बार कविताएं संवादों से लंबे आकार में खींच दी जाती हैं लेकिन जो 'डिस्कोर्स' या पक्ष-पैरवी से आगे नहीं बढ़ पातीं। लंबी कविताओं की संरचना द्वंद्वात्मकता के बिना संभव ही नहीं है। छोटी कविताओं में भी द्वंद्व के कई रूप मिलेंगे लेकिन द्वंद्व के बिना भी मर्मस्पर्शी छोटी कविताएं लिखी गई हैं। आलोचना की बात और है। वहां मेरी प्रवृत्ति कृति में व्याप्त द्वंद्व के सभी संभव रूपों को समझने, विश्लेषित और मूल्यांकित करने की रही है।

प्रश्न : अपने नाट्य-लेखन की प्रेरणा और प्रयोजन के बारे में कुछ बताएंगे?

उत्तर : एक लंबे दौर तक नाटक पढ़ता और देखता रहा था, पर नाटक लिखना मैंने काफी बाद में शुरू किया। मुझे याद नहीं कि नाटक लिखने की वास्तविक प्रेरणा मुझे कब और कहां से मिली? हां, यह जरूर है कि मन में बहुत कुछ ऐसा कुलबुलाता रहता था जिसे मैं अभिव्यक्त करना चाहता था पर जो अभिव्यक्त नहीं हो पाता था। हो सकता है जो कुछ मैं कविता में अभिव्यक्त करना चाहता था उसे कविता अपने रूप-बंध मे समा पाने में असमर्थ रही हो। यह भी संभव है कि मेरे भीतर की अकुलाहट सुगबुगाहट किसी नये कला रूप से अभिव्यक्ति पाने के लिए तड़पती रही हो और वही नाट्य लेखन के रूप में सामने आ गई हो। यह भी संभव है कि मेरी कविताओं में, खास तौर पर लंबी कविताओं मे नाटक के बीज निहित रहे हों जो समय पाकर नाटकों में विकसित हो गए हों। जो भी हो, यह तो है ही कि बाहरी परिस्थितियों और अंतरंग सर्जनात्मक विवशताओं ने मुझे नाट्य लेखन में प्रवृत्त किया और मैंने लगातार चार नाटक लिखे—'कहे कबीर सुनो भाई साधो', 'सींगधारी', 'कलन्दर' और 'नो मैंस लैण्ड'। इन चारों नाटकों में आज के मनुष्य और समाज को समझने, उनकी विसंगतियों और तनावों को उभारने का प्रयत्न किया गया है—कहीं इतिहास के आधार को ग्रहण करते हुए तो कहीं मिथक और समकालीन स्थिति को केंद्र में रखते हुए।

प्रश्न : आज के नाटकों में दृश्य अधिक होते हैं। उनमें अंकों का नियोजन नहीं रहता। इसकी वजह क्या है?

उत्तर : भारतीय नाट्य-शास्त्र में अंकों की महिमा है और पाश्चात्य नाट्य-चिंतन में दृश्यों की। मैंने अंक नियोजन की अपेक्षा दृश्य-विधान को अपनी मानसिकता के अधिक अनुकूल पाया है। दृश्य-विधान की पद्धति द्वारा एक-एक दृश्य में भाव या विचार या स्थिति का उत्कर्ष रचा जाता है जिसमें नाटकीयता की अधिक   है। दृश्यों मे   अनुक्रम के निर्वाह की बात उतनी

नहीं रहती जितनी भावात्मक, वैचारिक द्वंद्व या संघर्ष दिखाने की। एक के बाद एक दृश्यों के जरिये मुझे यथार्थ के सैकड़ों रूपों को पकड़ने में सहायता मिली है। केंद्र में दृश्य रहने से विचारों और स्थितियों को पात्रों के कार्यकलापों में देखने और दिखाने से इस पद्धति से मदद मिली है।

प्रश्न : आपके नाटक मंचित और प्रकाशित हो चुके हैं। इस संबंध में अपने अनुभव बताइए।

उत्तर : नाट्य लेखन और मंचन एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई प्रक्रियाएं हैं। मेरे लिए यह सुखद संयोग रहा कि मेरे चारों नाटक प्रकाशित होने से पूर्व महत्त्वपूर्ण रंग मंडलियों और नाट्य संस्थाओं द्वारा खेले गए। पहला नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित एक रंगशिविर में पहली बार श्री देवेन्द्र राज अंकुर के निर्देशन में पटना में मंचित हुआ था। नाट्य मंडली के सदस्यों के साथ मिल-बैठकर नाटक पर काम करने का यह मेरा पहला अनुभव था। मैं सकुचा-सहमा रवीन्द्र रंगालय, पटना में इस नाटक का प्रथम प्रदर्शन देखते हुए आशंका से घिरा रहा था—पता नहीं प्रदर्शन कैसे हो? अभिनेताओं ने अच्छा काम किया था और पात्रों की भूमिकाओं को बखूबी निभाया था। कबीर की भूमिका को लिखते हुए मेरे जेहन में जिस तरह के अभिनेता की तस्वीर उभरी थी, अश्विनी शास्त्री उसके करीब ही था। नाटक को मैंने जिस रूप में परिलक्षित किया था, निर्देशक ने उस परिकल्पना को साकार किया था कल्पनाशीलता से और रंग कर्म की अपनी ही शैली से। 'सींगधारी' शुरू में नुक्कड़ नाटक के फार्म में था, बाद में मैंने इसे रंगमंचीय नाटक के रूप में ढाला। यह काफी चुनौतीपूर्ण काम था—भाषा, परिकल्पना और रंग मुहावरे के स्तरों पर। 'कलन्दर' नाटक संगीत नाटक अकादमी दिल्ली की योजना के अधीन 'संभव' कला मंच द्वारा अखिलेश खन्ना के निर्देशन में इलाहाबाद में पहली बार प्रदर्शित हुआ था और 'नो मैंस लैण्ड' नाटक श्रीराम सेंटर के तत्त्वावधान में एक योजना के अंतर्गत साक्षी कला मंच ने श्री कृष्णकांत के निर्देशन में खेला था। इन नाटकों की भूमिकाओं में मैंने विस्तार से अपने अनुभवों के बारे में लिखा है। अपने नाटकों के सभी प्रदर्शनों में मैं रंग मंडलियों का हिस्सा बना रहा हूं—प्रथम वाचन से लेकर अंतिम प्रदर्शन तक। इस बीच निर्देशकों और अभिनेताओं के साथ उनकी भूमिकाओं को लेकर भी बातचीत होती रही है। मंचन के दौरान निर्देशकीय परिकल्पना और नाटकीय संरचना को लेकर भी कई बार झड़पें और बहसें हुई हैं। मोहन राकेश की तरह मैं नाटकीय शब्द पर बल देता हूं और मानता हूं कि नाटक को अपना निश्चित मुहावरा शब्द से लेना होगा—शब्द जिसमें दृश्य समाहित हो।

प्रश्न : बंगला और मराठी की तरह हमारा ——— अपना रंग मुहावरा

तलाशने में सफल क्यों नहीं हो रहा ?

उत्तर : बंगला और मराठी में पुरानी और समृद्ध रंग परंपराएं हैं जबकि हिंदी नाटक की परंपरा उतनी पुरानी और समृद्ध नहीं है। हिंदी का नाटककार एक लंबे अरसे तक पाठ्य नाटक लिखता रहा और रंगमंच के साथ उसका सबंध टूटा रहा। हां, इधर जो नाटककार लिख रहे हैं वे रंगमंच के साथ गहराई से जुड़े हुए हैं और रंगमंच को समझते भी हैं। पिछले तीन दशकों में हिंदी के अनेक नाटक प्रदर्शित हुए है और विभिन्न रंग संस्थाओं द्वारा नई-नई प्रस्तुतिया हुई हैं और कई तरह के रंग प्रयास हो रहे हैं। इस सबके बावजूद अभी तक भारतीय रंगमंच की कोई परिकल्पना या समन्वित नाटक की कोई धारणा सामने नहीं आई है और न ही समकालीन नाटकों के आधार पर किसी नाट्य सिद्धात की रूपरेखा बन सकी है जबकि इस तरह की संभावना के लिए पूरी गुंजाइश है। इस बीच ऐसी सैकड़ों प्रस्तुतियां हुई हैं जिन्हें आधार रूप में स्वीकार करते हुए एक समन्वित नाट्य सिद्धांत की तरफ बढ़ा जा सकता है।

प्रश्न : आज जबकि मानवीय मूल्य पर बाजार मूल्य हावी हो गया है, अर्थ जीवन के केंद्र में आ गया है तब सृजन की प्रासंगिकता क्या है ?

उत्तर : उपभोक्तावादी संस्कृति और अर्थतंत्र की जो स्थितियां तेजी से पैदा हुई हैं उनकी वजह से सृजन के सामने नये संकट और नई समस्याए पैदा हो गई है। ऐसी स्थिति में सृजन के लिए अपने पैरों-तले की जमीन तलाश करना, नई स्थितियों मे टकराते हुए नये मूल्यो को अर्जित करना और शब्द के अवमूल्यन को रोककर नई भाषा तैयार करना और भी जरूरी हो गया है। नइ परिस्थितियो मे सृजन की सार्थकता और प्रासगिकता के बारे में बिल्कुल नई तरह से विचार करना जरूरी है।

प्रश्न : आपके लिए अपने सृजन की अहमियत क्या है ?

उत्तर : इसका एक उत्तर आयोनेस्को के शब्दों में यों होगा "मैं क्यों लिखता हू—यदि मैं सचमुच यह जानता होता तो मुझे लिखने की कोई प्रेरणा न होती। यह जानने के लिए तो मैं लिखता हूं कि मैं आखिर क्यो लिखता हूं।"

इसका दूसरा उत्तर जो ऐसा ही प्रश्न पूछे जाने पर मैंने एक गोष्ठी में दिया था, यों होगा कि लिखूंगा नही तो करूंगा क्या। सृजन मेरे लिए जिंदा रहने का एक तरीका, एक औजार है। जब यह तरीका छद्म में बदलता दिखेगा या इसके जरिये मैं सच कहने में असमर्थ हो जाऊंगा तो मनुष्य और लेखक के तौर पर कमतर जिंदा रह पाऊंगा। रस्मी तौर पर जिंदा रहते हुए भी तब जिंदा रहने का मकसद न दिखेगा। तब अटूट चुप्पी घेर लेगी। ऐसे मे भी कविवर साही के शब्दों में मेरी इच्छा रहेगी "बिना मरे चुप रह सकूं", यानी चुप्पी की ताकत संजोकर कल्पना की ताकत क इस्तेमाल की इंतजार करू

नरेन्द्र मोहन : रचना बोलेगी मैं नहीं

—डॉ० रमेश सोनी

मीठे और ठंडे पानी के झरने पहाड़ के पास होते हैं, यह सच जब हम पानी को देखते हैं तब याद करते है किंतु उस समय हमें केवल पानी दिखता है पहाड़ नहीं जबकि पहाड़ जनक होता है, पहाड़ को याद भी कर लिया तो यह नहीं सोचते कि पहाड़ जितना पथरीला, सख्त चट्टानों वाला होता है, उसके अंतर में छुपा पानी उतना ही ठंडा और मीठा होता है, साफ होता है इसके आगे भी एक बात और है जिसकी ओर मुश्किल से किसी का ध्यान जाता है और सोचता हूं कि पहाड़ के अंतर में पानी के भंडार होने का मतलब है पहाड़ खूब तपा होगा, पका होगा, चूर-चूर बालू होता रहा होगा, सूरज की धूप ने तपाया होगा और मौसम ने झिझोड़ा होगा, तोड़ा होगा अर्थात् उसने कितनी कठिन यातनाएं सही होंगी, संघर्ष किया होगा।

'रचनाकार' कोई हो, ठीक पहाड़ के मानिंद होता है और उसकी 'रचना' पहाड़ी ठंडे और मीठे पानी के झरने जैसी।

डॉ० नरेन्द्र मोहन से मेरी पहली मुलाकात अहमदाबाद में हुई थी, 'शब्दलोक' द्वारा आयोजित भारतीय लेखक संगठन के सम्मेलन में। मैं एकदम अजनबी था, लेखकों की उस भीड़ में सारे लोगों के साथ सारे लोगों के बीच होकर ही अकेला, अकेला इसलिए कि मेरे लिए सारे लोग नये थे जिनसे कहीं कोई पूर्व परिचय नही था, लेखक सम्मेलन के आयोजन की व्यस्तता और अनेक लेखको के बीच मुझ जैसे नये व्यक्ति के साथ किसी वरिष्ठ लेखक की औपचारिक बातचीत और व्यवहार से अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती है और अपेक्षा इसलिए भी नही की जा सकती है कि लेखकीय अहं लेखक को सहज होने नहीं देता जब तक कि सहजता सोच में नहीं स्वभाव मे न हो, व्यक्ति की प्रकृति न हो, फिर एक वरिष्ठ लेखक अपने से बड़े के साथ ही संबंधो को गहरे बनाना चाहेगा, कोई भला छोटे और नहीं के बराबर नौसिखिये लड़के से क्योंकर रिश्ता जोड़ना चाहेगा इस तथ्य

से परिचित मैं मन ही मन संकोच करता, अपने को बड़ों से बचाता, बचता रहा था। मैंने यह भी अनुभव किया था कि बढ़े लेखकों में से कुछ बड़े जितने बड़े थे उससे कहीं अधिक बड़े दिखने-दिखाने की कोशिश में थे, महान् जैसा व्यवहार कर रहे थे—गंभीर बने हुए, होने को बहुत से लेखक थे वहां, किंतु उस भीड़ में डा० बलदेव वंशी और डा० नरेन्द्र मोहन सहज और सरल लगने के साथ खुले मन-मस्तिष्क और व्यवहारप्रिय अनुभव हुए। बलदेव वंशी के मुकाबले नरेन्द्र मोहन तब मुझे अधिक गंभीर लगे थे और यदि उनके निकट आने, जानने-समझने और स्नेह पाने का अवसर नहीं मिलता तो संभव था कि वे हमेशा मुझे गंभीर ही लगते रहते। सोचता हूं कि इनसे उनका तो क्या बनना-बिगड़ना था किंतु मेरे लिए बहुत बड़ी क्षति की बात होती।

अब जबकि न केवल नरेन्द्र मोहन के व्यक्ति से ही परिचित हो चुका हूं वरन् इनकी तमाम रचनाओं और विशेषकर कविताओं से परिचित हो चुका हूं, पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूं कि 'पहाड़' और 'पहाड़ी मीठे झरने' वाली बात इनके 'व्यक्ति' और 'रचनाकार' पर पूरी तरह से लागू होती है।

30 जुलाई, 1935 को लाहौर में जन्मे। जनवरी, 67 में पंजाब से दिल्ली आए। कितना कठिन होता है किसी अजनबी शहर में अजनबी बनकर आना वह भी दिल्ली जैसे महानगर में जहां पड़ोसी पड़ोसी के लिए अजनबी हो, संस्कारो का परिवेशजन्य विचारों से टकराव या उसके बाद का संतुलन यहीं से शुरू होता है। नरेन्द्र मोहन के शब्द हैं :

"शुरू-शुरू में दिल्ली अपरिचित, बेगानी और बेरहम सी लगी थी लेकिन आहिस्ता-आहिस्ता वह मेरे एहसास और वजूद का हिस्सा बनती गयी। मेरा वजूद जो रावी, सतलुज और व्यास से बना था यमुना से टकराने लगा और तालमेल बैठाने लगा।"

"मैं पजाब में जन्मा-पला हूं मेरी जड़ें उसी मिट्टी में हैं, उसने मुझे अलग पहचान दी है, अपनी रचनाओं में मैं बार-बार लौटा हूं वहां—कभी लाहौर, कभी अमृतसर कभी'''। मेरी सृजनात्मक चेतना में लाहौर महज एक शहर नहीं है, सस्कृति और इतिहास परंपरा गुंथे हुए हैं। मेरी स्मृतियों में यह वह शहर है जो मेरी संस्कृतियों में जिदा हूं पेड़ की तरह, शहर की कल्पना पेड़ के रूप में करना पता नहीं मुझे क्यों अच्छा लगता है?"

नरेन्द्र मोहन की खूबी यह है कि वे अपने व्यक्ति को जीते हुए रचना कर लेते हैं और रचना करते हुए भी व्यक्ति को सहज रूप मे जी लेते हैं, और शायद यही वजह है कि उनका 'व्यक्ति' और 'चितक' रचनाकार दोनों ही इतने अभिन्न है कि अलगाया नहीं जा सकता। वे एकाकार हो चुके हैं। और यही वजह है कि इनके साथ 'समय को जीते हुए' अच्छा लगता है अभिव्यक्त नहीं केवल अनुभव

किया जा सकने वाला आनंद मिलता है, आनंद मिलता ही इसलिए है कि व्यवहार के क्षणों में यद्यपि 'व्यवहार उनका व्यक्ति' कर रहा होता है किंतु असल में उसके पीछे होता है उनका चिंतक, उनका रचनाकार—सरल, संवेदनशील और उदार-मना, समय के प्रति सजग और सोचने वाला।

रचनाकार कोई हो उसकी रचना में 'व्यक्ति का स्वभाव, संघर्ष और रचनाकार का सोच' अभिव्यक्त होता है। नरेन्द्र मोहन की रचनाओं में भी यही चीज मौजूद है, निजी जिंदगी की स्मृतियां, संघर्ष और संघर्ष को दिए गए शब्द कहीं न कहीं विभाजन के ऐतिहासिक संदर्भ और त्रासदी से जुड़े हुए हैं—और यह संदर्भ और त्रासदी बदली हुई परिस्थितियों में आज भी उनकी रचनात्मक मानसिकता का हिस्सा है।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' जैसी यादगार लंबी कविता की रचना मोहन इसलिए कर सके कि उन्होंने अपनी आंखों से देश-विभाजन का हृदयविदारक दृश्य, खून-खराबा देखा ही नहीं था वरन् उसके शिकार हुए थे।

नरेन्द्र मोहन की एक दूसरी बड़ी खूबी यह है कि अपनी प्रकृति में वे जितने स्पष्ट हैं उतना ही उनका सृजक और चिंतक रचना की प्रवृत्ति में एकदम स्पष्ट है। रचना, समयानुभव के साथ-साथ जिंदगी का रूपांतरण होती है, और रूपान्तरण को पक्का और पुख्ता बनाते हैं 'संबंध और सोच'। डा० नरेन्द्र मोहन के जीवनानुभव का जहां तक प्रश्न है—इन्होंने विभाजन के इतिहास को जिया है, खून-खराबे को देखा है, यातनाएं भोगी हैं, संघर्ष किया है, विचारों का जहां तक प्रश्न है—इनकी दृष्टि साफ और विचार एकदम स्पष्ट हैं। वे स्वयं कहते हैं—"मैं साहित्य में द्वंद्व और तनाव के आत्मपरक रूपों की अभिव्यक्ति की अपेक्षा उनसे जुड़ी सामाजिक अवस्थाओं और सरकारों को तरजीह देता हूं। दरअसल, मैं द्वंद्व और तनाव को तर्क और विचार से जोड़कर उन्हें सामाजिक परिस्थिति और प्रक्रिया में ढालता और तपाता हूं और रचना में उनके संतुलित प्रतिफलन के पक्ष में हूं। तर्क और विचार का आधार अनुभव को ज्ञानात्मक बनाता है और व्यर्थ के भावुक व्यापारों से रचना को बचाता है। इससे द्वंद्व और तनावजन्य अनुभव की विश्वसनीयता बढ़ती है।

आज को, बिना अतीत के पूरे अर्थ और विस्तार में जिस तरह से नहीं देखा समझा जा सकता ठीक इसी तरह बिना इतिहास के, अपने समय की सच्ची रचना नहीं की जा सकती। नरेन्द्र मोहन कहते हैं कि "इतिहास की चुनौतियों को सृजन स्तर पर समाकलित करने, ऐतिहासिक संकटों के बरबस सृजन को उठाने, समकालीन स्थितियों को इतिहास में फैलाने और सृजन में घुलाने, सत्ता के मुकाबले में साहित्य की ताकत के प्रति भरोसा पैदा करने की क्षमता किसी भी लेखक के लिए आज जरूरी है मूल्यवान लेखन इतिहास के बाहर संभव नहीं है फिर यह

स्मृतियों में हो या फंतासियों में।"

छल और छद्म के लिए राजनीति बदनाम रही है, किंतु और ये चीजें राजनीति के लिए जरूरी भी हैं किंतु अफसोस की बात तो यह है कि ये चीजें रचना की दुनिया में शरीक हो चुकी हैं और इतने गहरे तक इनकी जड़ें हैं कि इनसे बच पाना संभव नहीं रह गया है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन इसे अभिव्यक्ति के अपनी तरह के दूसरे संकट के रूप मे लेते हैं और इससे छुटकारा पाने का रास्ता बनाते हुए कहते हैं कि "अभिव्यक्ति के इस संकट का सामना अभिव्यक्ति के खतरे उठाते हुए यानी लोकधारा से जुड़े नये विचारों के प्रवर्त्तन के साथ-साथ नई भाषा और नये प्रतीकों-बिंबों की खोज करते हुए उस रिश्ते को मजबूत करने में ही है।

यह सचमुच प्रसन्नता की बात है कि डॉ० नरेन्द्र मोहन अपने इन तमाम विचारों को अमली रूप देने में ईमानदारी के साथ जुटे हुए है, निजी, पारिवारिक और सामाजिक जीवन को जीते हुए, दायित्वों का निर्वाह करते हुए।

नरेन्द्र मोहन का किसी राजनीतिक दल से कोई सीधा संबंध नहीं रहा। किन्तु मार्क्स और लोहिया को इन्होंने पढ़ा और पूरी तरह से प्रभावित भी हैं। वे मानते हैं कि विचारधारा के सवाल पर तो केवल मार्क्सवाद ही किसी लेखक के समीप पड़ सकता है इस सच के बावजूद एक रूप यह भी है कि "सत्ता की राजनीति के विपक्ष में रहते हुए विरोधी दलों की राजनीति से मेरी सहमति कभी नहीं रही।" आज की घिनौनी राजनीति में उनका रवैया मानवीय पक्ष में विद्रोही चेतना की अभिव्यक्ति और उसके प्रसार का है।

निजी जीवन में वे जिस तरह से मुक्त है, ठीक इसी तरह से इनकी कविताएं भी वादों के वाद-विवाद से एकदम मुक्त हैं न मार्क्सवादी, न लेनिनवादी, न प्रगतिवादी, न जनवादी और यही वजह है कि इनकी कविताओं में आज का समय और समय का सत्र तो है किंतु समकालीन हिंदी कविता की दुनिया में व्याप्त शोर-शराबा, नारेबाजी नहीं है, कविता का मुहावरा भी अपना गढ़ा हुआ जिसमे इनका अपना निजपन खुद बोलता है, जिसमें अतीत है, स्मृतियां हैं, संघर्ष है, कवि अपने आप से बातचीत करता लगता है किंतु असल में वह बातचीत आज के समय से, समाज से कर रहा होता है। निजी जीवन मे भी मैंने बहुत निकटता से पाया है कि बहुत सरलता के साथ, एकदम सहज बने रहकर वे बातचीत करते हुए बातचीत नहीं विचार करते हैं, विचार रखते है, रचना की रचना करते चले जाते हैं लिपिबद्ध करना शेष रह जाता है प्यार करने और प्रसन्नता व्यक्त करने का मुस्कराहटपूर्ण तरीका तो एक हो सकता है किंतु प्यार और प्रसन्नता का पूरा एहसास कराते हुए, नाराजी व्यक्त करना यदि सीखना हो तो डॉ० नरेन्द्र मोहन से सीखा जा सकता है मुस्कराते हुए नाराज होना और नाराजी प्रकट करते हुए

प्यार करना यह अपने आप में बहुत बड़ी कला है और मनुष्य की सफलता का राज है। डॉ० नरेन्द्र मोहन इस मायने में बहुत सफल व्यक्ति हैं और इस कला में सिद्धहस्त। यही बात कविताओं पर भी खरी उतरती है। बातचीत का सादा, रोजमर्राई लहजा, सहज-स्वाभाविक हाव-भाव, स्नेह, करुणा, संवेदना, सहानुभूति प्रसन्नता, नाराजी और चिंता कविता की यही सादगी और सच्चाई उनकी कविता की सबसे बड़ी ताकत है।

कविता के 'एस्थेटिक्स' को बदलने का एहसास, अन्य समकालीन हिंदी कवियों की तरह इनको भी है किंतु इनका विचार है कि "प्रतीकों और मिथकों के जंगल खड़े कर देने से तो काम बनेगा नहीं, प्रतीक और मिथक इस प्रकार के हों जिनकी जड़ें जन जीवन में गहरे तक गई हुई हों, तभी वे कारगर हो सकते हैं, यदि कला को जनाधार से जोड़ें जनता के बीच प्रचलित लोक कथाओं को, उनमें जुड़े, प्रतीकों, बिंबों को लें, कला-तत्त्व को जन-जीवन से ग्रहण करें तो सौंदर्य-चेतना के पुराने सांचे को तोड़ा जा सकता है।

नरेन्द्र मोहन का रचना संसार बहु-आयामी है, कविता, नाटक, आलोचना, आदि अनेक विधाओं में लिखा और केवल लिखा ही नहीं, उन पर सैद्धांतिक सोच-विचार किया, आलोचना पुस्तकें लिखी हैं, कविताएं पढ़ते हुए लगता है कि वे मूलतः कवि हैं, नाटक पढ़ते हुए लगता है वे मूलतः नाटककार हैं और आलोचना पुस्तकें पढ़ते हुए लगता है वे मूलतः आलोचक हैं। यह तभी संभव हो सकता है जबकि रचनाकार अपनी रचना के साथ पूरा न्याय करे और ईमानदारी बरते, जो कुछ लिखे डूबकर और पूरे अधिकार के साथ लिखे।

'विचार कविता' हो कि 'लंबी कविता'—ज़िक्र आते ही नामुमकिन है कि नरेन्द्र मोहन याद न आए। सचमुच, 'विचार कविता' और 'लंबी कविता'—को हिंदी लेखन की दुनिया में इस तरह से परिचित कराने से लेकर प्रतिष्ठित करने तक की मुहिम का यह काम कोई छोटा काम नहीं है!

हिंदी साहित्य के इतिहास में अपनी 'जगह' और 'अनिवार्य जरूरत' बनाने वाले डॉ० नरेन्द्र मोहन, पहली-पहली मुलाकात में, मुश्किल ही लगता है कि खुलें, खुलें तो अपने बारे में बोलें, बताएं, उल्टे अपने बारे में सब कुछ जान लेंगे। आप छोटे हुए तो "खूब प्यार देंगे, बड़े हुए तो खूब सम्मान—पर मजाल अपने राज जाहिर होने दें, 'चुप रहना'—और 'अपने बारे में नहीं बोलना' बहुत बड़े संयम की बात है, नरेन्द्र मोहन इस मायने में खूब सिद्धहस्त और संयमी हैं। रचना के बारे मे भी वे कम बोलते हैं। कहते हैं, 'रचना बोलेगी, मैं नहीं।'

मेरे विचार में ये सारी चीजें और विशेषकर एक वरिष्ठ सच्चे रचनाकार का एक अच्छा मनुष्य बने रहना, प्रशंसा और प्राप्तियों से अप्रभावित रहना तभी सम्भव है जबकि वह रचनाकार के पहले सही मायनों में सच्चा और संपूर्ण

मनुष्य हो।

नरेन्द्र मोहन की हैसियत एक रचनाकार के बतौर इतनी ऊंची और अव्वल दर्जे की है कि उस पर टिप्पणी करने का मैं अपने को अधिकारी नही मानता, मेरे और उनके बीच जो रिश्ते हैं, वे एक बड़े भाई के जिस प्रकार छोटे भाई के साथ होते हैं, इनसे प्राप्त हुए 'प्यार' और 'प्रेम' के आधार पर ही समझ सका हूं कि बडे भाई का होना कितनी बड़ी पूजी है, कितनी बडी ताकत है।

चिंताएं और समस्याएं किसको नही होतीं, आज के समय में भला इससे कौन बचा है ? फिर किसी दार्शनिक का कहना है कि "जो बाहर जितना जोर से मुस्कराता है, अंदर से उतना ही टूटा हुआ होता है, टूटन इनके साथ नहीं है—बात यह भी नहीं है इस सच्चाई के बावजूद डॉ० नरेन्द्र मोहन से जब भी मिला हू, जितने समय भी साथ रहा हूं, कभी एहसास नही हुआ कि इनके साथ भी अपनी तरह की चिंताएं और समस्याएं हैं, वही मुस्कराता हुआ चेहरा, मृदु व्यवहार और बातचीत का मीठा लहजा, मोहक और मंत्रमुग्ध करने वाला व्यक्तित्व। न समझ का एहसास होता है, न कष्ट याद आते हैं, न समस्याएं। इसके साथ ही यह भी तय है कि आप जितने समय भी साथ रहें। थोड़े या ज्यादा बहुत कुछ पाएंगे, अब आप पर निर्भर करता है कि आप कितना बटोर सकते हैं इनके पास से।

यह कितनी बड़ी बात है कि नरेन्द्र मोहन जो मुस्कराहट और कहकहे बाटते है, उनकी चिंता अलग तरह की है—"मेरी चिंता दृश्य की नहीं/दृश्य के सामने गूगा हो जाने की है" उस दृश्य की जो इतिहास का अतीत है/उस दृश्य की जो इतिहास का वर्तमान/और उस दृश्य की जो इतिहास का भविष्य है।

नरेन्द्र मोहन की इच्छा नहीं, उनकी अटूट आस्था है कि दृश्य के समक्ष गूगे होते चलते जाने वाले 'समय'—और 'समाज' के बीच वे इस चुप्पी को निरंतर रचना के जरिये तोड़ते रहना चाहते हैं—"इससे पहले कि मैं चुप्पी मे घिरे-घिरे मरू मैं पहुंच रहा हूं मिट्टी की जड़ों तक/ढल रहा हूं प्रतीकों में मिथकों में/ढाल रहा हूं/सपनों को भाषा में।"

सपनों को भापा में 'सच की शक्ल' में तब्दील करने में जुटा कवि निरंतर जूझ रहा है, लिखते हुए।

कविता में लिखता है तो—'इस हादसे में', 'सामना होने पर', 'एक अग्नि० कांड जगहें बदलता', 'हथेली पर अंगारे की तरह', की कविताओं के माध्यम मे, वह सामने आता है।

नाटक में लिखता है तो 'कहे कबीर सुनो भाई साधो', 'सींगधारी', 'कलन्दर' और 'नो मैंस लैण्ड' के पात्रों में मौजूद मिलता है।

तात्पर्य यह कि "एक अग्निकांड में—वह यूसुफ के रूप में बेचैन है एक

अदद सपने के लिए पढ़ें तो—'समरजीत और सतवंत' उसके ही प्रतिरूप हैं ।

'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' की पड़ताल करें तो, वहां भी कवि मौजूद है। उस मुक़ाम पर जहां 'खरगोश फ्रेम तोड़कर ख़तरे का सामना करने के लिए बेचैन है। चित्र में भूकंप (दृश्य) कांपने लगी रेखाएं और रंग (दहशतज़दा, समय, मानसिकता), फ्रेम को तोड़कर बाहर आ गए खरगोश (कविता और कलाएं)'''झांकते हैं एक-दूसरे की आंखों में (प्रेम के बहाने सहमति) कचरे को जलाती एक लपट तीनों तरफ (मंसूबों के पूर्ण होने का क्षण)'''के प्रतीक हैं ।

कवि, आलोचक, समीक्षक, नाटककार—ये तो महज़ सर्वनाम हैं । महत्त्व तो संज्ञा का है, जिसके बदले में शब्द काम आते हैं। अपने ज़रिये रचना और रचना के ज़रिये अपने को दिन-ब-दिन रचने वाले कवि (संज्ञा) का नाम नरेन्द्र मोहन है । जो अतीत को समेटते हुए आज को रचता है । रचता ही नहीं—वह प्रतीकों मिथकों के ज़रिये पहुंच रहा है—मिट्टी की जड़ों तक ।

नरेन्द्र मोहन पर हमें फख्र है—इसलिए कि वह सिर्फ एक बड़ा लेखक ही नहीं, इससे कई गुणा बड़ा इंसान है। मनुष्य की हद तक मनुष्य है। पूरी तरह से 'मानवीय' है, 'मायावी' नहीं। वह 'मायावी' हो भी नहीं सकता—इस बात का हमें पूरा यक़ीन है ।
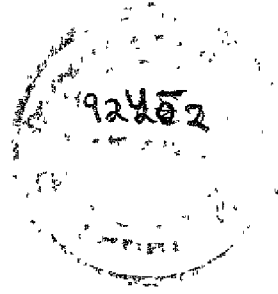
द्वितीय खंड

काव्य-रचना की अंतर्यात्रा

परिवेश की चिंता से जुड़ी कविताएं

—डॉ० रामदरश मिश्र

नरेन्द्र मोहन उन कवियों में हैं जिनकी कविता-यात्रा प्रतिभा के विस्फोट से नहीं शुरू होती और जो पाठकों और आलोचकों का ध्यान एकाएक नहीं खींचती बल्कि उन कवियों में हैं जो अपनी बात कहना चाहते हैं। उस बात में और बात कहने के ढंग में किसी चमत्कार की कौंध के स्थान पर साधारणता होती है। ये कवि अपनी यात्रा के क्रम में निरंतर सीखते चलते हैं, गिरते-पड़ते हुए यात्रा की शक्ति अर्जित करते चलते हैं और अपनी बात को आसपास की बात से जोड़कर अधिक समृद्ध, संश्लिष्ट और गहन तो करते ही चलते हैं, यह तमीज़ भी सीखते चलते हैं कि बात का कितना हिस्सा सामाजिक और काव्यात्मक दृष्टि से सार्थक और प्रेषणीय है और यह भी कि अपनी सार्थक बात को कैसे अधिक-से-अधिक प्रभावशाली ढंग से कहा जाए। यह प्रायः देखने में आया है कि प्रतिभा की एक तेज कौंध के साथ शुरू होने वाली यात्रा धीरे-धीरे निस्तेज और प्रभावशून्य होता चली जाती है और साधारणता से शुरू होने वाली सामाजिक चेतना वाली यात्रा धीरे-धीरे अधिकाधिक सघनता और भीतरी ताप ग्रहण करती चली जाती है क्योंकि यह यात्रा अपनी ताकत बाहर से ग्रहण करती है, अपनी स्वयंभू चमक पर अवलंबित नहीं होती।

नरेन्द्र मोहन पहले आलोचक के रूप में आए और अपनी पहचान बना ली, तब काव्य-यात्रा प्रारंभ की। उनके पहले संग्रह 'इस हादसे में' और नवीनतम संग्रह 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' की कविताओं को एक साथ देखा जाए तो निश्चय ही यह सुखद निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नरेन्द्र मोहन की काव्य-यात्रा निरन्तर प्रगति की ओर है। उन्होंने अपनी पहली कविताओं और नवीनतम कविताओं के बीच एक लंबा फासला तय किया है। उनकी काव्य वस्तु निरंतर गहराती गई है और उनके कथन में वर्णन की सपाटता की जगह बिंबात्मक वर्तुलता आती गई है। उनके तीनों संग्रहों और नवीनतम कविताओं से विस्तार से गुजरकर उनकी काव्य-यात्रा की शक्तियों और सीमाओं की तथा सीमाओं को

तोड़कर निरंतर उभरती हुई संभावनाओं की पहचान की जा सकती है।

'इस हादसे में' उनका पहला काव्य-संग्रह है। नरेन्द्र की ये कविताएं यह स्पष्ट संकेत करती हैं कि वे आधुनिक जीवन के यथार्थ के प्रति जागरूक हैं। आधुनिक जीवन की विसंगतियों की पहचान से बनी ये कविताएं मुख्यतः व्यंग्यात्मक है। कवि की समकालीन बौद्धिक दृष्टि व्यवस्था और व्यवस्था-विरोध के नाम पर उसका लाभ उठाने वाले व्यक्तियों के अंतर्विरोध को देखती है और व्यंग्यात्मक ढंग से उनका उद्घाटन करती है। व्यंग्यात्मकता कविता को भावुकता और आक्रोश दोनों से बचाने की कोशिश करती है किंतु उससे यहीं खतरा भी है। वह प्रायः भावुकता का विरोध करती हुई भाव का विरोध करने लगती है और आक्रोश का विरोध करती हुई यथास्थिति का समर्थन करने लगती है। नरेन्द्र मोहन की इन कविताओं में दूसरा खतरा नहीं है क्योंकि कवि व्यवस्था-विसंगति की पहचान करता हुआ प्रायः उससे टकराने और जूझने की युयुत्सा भी अभिव्यक्त करता है—

"लेकिन मुझे इस हालत में पहुंचाकर/आप निर्लिप्त और निरापद बने रहेंगे/और मैं शान्ति-पाठ करता रहूंगा/यह मुमकिन नहीं। तुम्हें उम्मीद नहीं थी/मैं पड़ा-पड़ा हलचल के लिए मचल पड़ूंगा (—इस हादसे में) आवाजों को समझ/साथ हो जाऊंगा/दृश्यों को भिड़ता देख/शामिल हो जाऊंगा/सच यह पष्ठभूमि का क्रियात्मक हो उठना है/जिसे न मैं रोक सकता हूं न तुम।—(पृष्ठभूमि)

किंतु भावात्मकता के अभाव का खतरा इन कविताओं में आद्योपांत छाया हुआ है। भावात्मकता जैसे शास्त्रीय शब्द को छोड़ भी दें तो अनुभव की बात तो कर ही सकते हैं। कविता में अनुभव की महत्त्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। अनुभववाद एक चीज है और कविता में अनुभव की प्रमुख भूमिका दूसरी चीज है। इन कविताओं में अनुभव बहुत कम हैं और जो हैं वे बहुत शक्तिशाली नहीं हैं। अनुभव अपने आसपास की जिंदगी से प्राप्त होता है इसलिए यह स्वभावतः ही कविता को एक वक्तव्य बनने न देकर आसपास की जिंदगी के रूपों, संदर्भों, क्रियाओं आदि के बिंबों से जोड़ देता है और कविता हमारे आसपास उपस्थित जिंदगी का एहसास उभारती हुई उसके अनुभवों से गुजरती हुई, उसी के माध्यम से अपनी वैचारिक भूमिका भी निभाती है, अपना वक्तव्य देती है। 'इस हादसे में' की कविताएं अपने को परिवेश-जीवन में व्याप्त न कर एक सोची हुई बात उठाना चाहती हैं। यह सच है कि इस सोची हुई बात की प्राप्ति समकालीन जिंदगी से ही हुई है किंतु इसका एहसास दिलाने के लिए भी यह जरूरी होता है कि उस बात को उन बिंबों से जोड़ा जाए, जहां से वे उपजी हैं। ये बातें जोडी भी गई हैं तो सामने उपस्थित किसी काल्पनिक व्यक्ति से। वैसे यह व्यक्ति काल्पनिक नहीं है। यह वह व्यक्ति है जिसके गहरे संपर्क में कवि आया है और

उसकी तमाम विसंगतियों को गहराई से अनुभव किया है। यह सच है कि हम अपने संपर्क में आए हुए व्यक्तियों के माध्यम से ही अनुभव ग्रहण करते हैं किंतु कविता लिखते समय यदि वह व्यक्ति ही हमारा केंद्रबिंदु बन जाएगा तो विसंगति, सामाजिक और बुनियादी विसंगति का स्तर न प्राप्त कर व्यक्ति की विसंगति का लेखा-जोखा बनकर रह जाएगी। अपनी सामाजिक पहचान से, अपने विचार से हमें उस व्यक्ति को सामाजिक रूप देना पड़ता है। शुक्लजी के शब्दों में उसे आलंबनत्व कर्म प्रदान करना होता है। 'इस हादसे में' की कई कविताएं ऐसी हैं जिनमें कवि एक काल्पनिक संवाद द्वारा सामने खड़े अपने किसी परिचित व्यक्ति की विसंगतियों का उद्घाटन करता लगता है। उदाहरण के लिए 'सेवक राम', 'प्राण-शक्ति', 'तुम्हारी तल्लीनता में डूबी मेरी पहचान', 'आलोचक', 'बौद्धिक', 'पृष्ठभूमि' आदि कविताएं देखी जा सकती हैं। इनमें आज की जिंदगी में व्याप्त तरह-तरह की विसंगतियों के चित्र जरूर उभरते हैं किंतु कवि इन विसंगतियों को आम आदमी की बुनियादी समस्याओं से जोड़ने में बहुत सफल नहीं हुआ है। ये व्यक्तिगत बनी रह जाने की नियति से मुक्त नहीं हो सकी हैं। और सच पूछिए तो ये कविताएं संवाद नहीं एकालाप हैं जिसमें कवि सामने खड़े व्यक्ति को संबोधित कर उसी से कहता जा रहा है। संवाद में दोनों ही पक्षों की विसंगतियों और अंत-र्विरोधों का तनाव लक्षित होता है किंतु एकालाप में सामने वाले के दोष और अपनी निर्दोषता का इज़हार होता है। इससे न तो सही वस्तु-स्थिति सामने आती है और न कविता में तनाव आता है। लगभग सारी कविताओं में 'मैं' के एकालाप की यह स्थिति मोनोटोनी भी भरती है। कुछ कविताएं अपवाद हैं जैसे 'शहर', 'खुली लड़ाई लड़ते हुए', 'गांधी ने कहा था।' जहां 'मैं' केवल कहने का माध्यम बनकर आता है वहां खतरा नहीं होता है। खतरा वहां होता है जहां सामने वाले परिचित व्यक्ति के संदर्भ में 'मैं' स्वयं कवि का मैं हो जाए। यहां निस्संगता नही आ पाती और न अर्थ-विस्तार हो पाता है। इसीलिए मुझे 'शहर' कविता एक अलग कविता लगी। यह शैली में ही अलग नहीं है, वरन् यह कवि के 'मैं' से मुक्त होकर पूरे शहर की विसंगति को अपने में समेट लेती है—

> धुएं में लिपटा शहर ज़ोर-ज़ोर से भौंकता है/धुएं में कहीं एक हड्डी पड़ी है। उस पर दांत गाड़ने को ज़ोर-ज़ोर से/चीखता है शहर/और चीखता चला जाता है दिन-रात!

> हड्डी सामने नहीं दिखती/पर वह है
> एक गंध धुए को चीरती हुई आती है
> और रक्त में घुल जाती है
> शहर भौंकता रहता है और चीखता रहता है।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद 'इस हादसे में' की कविताओं की कुछ विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है। कुछ कविताएं कविता की दृष्टि से बहुत सफल बन पड़ी हैं यानी उनमें अन्य कविताओं की तरह समकालीन चेतना तो है ही, कविता के रूप में उनका रचाव भी बहुत सफल है। ऊपर 'शहर' कविता का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त 'हंसी फूटने पर' 'एलर्जी, 'बुजुर्ग कवि के नाम' जैसी कुछ बहुत अच्छी कविताओं का उल्लेख करना चाहूंगा। इन कविताओं में व्यक्तियों की नहीं, व्यवस्था की विसंगतियों के संश्लिष्ट बिंब मिलते हैं, उन विसंगतियों को संदर्भों के साथ जोड़कर तथा आपस में तानकर अधिक जटिल गहरा और व्यापक बनाया गया है। 'हंसी फूटने पर' कविता में व्यवस्था द्वारा लादे गए शोक, उसी द्वारा आयोजित शोक-सभा और उस शोक में भी फूटती किसी जिजीविषापूर्ण व्यक्ति की हंसी की टकराहट से एक गहरा प्रभाव पैदा किया गया है। यह कविता अपनी व्यंग्यात्मकता में भी पूरे समाज की ट्रेजेडी का दर्द समोए हुए है—

पता नहीं कैसे मेरी हंसी फूट पड़ी। भरी शोक सभा में गूंज उठी/मैं पकड़ लिया गया, जकड़ लिया गया···/वे खोज रहे हैं/हंसी का हिंसात्मक मनोविज्ञान और मेरे लिए हंसी दबानी/मुश्किल हो रही है।

(—हंसी फूटने पर)

'एलर्जी' में भी व्यवस्था और व्यक्ति की टकराहट से एक गहरे प्रभाव की सृष्टि की गई है। व्यवस्था व्यक्ति को दोष देती है कि उसे उसकी उपलब्धियां दिखाई नहीं पड़तीं, जबकि उसने उपलब्धियों के नाम पर समाज को अग्निकांड प्रदान किया है। व्यक्ति तो जगहें बदलते हुए अग्निकांड को ही देखता रहा है/यदि वह देखता रहा है तो उसमें जरूर कोई-न-कोई रोग है इसकी परीक्षा होनी चाहिए/परीक्षा हुई—

रक्त में एलर्जी के कीटाणु हैं
जो देश का नाम सुनते ही
लाल-लाल चकत्तों के रूप में फैल जाते हैं।

(—एलर्जी)

'बुजुर्ग कवि' कविता में बुजुर्ग कवि और आज के कवि की समर्पण-क्रिया के विरोध को दिखाया गया है।

इन अच्छी कविताओं के अतिरिक्त अन्य कविताओं में भी खंड-खंड रूप में अच्छी कविता बिखरी पड़ी है और सारी कविताओं में आज की जिंदगी की कोई-न-कोई विसंगति अवश्य दिखाई पड़ेगी, भले ही कवि उन्हें बहुत सामाजिक या बुनियादी रूप दे पाने में समर्थ न हुआ हो। कवि के पहले संग्रह में इतनी उप-

लब्धियां उसकी आगामी उपलब्धियों के प्रति आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त है।

'सामना होने पर' उनका दूसरा संग्रह है। नरेन्द्र मोहन उन कवियों में है जो किसी विद्रोही खेमे से न जुड़े होकर भी अपने समय में व्याप्त विसंगतियो की पहचान करते हुए उनके प्रति एक विद्रोहात्मक रवैया अख्तियार करते हैं। प्रस्तुत संग्रह की अनेक कविताओं में नरेन्द्र मोहन ने आज की व्यवस्था और उससे जुडे हुए आदमी पर व्यंग्य किया है, साथ ही प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वर में कहीं-कहीं उसक प्रति एक विद्रोही भंगिमा व्यक्त की है। नरेन्द्र मोहन की कविताओं को पढ़ते समय एक बात लगातार अनुभूत होती है, कि वे समाज के यथार्थ के विभिन्न आयामो से गुजरकर एक बड़े संश्लिष्ट यथार्थ की रचना नहीं करना चाहते बल्कि कुछ सम-कालीन जाने-पहचाने सत्यों को ही उनकी नई-पुरानी विसंगति के साथ प्रस्तुत कर देना चाहते हैं और ऐसा भी लगता है कि उनकी कई कविताओं में व्यवस्था का जटिल रूप नहीं है, बल्कि व्यवस्था से जुड़े हुए कुछ व्यक्ति हैं और उन्हीं को वे संबोधित करते हुए प्रकारांतर से व्यवस्था की विसंगति को रूपायित करते ह। व्यक्तियों को सामने रखना अनुचित नहीं है लेकिन व्यक्तियों को सामान्यीकृत कर देना कला की बुनियादी शर्त है, किंतु नरेन्द्र मोहन की कविताओं में हमेशा ऐसा नहीं हो पाता। हां, जहां कवि अपने ऐसे व्यक्ति से अलग हटकर एक कलाकार की हैसियत से सामने के यथार्थ का अंकन करता है, वहां तनाव सामने के यथार्थ के ही कई पहलुओं के पारस्परिक साहचर्य या विरोध से उभरता है, और कहना न होगा जहां कहीं नरेन्द्र मोहन का पीछा अपने व्यक्ति से छूटा है और जहा कहीं उन्होने अपने सामने व्यक्ति विशेष के स्थान पर संश्लिष्ट यथार्थ को लिया है, वही उनकी कविता अधिक अर्थवान और सशक्त हुई है। ऐसी कविताओ में उनकी कुछ कविताओं की तरह वैचारिक एकालाप नही, बल्कि अनुभव और विचार के सग्रथन से बना हुआ एक बिंब उपस्थित हो जाता है।

'कब्र चित्र', 'आप नजर रखें', 'उपस्थिति', 'बाहु फोर्ट से तवी' जैसी कविताए उदाहरण के लिए रखी जा सकती हैं। 'कब्र चित्र' एक छोटी-सी कविता है जिसमे किसी प्रकार का बड़बोलापन नहीं है। महज एक बिंब है। कवि ने सारे संबधो को दफन करने के लिए कब्र का एक आकर्षक चित्र बनाया, लेकिन चित्र तो चित्र है अर्थात् कला है और कला संबंधों को दफनाती नहीं, बल्कि बनाती है। इस प्रकार यह छोटी-सी कविता अपनी व्यंजना में अमित हो उठती है :

'सारे सम्बन्धों को दफन करने के लिए/हमने कब्र का एक आकर्षक चित्र बनाया/और उसे फटी आंखों/देखते रहे/सोचते हुए—/चित्र चित्र है/कब्र नहीं' इस कविता में बाहरी विषय और कलावस्तु का एक तनाव दिखाई पड़ता है। बाहरी विषय संबंधहीनता का है। कलावस्तु संबंध निर्मिति की है। कवि के कुछ कहे बिना यह बिंब अपने आप बोलने लगता है और उसके व्यक्तिबोध में से एक

कलात्मक अनुभव या विषय में से एक कलात्मक वस्तु अपने आप एक व्यंजना लिए उभर जाती है।

'उपस्थिति' भी एक छोटी-सी कविता है, जिसमें विद्रोह या विसंगति का बड़-बोलापन नहीं है और न ही विचार या अनुभव के लंबे-चौड़े विवरण हैं। बस एक छोटा-सा बिंब है और वह बिंब एक सघन अनुभव का विस्फोट करता हुआ व्यवस्था की जड़ता और उसके प्रति एक सशक्त विद्रोहात्मक स्वर की ओर संकेत कर देता है। एक छोटी-सी कविता में तनाव का बड़ा सुंदर रूप दिखाई पड़ता है जो मूलतः अनुभावात्मक है :

'ठोस दीवारों को कंपकपाती/उसकी उपस्थिति/एक ठहाका है/एक सुनहला विस्फोट कि/उमड़ आता/छलछलाता/पानी का रेला,/जाने कहां से !'

इसमें ठोस दीवार के सामने उसकी उपस्थिति को खड़ा किया गया है। ठोस दीवार व्यवस्था का प्रतीक है और उसकी उपस्थिति को एक ठहाका कहकर न केवल व्यवस्था के प्रति उसकी उपहास वृत्ति को व्यंजित किया गया है, बल्कि उनके भीतर के वेग, व्यवस्था के प्रति लापरवाही और शक्ति को भी ध्वनित किया गया है और फिर उसे सुनहला विस्फोट कहा गया है। सुनहला शब्द उसकी व्यवस्था के प्रति लापरवाह और वेगवान उपस्थिति को मूल्य और सौंदर्य का अर्थ प्रदान करता है। उसकी उपस्थिति को फिर पानी का रेला कहा गया है। उसकी उपस्थिति से ऐसा लगता है कि पानी का छलछलाता रेला उमड़ आया है। इससे दीवारों की घुटन के बीच पानी की शीतलता, गति और सौंदर्य का अनुभव चारों ओर व्याप्त हो जाता है। "उसकी उपस्थिति से ठोस दीवारें कांपने लगती हैं।" कहकर कवि ने व्यवस्था के भेदन की ओर संकेत किया है।

'बाहु फ़ोर्ट से तदी' कविता शुद्ध सौंदर्यानुभव की कविता है। प्रकृति के परिवेश में उत्पन्न सौंदर्यानुभूति को कवि ने बहुत ताजगी के साथ अभिव्यक्त किया है। वस्तु और अनुभव का या बाह्य दृश्य और कवि की निजता का साहचर्यमूलक तनाव कविता में व्याप्त है। इन कविताओं के अतिरिक्त बच्चे पर लिखी गई कई कविताएं प्रभावशाली हैं। 'बच्चा' शीर्षक कविता में बड़ी कुशलता से बच्चे की शाश्वत जिजीविषा व्यंजित की गई है। 'इस बच्चे को क्या हुआ' कविता में देश के रहनुमाओं के संदर्भ में बच्चे का दर्द उद्‌घाटित किया गया है। देश के नेता बच्चों के कल्याण की बातें करते हैं, लेकिन बच्चों की स्थिति बिगड़ती जा रही है। देश के रहनुमा वे डॉक्टर हैं जो दवा नहीं करते, उसके आगे बीमार बना देने वाले चित्र उपस्थित कर देते हैं। नेताओं के पास बच्चों के लिए विविध क्रियाशीलताएं नहीं हैं, बल्कि एक ही प्रकार की सुंदर लफ्फाजी है, जो बच्चों की सारी चेतना छीनती जा रही है। 'बच्चे की शक्ल में' कविता में बच्चों के असमय बूढ़े हो जाने का दर्द व्यंजित है

'बच्चे की शक्ल में/एक बूढ़ा बैठ गया था/और उठने का नाम नहीं ले रहा था।' 'आप नजर रखें' कविता की शुरू की पंक्तियों में एक बच्चे के खो जाने का सत्य चित्रित है किंतु अंतिम पंक्तियों में कवि ने बड़ी सादगी से एक गहरी विडंबना का उद्घाटन किया है।

किसी कवि से पूछो/हां, किसी कवि से पूछा जा सकता है/वहीं लौट सकता है/हां, वहीं लौट सकता है/अगर कवि लौट आया हो !

हां, 'बच्चे की वापसी' कविता में ही (कलामात्र में) हो सकती है, क्योंकि मानवीय संवेदना और मूल्यों की सही जगह वही है, लेकिन विडंबना यही है कि कवि स्वयं अपने कला धर्म से हटकर कहीं भटक गया है, बच्चे की वापसी के पहले कवि की वापसी आवश्यक है अर्थात् कवि अपनी सही जगह पर लौटकर ही वापस आ सकता है तथा बच्चे की सुरक्षा, विकास और मंगलकामना के लिए जमीन तैयार कर सकता है। इस संग्रह में और भी कई कविताएं हैं, जो समग्रतः या खंडतः अच्छी हैं, किंतु सबकी व्याख्या यहां संभव नहीं। हां, इस संग्रह की अनेक कविताएं अनेक लोगों को कुछ और कारणों से अच्छी लग सकती हैं। उनमें उन्हें सीधा विद्रोह, सीधा राजनीतिक विसंगति-बोध, विचार कविता का वैचारिक एकालाप आदि दिखाई पड़ सकता है, किंतु मैं फिलहाल कविता की बात कर रहा हूं।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' नरेन्द्र मोहन का तीसरा काव्य-संग्रह है। उनके पिछले दो काव्य-संग्रहों ('इस हादसे में' और 'सामना होने पर') की सापेक्षता में इस संग्रह को देखा जाए तो कवि निश्चय ही वैचारिक एकालाप और व्यक्तिपरक संबोधनों से बनी हुई अपनी पिछली कविताओं से निकलकर एक सहज, किंतु वर्तुल बिंब के जगत में प्रवेश करता हुआ दिखाई पड़ता है। बिंबात्मक कविताएं पहले संग्रहों में भी हैं, किंतु कम है। उन संग्रहों में स्वयं कवि अधिक बोलता हुआ दिखाई पड़ता है और उनमें एक बौद्धिक मैनरिज्म भी है। ऐसा नहीं है कि यह संग्रह इनसे सर्वथा मुक्त हो गया है लेकिन मूलतः इस संग्रह की कविताओं का स्वभाव बदला हुआ है। इन कविताओं में लेखक कम, बिंब अधिक बोलते हैं। इन बिंबों में एक ऐसी पारदर्शिता है जो कथ्य को अधिक पैना और प्रभावशाली बनाती है। ये बिंब मूलतः संवेदनात्मक बिंब हैं जो पाठक को संवेदना के सहारे किसी वैचारिक अन्विति तक ले जाते है। इस संग्रह में 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' जैसी लंबी कविता भी है और दो-दो पंक्तियों की छोटी-छोटी कविताएं भी। 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' कविता इस संग्रह की सर्वाधिक प्रभावशाली कविता है। इस कविता में यूसुफ की त्रासदी आजाद भारत के उन सारे लोगों की त्रासदी है जो अग्निकांड की अमानवीय ज्वाला एवं उसमें झुलसते हुए आम आदमी की पीड़ा अनुभव करते हैं और अग्निकांड का प्रतिरोध करने की कोशिश में लहू

लुहान हो जाते हैं, पागल करार दिए जाते हैं, जिनकी हंसियां छिन जाती हैं। यह कविता इस संवेदना को उसकी पूरी वर्तुलता में पारदर्शी बिंबों के माध्यम से रूपायित करती है। छोटी कविताओं में 'सृजनात्मकता', 'सृजन कल्पना', 'संबंध-बोध', 'बच्चा', 'स्वाधीन', 'कठमुल्ला कवि', 'हंसते-हंसते' कविताएं अपनी बिंब सुलभ सांकेतिकता और संक्रांत कथ्यधर्मिता के कारण रेखांकित की जा सकती हैं। विशेषतः 'बच्चा' और हंसते-हंसते' कविताएं काव्यात्मक उपलब्धि की दृष्टि से अधिक द्रष्टव्य हैं :

पहले बाद कुछ नहीं/एक दृश्य में गड़ी हुई आंख/दृश्य से परे/चट्टानों के पीछे एक बच्चा/दबा सहमा सकुचा/अब चहका कि चहका/सुराख बनाता है चट्टान में/झांकने के लिए/उस पार।

(—बच्चा)

नरेन्द्र मोहन की इन कविताओं मे संवेदना और विचार के स्तर पर आधुनिकता है किंतु यह आधुनिकता मूल्यहीनता वाली आधुनिकता नहीं है। कवि ऋणात्मक और धनात्मक दोनों ही पद्धतियों से आज की अमानवीय स्थितियों और संवेदनशून्य संबंधों के बीच मूल मानवीय रागात्मता और मूल्यो की तड़प उभारता है। दरअसल आधुनिकता के नाम पर हिंदी साहित्य में जो एक भयानक दौर आया था उसमें कवि काव्य और जीवन की मूल्यवत्ता के संबंधों को ही नकार गया था और जुगुप्सामूलक, टूटनमूलक, अकेलेपन से ग्रस्त स्थितियों को यथावत् प्रस्तुत करने को ही आधुनिकता और सच्चा कवि-कर्म समझने लगा था। जीवन जीने लायक मूल्यवान चीज है, अतः उसके रास्ते के अवरोधक तत्त्वों का विरोध और उसके पोषक तत्त्वों का समर्थन कविता का काम है, इसे भूल ही गया था। सत्तर के बाद ही कविता में इस शून्य को तोड़ने की बेचैनी उभरी और जीवन तथा सामाजिक संबंधों की शक्तियों की पहचान शुरू हुई। नरेन्द्र मोहन की कविताए विशेषतया परवर्ती कविताएं कविता और जीवन के संबंधों को बहुत प्रभावशाली ढंग से रेखांकित करती हैं। 'खुली जगह कहां है'—में कवि जीवन के वास्तविक सौंदर्य और मूल्यवत्ता की अनुपस्थिति के बीच खड़ा होकर उसके प्रति बेचैनी अनुभव करता है, उस खोई हुई चीज के बारे में सवाल करना उसकी अस्मिता की पहचान करना है, उसकी सार्थकता का अनुभव करना है :

अंधेरे की पर्त दर पर्त/और एक अंतहीन खोह का अंधा विस्तार/आखें फाडे/देखता हूं/लिपटने का दृश्य/बन्द होने की दहशत/सिमटा पड़ा आकाश/लोह टोप में।

इस भयानक स्थिति के विधान तक कवि थमता नहीं। वहां से आगे बढ़कर उस बिंदु की तलाश करता है जहां कविता जीवन की अर्थवत्ता से अर्थवान होती है

बदहवास/कांपता सा/बाहर आने पर/पूछता हूं/कहां हूं/सभी लोग कहां हैं/खाली जगह/खुली जगह/कहां है ?

"कहां हूं, सभी लोग कहां हैं/खाली जगह खुली जगह/कहां है ?" यह सामाजिक और मानवीय बेचैनी निश्चय ही कविता की भीतरी बेचैनी बनकर उसे अधिक स्पंदनशील और अर्थवान बनाती है।

अतिशय यथार्थवादी बनने का छद्म आग्रह हमारी आशाओं, विश्वासों और संभावनाओं को झूठा समझकर उसका मजाक उड़ाने लगता है लेकिन सच्चा कवि इन्हें नहीं छोड़ता। वह समकालीन जीवन-यथार्थ की विडंबनाओं, तनावों और विसंगतियों के बीच संभावना और विश्वास का दिया जलाए रखता है। इससे कविता और भी संश्लिष्ट और वर्तुल हो उठती है—

'सुनो, इस घर में/एक दिया जलाये रखो/शायद वह लौट आये/स्मृतियों के सहारे।'

'अकेलेपन में जिन्दा हूं मैं/याददाश्त के सबब/मुझे बोटेनिकल गार्डन याद आता है/एक ओर से फूटती हुई टहनी मीलों दूसरे सिरे तक फैलती/टहनियों से उलझी हुई टहनियां/एक ही जड़ से फूटती हुई हजारों हजार टहनियां/पुनः मिट्टी से फूटती हुई/जन्मती, तनती, फैलती, झुरमुट बनाती बारंबार/पेड़ों की जड़ों से जुड़ा/अकेलेपन का पहला एहसास/मेरी याद में तीर-सा चुभा है।'

पेड़ों की जड़ों से जब अकेलेपन का एहसास जुड़ता है तो वह एक संक्रांत अनुभव तो बनता ही है, साथ ही अपने टूटने और फिर जड़ों से जुड़ने की संभावना को भी जन्म देता है। और तब कवि को लगता है—

सुनो, तुम एक दिया जलाये रखो/उसकी याददाश्त सुलगने लगी है/वह लौट सकता है।

यह सच है कि कोई आहत करता है किंतु यह भी सच है कोई जख्म को सहलाता भी है। जख्म लगने और उसे सहलाने की क्रियाओं के तनाव से जो संश्लिष्ट बिंब बनता है वह एक अजीब त्रासद अनुभव की सृष्टि करता है—

बिजली गिरी/पेड़ों पर/पक्षियों के झुंड फड़फड़ाये/छितरा गये/थरथराता आसमान/सहलाता रहा/उनके जख्म।

कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति की उन्मुक्तता से मनुष्य के बंदीत्व को तानकर स्वतंत्रता के मूल्य की छवि उभारी है और उसकी स्पृहा तथा बंधन की वास्तविक स्थिति के बीच फंसे मनुष्य की विडंबना को उद्घाटित किया है—

फुदकती चहकती/उड़ गई चिड़िया फुर्र/मुंडेर से/खुले आसमान में/और मैं देखता रहा/घिरा-घिरा सलाखें गिनता/बड़बड़ाता—/स्वाधीनता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।

नरेन्द्र मोहन की कविताएं निरंतर अपने परिवेश की चिंता से जुड़ती गई हैं

यह चिंता छोटी कविताओं में भी है और लंबी कविताओं में भी। यह चिंता उन्हें केवल अपने समय और समाज के प्रति सजग ही नहीं करती, उनकी कविताओं को एक पारदर्शी सघनता भी प्रदान करती है। इसी चिंता के तहत उन्होंने 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' लंबी कविता में इतिहास की त्रासदी को वर्तमान की निरंतरता में देखा। इसी के तहत उन्होंने पंजाब में घटित मानवीय त्रासदी को 'एक अदद सपने के लिए' में वाणी दी। इसी के तहत 'चुप्पी', 'जिस्म अब भी थरथरा रहा है', 'हथेली पर अंगारे की तरह' जैसी अनेक अच्छी कविताएं लिखीं। मैं जोर अच्छी पर दे रहा हूं इसलिए कि नरेन्द्र मोहन की कविताओं में सामाजिक या परिवेशगत सरोकार शुरू से ही दिखाई पड़ता है लेकिन कविता उपलब्धि कुछ को ही प्राप्त हो सकी। किंतु परवर्ती कविताएं निरंतर सामाजिक सरोकारों के कारण काव्यात्मक उपलब्धि की ओर बढ़ती गईं क्योंकि परवर्ती कविताओं में सामाजिक यथार्थ या उनसे सरोकार का रूप निरंतर सघन और संश्लिष्ट होता गया और उन्हें रूपायित करने की कला निखरती गई, बिंबात्मक होती गई। इकहरा कथन एक नाटकीय संकेतधर्मिता प्राप्त करता गया। भाषा स्वयं बहुत बोलने की जगह वास्तविकता की तस्वीर को बोलने देने की छूट देती गई—

'वह चुप है/बोलने के क्रम में हकलाता भर है/मैं डरा हुआ हूं/मैं उसे वह तस्वीर नहीं दिखाता/जो उसके अनुमान को पुख्ता करे/मैं देखता हूं/वह चुप है/वह कुछ पूछता क्यों नहीं/क्या उसने वह तस्वीर देख ली है?'

नरेन्द्र मोहन और उनका काव्य परिदृश्य

—जगदीश चतुर्वेदी

सातवें दशक में दिल्ली का साहित्यिक परिदृश्य बहुत गहमागहमी का था। यह वह समय था जब हिंदी में ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं में एक नया उन्मेष दिखाई दे रहा था। इसी समय यूरोप में भी कई युग कवि तेज-तर्रार कविताएं लिख रहे थे और अमेरिका में बीटनीक कवियों की कविताएं एक नई लहर पैदा कर रही थीं। हिंदी में मैं और मेरे कुछ साथी अकविता के नाम से कविता के इस नये आक्रोश को अपने ढंग से एक नई संज्ञा प्रदान कर रहे थे।

यह वह समय था जब दिल्ली में शाम होते ही युवा कवि कनॉट प्लेस के 'टी-हाउस' या 'कॉफी हाउस' में इकट्ठे हो जाते थे और नये से नया कर गुज़रने की महत्त्वाकांक्षा सबके चेहरों पर दिखाई देती थी। मुझे याद है कि वर्ष में शायद ही ऐसी कोई शाम हो जब मैं और मेरे प्रिय मित्र 'टी हाउस' न पहुंचते हों। 'टी हाउस' में चर्चाएं तो होती ही थीं, रोज ही कोई न कोई नया चेहरा पंजाब या बिहार या उत्तर प्रदेश या बंगाल से हमारे बीच कई जिज्ञासाएं लेकर उपस्थित होता था। ये तमाम भारत से आए हुए कवि या समीक्षक होते थे और उनको यह पूर्व विदित था कि 'टी हाउस' में बैठकर उनकी बहुत सी शंकाओं का समाधान हो सकता है।

अभी भी मुझे वह शाम धुंधली सी याद है जब डॉ० महीपसिंह के साथ एक नये युवा कवि से मेरा परिचय हुआ था। यह कवि पंजाब से आए हुए थे और दिल्ली के बातूनी साहित्यकारों के मुकाबले वे चुप और संकोची से थे। महीपसिंह ने परिचय दिया था कि कवि हैं, स्थायी तौर पर दिल्ली आ गए हैं। इनका नाम नरेन्द्र मोहन है। यह नाम मेरे लिए अपरिचित नहीं था। पंजाब के साहित्यकारों और कॉलेजों से मेरा परिचय पिछले कई वर्षों से घनिष्ठ रूप में रहा था, अतः इस नाम की चर्चा भी हमारे बीच होती रहती थी। 'अभिव्यक्ति', 'मिथक' और 'सप्तसिंधु' आदि पत्रिकाओं मे मैंने इनकी कविताएं भी पढ़ी थीं और जहां तक याद है 'कृति परिचय' के कविता या युवा कविता विशेषांक मे इनकी कविताएं

सम्मिलित की गई थीं। दिल्ली में आकर नरेन्द्र मोहन पहले देवनगर में रहे, फिर पश्चिमी पटेल नगर में और इसके बाद कुछ वर्ष कीर्ति नगर में रहकर अब अपने स्वत: के मकान राजोरी गार्डन में रह रहे हैं। उनके उन सभी निवासों पर मैं जाता रहा हूं और 'टी हाउस' का औपचारिक परिचय लगातार घनिष्ठता में बदलता गया है।

मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात को मानता हूं कि प्रत्येक कलाकार अपने में स्वतंत्र होता है। उसे अपने विचारों को अपने तरीके से अभिव्यक्ति देने की स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। नरेन्द्र मोहन ने आठवें दशक में 'विचार कविता' नाम से एक काव्य-आंदोलन भी चलाया था और उनके झंडे तले कई चर्चित कवि आलोचक जुट गए थे। जैसाकि साहित्यकार की परंपरा रही है, प्रत्येक नई आने वाली साहित्यिक उपलब्धि अपने पहले की साहित्यिक उपलब्धि को नकारती भी है और अपने समय की रचनाओं को उससे बेहतर मानने की जिद भी करती है। ऐसे में स्वाभाविक था कि 'विचार कविता' के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती अकविता के कवियों से असहमति जताई। यों काव्य का सत्य समीक्षक का बयान नहीं होता। कविता की कसौटी तो स्वत: उसकी अभिव्यक्ति और उसका विन्यास होता है। विचार कविता के नाम से जो बहुत कुछ लिखा गया और छपा उसमें बहुत कुछ अकविता से ली गई भाव-सरणियां थीं। कई कवि जो एक वर्ष पूर्व तक अकविता में धड़ल्ले से छप रहे थे, वे भी 'विचार कविता' के संकलनों में आए थे। फिर भी इस समर्थन-विरोध के बावजूद नरेन्द्र मोहन से लगातार संवाद चलता रहा और चर्चाएं भी होती रहीं।

कुछ वर्ष पूर्व (अब दिवंगत) हमारे पुराने मित्र डॉ० सुखबीर सिंह के संपादन में नरेन्द्र मोहन के कविता-संसार पर एक पुस्तक 'कविता में लिखा इतिहास' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसमें उनकी कविता पर मेरा भी एक लेख था जिसे मैंने 'सामाजिक संशय की कविता' नाम दिया था। इस लेख में उनकी कविताओं के संबंध में मेरे जो विचार थे, वे अभी तक बदले नहीं हैं। उनकी कविताएं राज-नीतिक जैसे जटिल विषयों से संबद्ध रही हैं। राजनीति पर कविता लिखना सहज भी है और कष्टसाध्य भी। इन दो विरोधाभासों का जिक्र मैंने इसलिए किया है कि राजनीति पर लिखी गई सपाट कविता पार्टी का नारा बनकर रह जाती हैं। यह दुर्भाग्य कई प्रगतिवादी कवियों के साथ रहा है। दूसरा खतरा यह होता है कि कविता काव्यात्मक गुणों से वंचित रह जाती है। नरेन्द्र मोहन की कविताओं में भी राजनीति की प्रताड़ना से मानसिक वात्याचक्र में परिवर्तित मनुष्य उतना दृष्टिगत नहीं होता जितना बाह्य वातावरण का चित्रण-निरूपण। इस प्रकार की कविता पठनीय तो हो सकती है, विशिष्ट नहीं। इसमें जनता को सन्मार्ग पर ले जाने की अपीलें तो हो सकती हैं, पर कविता का काम मात्र इतना ही नहीं है उसे

और आगे जाकर युग को संस्कारित करना होता है। यहीं कविता अपने लक्ष्य से तिरोहित होती जान पड़ती है। उन्होंने भाषा पर भी कविताएं लिखी हैं। कवि की रचना-प्रक्रिया को भी वह कविता का विषय बनाने से नहीं चूकते। इसको मैं बुरा नहीं मानता। विश्व के कई कवियों ने कविता के जरिये क्रांति तक पहुंचने की कोशिश की है। कविता के संदर्भ में उनकी ये पंक्तियां प्रभावी हैं—

> एक बारूदी सुरंग
> फट पड़ने को तैयार
> योग्य भाषा की प्रतीक्षा में
> अंधेरे में रुका पड़ा सब कुछ!

यह चिंता एक जागरूक कवि की चिंता है।

यदि हम अंतर-बाह्य इस मानवीय चेतना से प्राणवंत हो जाएं तो घृणा और हिंसा के कई कृत्य स्वतः ही भस्मीभूत हो जाएंगे। कवि को लगता है कि सशस्त्र क्रांति जैसा कुछ कविता के जरिये किया जाना अनिवार्य है, पर कवि को शायद यह पता नहीं है कि कविता के जरिये क्रांति की अपनी सीमाएं होती हैं।

नरेन्द्र मोहन की कविताओं में कविता को संवाद की तरह लाने की क्षमता भी है। उनके शुरू के संग्रह 'इस हादसे में' में इस प्रकार की कविताएं संकलित है। 'आलोचक' शीर्षक उनकी कविता में वे साहित्य के इस दलाल व्यक्तित्व की चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं—

> "वह आपको कहां पटक देगा
> और कहां उठा और चढ़ा देगा
> आप नहीं कह सकते।
>
> जिस बात पर जोर देकर
> वह आपका समर्थन कर रहा है
> उसे ही आपके विरुद्ध कब दाग देगा
> आप नहीं कह सकते।
>
> अर्थ उसके लिए मछलियां हैं
> और संवेदना मगरमच्छ
> जिन्हें फांसने के लिए
> वह फेंकता है शब्दों का जाल
> और दलाल मुस्कराता है
> उगाहते हुए दलाली।

उसके हाथ में है
जादू की एक छड़ी
जिसे घुमाता हुआ चलता है वह...

'बुजुर्ग कवि के नाम', 'छुरे की नोक पर' और 'गोष्ठी के बाद' आदि ऐसी ही कविताएं हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि कवि नरेन्द्र मोहन में व्यंग्य करने की क्षमता भी है।

एक बात मुझे नरेन्द्र मोहन के तमाम संग्रहों से गुजरते हुए महसूस हुई कि उन्होंने प्रेम कविताएं बहुत कम लिखी हैं। कहीं-कहीं ऐसे अंश आते अवश्य हैं जिनमें प्रेम जैसा कुछ ध्वनित होता हो, किंतु प्रेम की अनिवार्यता कवि को जिन जटिल काव्य-रचनाओं की ओर मोड़ देती है, उसका अभाव उनके काव्य-संसार में है। प्रेम एक ऐसा एहसास है जो व्यक्तिगत जागरूकता से प्रारंभ होकर व्यक्ति को एक मुकम्मिल व्यक्ति (और कवि भी) बनाता है। कवि जब तक इस मानवीय सरोकार से रू-ब-रू नहीं होता तब तक सिद्ध कवि नहीं बन सकता। फिर भी उनकी एक कविता 'देह-भाषा' जो कि उनके इधर (1990) के एक संग्रह में प्रकाशित हुई है, से पता चलता है कि कवि को प्रेम का एहसास होने लगा है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस प्रौढ़ आयु में देहगंध आकर्षित कर रही हो। कविता है—

मुश्किल है मेरे लिए सह पाना
मोती की आब
आब जब सुगंध में डूबी हो
मुश्किल है और भी

आब और सुगंध को एक साथ
मूर्त होते देखता हूं
उस देह में
भाषा से बाहर
देह भाषा में
डूबने लगता हूं।
मिथकों की एक अंतहीन दुनिया में।

एक और भी कविता इसी संदर्भ में मुझे याद आ गई जो इधर ही छपी है। शीर्षक है 'देह के सामने'। पंक्तियां हैं जो स्वतः अपना अर्थ और संदर्भ बता देती हैं—

इस देह के सामने
कोई देह नहीं भाती
अपने में डुबो
अपने से परे ले जाती।

'हथेली पर अंगारे की तरह' संग्रह में कुछ इस तरह की कविताएं हैं। प्रेम, भाषा का सौंदर्य और राजनीति इन तीन विषयों पर और विशेष रूप से सामाजिक राजनीतिक संदर्भों वाले विषय नरेन्द्र मोहन को बहुत भाते हैं। रह-रहकर वह उसी अंगारे पर हथेली रख देते हैं।

नरेन्द्र मोहन का बचपन लाहौर में बीता जो पाकिस्तान में है। बचपन की स्मृतियां मनुष्य के मन में जौंक की तरह चिपटी रहती हैं। चाहकर भी मनुष्य उन्हे भूल नहीं पाता। बचपन में विभाजन की त्रासदी उन्होंने देखी है'''जलते हुए शहर और जघन्य हत्याकांड। बार-बार वे दुर्दमनीय क्षण उनकी कविताओं में उभर आते हैं। उनकी एक लंबी कविता है 'एक अग्निकांड जगहें बदलता'। इस कविता में देश के विभाजन और उसके बाद की स्थिति का चित्रण है। कवि ने जो अमानुषिक हत्याकांड आंखों के सामने देखे हैं, वे इस कविता में सार्थक ढंग से अभिव्यक्ति पाते हैं। यह परिदृश्य कितना भयावह है—

अक्सर उसे छतें गिरती महसूस होतीं
और दीवारें स्याह पड़ती।
उसे दिखतीं डरावनी आकृतियां
चौखट के बाहर-भीतर
और वह सोया-सोया चीख पड़ता।

उसे लगता एक काली छाया
साथ-साथ चलती
भीतर बैठ गई है।

यह कविता वर्तमान भारत की सबसे भयावह त्रासदी और भारतीय इतिहास के एक काले अध्याय का संवेदनात्मक चित्रण करती है। उसमें पात्र भी हैं और एक संक्षिप्त-सी कथा भी किंतु वे मात्र संकेत हैं जिनके माध्यम से मानव-संघर्ष का इतिहास अंकित किया गया है। यहां पर यूसुफ का चरित्र प्रत्येक संघर्षात्मक प्राणी का संकेत बन गया है। चूंकि नरेन्द्र मोहन उस त्रासदी के चश्मदीद गवाह रहे हैं, इसीलिए इस कविता में कई प्रसंग, कई मानवीय आकृतियां उनके मस्तिष्क में स्मृतियों के साथ संपूजित होकर काव्य गरिमा में परिवर्तित हो गई हैं।

इस कविता के बाद लंबी कविता लिखने का एक लंबा सिलसिला नरेन्द्र मोहन के लेखन में प्रारंभ हो जाता है। सन् 1993 में लंबी कविताओं का उनका एक संकलन भी प्रकाशित हुआ है। इसमें 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' कविता तो है ही, 'एक अदद सपने के लिए' और 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविताएं भी संकलित हैं। 'एक अदद सपने के लिए' कविता विषयवस्तु के धरातल पर 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' से संबद्ध है। सन् 1984 में पंजाब के उग्रवादियों ने जो दृश्य उपस्थित किया और अनायास कवि को आजादी के पहले जो दिन याद आए, इन दो विपरीत स्थितियों के संदर्भ में कविता की रचना हुई है। 'किले' और 'तलघर' प्रतीकों के माध्यम से आज की जानलेवा व्यवस्था, आतंक और भ्रष्टाचार का चित्रण किया गया है। इस कविता में सपाटबयानी है तो बिंब भी हैं। रवानी और प्रवाहमानता है जो इस कविता का गुण बन जाती है। इसकी दो पंक्तियां हैं :

> शहरों की याद के साथ
> मेरे भीतर जंगल फैलने लगा है।

यह जंगल का फैलना कवि की आंतरिक व्यथा को अभिव्यक्ति देता है। एक भिन्न मनःस्थिति की कविता है—'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा'। इसके संबंध में कवि का कथन है : "एक पुरानी घटना की संगति में मेरी अंतरंग स्थितियां और मनोभाव इन पात्रों के साथ कुछ इस तरह से जुड़े हैं कि कविता अनायास बनती-उठती गई। सुमित्रा और सलमान जिन्हें मैंने जाना ही नहीं, जिया भी है, क्रूर सामाजिक, सांप्रदायिक शक्तियों का मुकाबला करते हुए खुद लहू-लुहान हो गए और अपनी वास्तविक सत्ताओं का अतिक्रमण कर गए। कवि नरेन्द्र मोहन भी इस कविता में अपनी काव्य-रुचि का अतिक्रमण करते दिखाई देते है। यह कविता मानसिक द्वंद्व की कविता है। सामान्यतः नरेन्द्र मोहन की कविताओं में इस प्रकार के चरित्र नहीं मिलते। लगता है कि पिछले कुछ वर्षों से नरेन्द्र मोहन जो नाटकों में रुचि ले रहे हैं, इसका प्रभाव उन पर है। साथ ही इधर जो चित्र प्रदर्शनियों में उनकी रुचि जागी है, वह भी इस कविता के लिए वातावरण पैदा करती है। सलमान, सुमित्रा, नीला घोड़ा, खरगोश तथा अन्य अमूर्त चित्रों के संयोजन से बनी यह कविता प्रतीकात्मक भी है और कवि के बृहद् फलक पर कुछ सोचने का भी संकेत देती है। यह एक प्रतीक गाथा है जिसे कवि ने वास्तविक दुनिया और कला-दुनिया के बीच रखकर सफलतापूर्वक संयोजित किया है।

नरेन्द्र मोहन की कविता : यथास्थिति के विरुद्ध एक विचारसंगत विद्रोह

—डॉ० महावीर सिंह चौहान

> देख लो। वे वहीं हैं। जहां थे। मेरे तुम्हारे। आस-पास। छितरे। तुम। मैं। जहां थे। वहीं हैं.../संतुलन में बंधे। झूलते। ठेठ। मौलिक.../रूपक। क्यों ला रहे हो बीच में। बांधते हो व्यर्थ में।

नरेन्द्र मोहन की कविता 'यथास्थिति : एक संयोजन' की ये प्रारंभिक पंक्तियां बाहरी दुनिया की विसंगति पर एक कारगर टिप्पणी होने के साथ ही साथ रचना के स्वरूप के बारे में भी जो कुछ कहती हैं उसमें गहरे आत्ममंथन और आत्मखोज का भाव है। वस्तुत: इन पंक्तियों मे नरेन्द्र मोहन की कविता का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य समाहित है। कवि जितना जिंदगी के लिए चिंतित है उतना ही कविता के लिए भी। या यूं कहें कि कवि के लिए जिंदगी और कविता अलग-अलग चीजें रही हैं। एक की चिंता में दूसरे की चिंता अनिवार्य रूप से समाहित हो जाती है। यही वह तत्त्व है जो नरेन्द्र मोहन को अपनी पूर्ववर्ती—नई-कविता से अलग करता है।

नई कविता के सामने एक मात्र समस्या कविता के सौंदर्यशास्त्र की थी। इस संबंध में नरेन्द्र मोहन की सोच अलग प्रकार की है। यथास्थितिवाद दोनो जगहों पर है—जीवन में भी और कविता में भी। एक स्तर पर वह मानवीय समस्या है और दूसरे स्तर पर सौंदर्यशास्त्रीय। दोनों की भिन्नता में एकता इस बात को लेकर है कि मानवीय समस्या का तीव्र और विचलनकारी एहसास ही कवि को सौंदर्यशास्त्रीय समस्या की ओर ले जाता है। यानी जिंदगी में जो है—परिवर्तन या परिवर्तनहीनता, बदलाव या यथास्थितिवाद की पीड़ा वह कविता मे क्यों नहीं आती ? और अगर नही आती है तो जाहिर है कि जीवन के यथार्थ के साथ कविता का कोई रिश्ता नहीं रह गया यह रिश्ता बनाए रखना जरूरी

कविता जिंदगी के यथास्थितिवाद से टकराती है और इस प्रक्रिया में रचना के यथास्थितिवाद को तोड़ती है। जिंदगी के यथास्थितिवाद को तोड़ पाना कविता के बस की बात नहीं है। इस स्तर पर कविता की भूमिका बड़ी परोक्ष होती है। वह तो केवल इतना करती है कि जिन मोहक आवरणों से यथार्थ को आवृत्त किया गया है उन्हें हटा दे। उसका काम तो भेदिए का होता है, दुहरी जिंदगी जीने वाले उन लोगों के कारनामों के उद्‌घाटन का होता है जिन्होंने—

असली चेहरों को पकड़
चढ़ा दिया सूली
जासूस चेहरों से खोदते रहे रहस्य और षड्यंत्र
मुस्कराते हुए बतियाते रहे
सफेदी के आर पार।

लेकिन यथास्थितिवाद, जिसको लेकर नरेन्द्र मोहन अपनी बेचैनी व्यक्त करते हैं, कोई निर्दोष स्थिति नहीं है। वस्तुतः यह खतरनाक भी है और अमानवीय भी। हालांकि खतरनाक है सिर्फ उनके लिए जो समाज की निचली पायरी पर हैं—जो असुरक्षित हैं। उनके लिए नहीं जिन्हें दूसरों का रक्त पीने की सुविधा प्राप्त है—

घबराहट में स्तब्ध
मैंने देखा
मेरी रीढ़ की हड्डी
उसके हाथ में है
घुलती हुई मोम की तरह
सांचे में ढलती हुई
मैंने फटी आंखों देखा
सांचे से निकलती हुई सीढ़ी…
मैंने जोर से पूछा
हड्डी सीढ़ी में, सीढ़ी हड्डी में
कैसे तब्दील हो सकती है।

और सारे संघर्ष के बाद कवि ने एक पीड़ाजनक सच्चाई को पहचाना कि—

वह उतना ही ऊपर रहा
जितना मैं नीचे
सीढ़ी पर पांव रखने के पहले।

लेकिन कवि सामाजिक यथास्थितिवाद को नहीं तोड़ पाता। यह तोड़ पाना कविता से नहीं, कर्म से संभव होता है और स्वयं कविता उस प्रकार के कर्म की श्रेणी में नहीं आती। हां, इतना अवश्य है कि कवि उस यथास्थिति के विरुद्ध हमारे अंदर गहरा असंतोष जगाता है, उसके प्रति तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया पैदा करता है। जब नरेन्द्र मोहन कहते हैं कि—

रूपक क्यों ला रहे हो बीच में ?

तो उनका आशय कविता की भूमिका के एकांत निषेध से नहीं है। यदि कवि को 'रूपक'-रचना कर्म के प्रति ऐसा अविश्वास होता तो वह शब्दों की दुनिया मे प्रवेश ही क्यों करता ? यथास्थिति के विरुद्ध मुनासिब कार्रवाई के लिए उसके पास दूसरे विकल्प भी हो सकते थे। मसलन वह सीधे-सीधे राजनीतिक आंदोलनकारी की भूमिका को स्वीकार कर सकता था। अतः जब नरेन्द्र मोहन यथार्थ और आदमी के बीच रूपक लाने का विरोध करते हैं तो उनका विरोध वस्तुतः नये कवि की कविता संबंधी समझदारी से है। नये कवि के लिए यह रूपकात्मक-बिंबात्मक शब्दाभिव्यक्ति रचनात्मकता की पर्याय थी। लेकिन कठिनाई यह है कि शब्द की यह रचनात्मकता अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचकर प्रायः अपने आपको यथार्थ की चिंता से मुक्त कर लेती है। यानी उसमें कवि के मनस्तत्वों की अंतर्योजना का बोध तो रहता है लेकिन यथार्थ की पहचान में परोक्षता बढ़ जाती है। नरेन्द्र मोहन बुजुर्ग कवि की इस अंतर्मुखता को अपना ही शरीर नोचने की क्रिया के रूप में देखते हैं—

समर्पित रहे हम कहां
उंगलियों के आगे
नाखूनों की तरह उगे
वर्तमान को
छील सकते हैं जिससे
अपनी ही चमड़ी
और सारा जिस्म

नये कवि के लिए वस्तुएं वस्तुएं नहीं थीं। वे किसी भाव-विचार या मानव-चेतना के किन्हीं सूक्ष्म संयोजनों को रूपायित करने की सामग्री भर थीं। इस सामग्री की सार्थकता अपनी वस्तुमयता को खो देने में ही मानी गई थी। यही कारण है कि वस्तुओं को अपने मौलिक रूप में पाना नरेन्द्र मोहन की पीढ़ी के कवियों की रचनात्मक अनिवार्यता बन गई थी।

सन 1960 से 65 के बीच नई कविता अपने कलात्मक उत्कर्ष के चरम

बिंदु पर पहुंच चुकी थी। चरम उत्कर्ष की यह स्थिति ही उसके ठहराव की पर्याय है। नरेन्द्र मोहन इसे जीवन और रचना—दोनों ही स्तरों पर यथास्थितिवाद की स्वीकृति के रूप में देखते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने इस ठहराव की स्थिति को रचना के स्तर पर पहचाना था। वे लिखते हैं—"नई कविता में जो कुछ प्रयोग का तत्त्व था, वह भी किन्हीं ढीली-ढाली रूपविधाओं में सीमित होकर कुछ खूटियों में उलझ गया था। एक प्रकार से यदि देखा जाए तो नई कविता आज एक ठहराव की स्थिति में बार-बार एक वृत्त और परिधि की साक्षी बनकर रह गई है। आज यह भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि नई कविता के नाम पर जो भी नई से नई प्रवृत्ति जन्म लेती है, वह बार-बार एक प्रकार की रूढ़ि से दूसरे प्रकार की रूढ़ियों में जकड़कर ठंडी हो जाती है। किसी भी विधा में जब वह स्थिति आ चुकती है तब उसकी अंतिम परिणति उसकी निजी गतिहीनता में बदल जाती है। इस सिलसिले में वर्मा जी ने नई कविता के उस रूप को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जब उसमें रचनाधर्मी प्रयोगशीलता का साहस था। जब वह छायावादी काव्य-रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए अपनी अलग पहचान बनाने में जुटी थी। यानी जब उसमें "छायावादी कविताओं की अपेक्षा खराब कविताएं लिखी जा रही थीं। छायावादी सजावट की अपेक्षा भोंड़ी कविताएं लिखी जाती थीं···।"

लक्ष्मीकांत वर्मा स्वयं नये कवि और नई कविता के समर्थ व्याख्याकारों में से एक हैं। नई कविता को उन्होंने समझा था, सराहा था लेकिन जब नई कविता अपने नयेपन को, जीवनजन्य अन्वेषणशील आकुलता को खो बैठी तो उन्होंने उसकी तुलना में साठोत्तरी कविता को स्पृहणीय बताया। ऐसी कविता को जो कथन और कथ्य दोनों स्तरों पर अपनी अलग पहचान बनाने के संघर्ष में जुटी थी। अत: जब नरेन्द्र मोहन कहते हैं—

"आओ शब्दों को ढेलों की तरह उठाकर जरा गंवार बनना सीखें।" तो वे वस्तुत: उसी ऐतिहासिक असंतोष को शब्द देते हैं जो साठ के बाद के युवा कवियों को, जीवन और रचना में आ जाने वाले यथास्थितिवाद को तोड़ने के लिए उकसाता है। इन कवियों को यह एहसास हो गया था कि यथार्थ पर एक चिकनी पर्त चढ़ा दी गई है। स्वयं भाषा भी इस चिकनी पर्त का एक हिस्सा है। इसे तोड़े बिना यथार्थ को पहचानना असंभव है—

> "कहीं से तो शुरू करना ही होगा
> 'चिकने' और 'गोल' शब्दों को तोड़ने का क्रम
> भाषा और कविता को भी
> बनाना होगा अशुद्ध और भोंड़ा
> और उठाना होगा उस जमीन से

जहां शब्द की मार और धार
दिखे
नहीं, दिखे बेशक नहीं
कारगर होती चले
एक कार्यवाही की मानिंद।

लेकिन नरेन्द्र मोहन अपने समय के दूसरे कवियों से कुछ अलग हैं। उनमें अन्य युवा कवियों जैसा विद्रोही भाव नहीं है। उनका जीवन और कला विवेक उन्हें भंडाफोड़ किस्म का विद्रोही नहीं बनने देता। यह तो एक अनिच्छनीय स्थिति से दूर करने के लिए दूसरी अनिच्छनीय स्थिति को स्वीकार करना है। इस प्रकार का विद्रोह जीवन और रचना दोनों के लिए अहितकर सिद्ध होता है। भंडाफोड़ भाषा न केवल रचना विरोधी होती है बल्कि वह कभी-कभी कवि के अपने इरादे को आवृत्त करने का कारगर उपाय भी बन जाती है। नरेन्द्र मोहन में असंतोष है—कहें कि गहरा असंतोष है। लेकिन वे परिवर्तन चाहते हैं, विध्वंस नहीं। उन्हें अपने आवेग और असंतोष पर नियंत्रण रखना आता है। असंतोष जरूरी है, इसके बिना नये प्रस्थान की संभावना ही समाप्त हो जाएगी। लेकिन नरेन्द्र मोहन इस सच्चाई को जानते हैं कि आवेग, असंतोष या विद्रोह रचना के पर्याय नहीं हैं। रचना के लिए ये सब जरूरी हैं, उतने ही जरूरी जितना जरूरी विवेक और विचार। जहां यह संतुलन नहीं है वहां न तो कला होगी और न ही जीवन—

धरती सूखकर फट गई है
दरारें पड़ गई हैं
कभी यह नम और चमकीली थी
इसके दर्पण में रूप निहारते लोग
कौन जानता था तब
पानी उतर जाएगा।
दर्पण टूट जाएगा
दरारें शेष होंगी!

मैंने नरेन्द्र मोहन की कविता को नई कविता से अलग, भाषा के एक नये सयोजन की रचनात्मक तलाश के रूप में देखने का आग्रह किया है। लेकिन साथ ही इस तथ्य की ओर भी निर्देश किया है कि नरेन्द्र मोहन अपने आपको साठोत्तरी कवियों की एक जमात—भंडाफोड़ विद्रोहियों से अलग कर लेते हैं। हमारी इस मान्यता का एक निहितार्थ यह भी है कि नरेन्द्र मोहन अपने आपको सब कुछ का

विरोध करने वाली युवा मानसिकता से दूर रखकर किसी न किसी स्तर पर नई कविता की परंपरा से जोड़ते हैं। उनका यह जुड़ना उनकी कविता को एक रचनात्मक वैशिष्ट्य प्रदान करता है। ये उस आवेश को स्वीकार नहीं करते कि जो जब उतरता है तो जमीन में केवल दरारें ही छोड़ जाता है। लेकिन नरेन्द्र मोहन को नई कविता का यथास्थितिवादी सौंदर्यबोध और जीवनबोध भी ग्राह्य नहीं है। इसी कारण उनका रास्ता कठिन है। कठिन इसलिए है कि यह एक नये प्रकार के संतुलन की मांग करता है। विवेकपूर्ण स्वीकार और अस्वीकार के बीच से गुजरते हुए अपने लिए एक नये रास्ते की तलाश का आग्रह समाहित है इसमें। नरेन्द्र मोहन के रचनात्मक आग्रह उनकी कविता को कुछ महत्त्वपूर्ण परिणतियों की ओर ले जाते हैं। प्रथम तो यही कि उनकी कविता में दूसरे युवा कवियों जैसी विद्रोह की आरोपित मुद्राएं नहीं हैं, और न शब्द के साथ इस प्रकार का मौलिक आचरण है कि वह मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व और उसकी ऐतिहासिक चेतना से विच्छिन्नता का बोध जगाए।

इतिहास कवि के निजी जीवन का भी है और देश तथा समाज का भी है। नरेन्द्र मोहन ने अपने इतिहास को युग के इतिहास के साथ बखूबी एकाकार कर लिया है। वे न तो इतिहास को कवच की तरह पहनते हैं और न उसे सिर पर लादे गए अवांछनीय बोझ की तरह ढोते हैं। वह उनके अस्तित्व का एक हिस्सा है। वह जितना जटिल है उतना ही बोधगम्य, जितना दर्द जगाने वाला है उतना ही आश्वस्त करने वाला भी, जितनी धूमिल कुहरिलता है उसमें उतना ही साफ दिशाबोध भी। उसमें खोने और पाने की तड़फ एक साथ जीवित है—

मुझे तलाश है
नदी की
एक नदी मैं छोड़ आया
लाहौर बचपन में
कहते थे जिसे रावी।
एक नदी कहते थे जिसे यमुना
अब कहां है ?

नरेन्द्र मोहन जिन नदियों के नाम गिनाते हैं वे सिर्फ नदियां न होकर हमारी सांस्कृतिक चेतना की प्रतीक हैं। अत: जब वे दिल्ली में रहकर पूछते हैं—

कहते थे जिसे यमुना
अब कहां है ?

तो उनकी रावी या यमुना की तलाश एक खोई हुई धीरे-धीरे खोती जाने

वाली—सांस्कृतिक चेतना का पर्याय बन जाती है।

इन नदियों के खोने की प्रक्रिया में जो पाया गया है, वह है शहर। जाहिर है कि शहर कवि का आश्रय स्थल न है और न हो सकता है। शहर एक संवेदनहीन स्थिति-परिस्थिति का, मनुष्य की आंतरिकता के धीरे-धीरे मरते जाने का पर्याय है। कैसी विडंबना है कवि के जीवन की जब वह कहता है—

जी हां शुरू से काटने को दौड़ता था शहर
और मैं मायूसी से भर उठता था
हर घटना दुर्घटना का चश्मदीद गवाह बनना चाहता था।
मेरी आदत थी भावुक होना
अब नहीं होता
घटनाओं दुर्घटनाओं के बीच गुजरता हूं रोज
और खिसक जाता हूं चुपचाप।

यह खिसकना वर्तमान से खिसकना नहीं है, और न नदियों को याद करना प्रकृति या ग्रामीण संस्कृति के प्रति नॉस्टेल्जिक आकर्षण का ही पर्याय है। ऐसा विचारहीन भावावेश नरेन्द्र मोहन की कविता में नहीं है। नरेन्द्र मोहन वस्तुओं और वस्तु-स्थितियों को अपेक्षाकृत अधिक तटस्थता—अधिक निरावेग ढंग से ग्रहण करते हैं। उनमें एक गहरे किस्म के आत्मालोचन का भाव है जो उन्हें अपने समय के—अन्य युवा कवियों से अलग करता है। नरेन्द्र मोहन ऐसे विद्रोही नही हैं कि समूची संस्कृति को ही नकार दें। हां, युवा कवियों की मानसिकता के सदर्भ में यह आशंका पैदा हो सकती है कि विकृतियों के बीच रहकर संस्कृति के लिए ऐसा प्रबल आकर्षण कहीं कवि का अनापेक्षित मानसिक विक्षेप तो नहीं है ? यानी यह एक प्रकार की आत्मवंचना भी लग सकती है। यह वंचना पिछली पीढ़ी के कवियों में होती तो क्षम्य थी, लेकिन आज के युवा कवि में उसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है। गुजराती के महान् सर्जक उमाशंकर जोशी के युधिष्ठिर कहते हैं कि नर्क का अस्तित्व है, यह जानने के बाद मैं स्वर्ग में चैन से कैसे रह सकता हूं। नरेन्द्र मोहन की स्थिति इससे एकदम उलटी है। यह जानने के बाद कि संस्कृति का अस्तित्व था, वे विकृतियों को कैसे स्वीकार कर सकते हैं। उनका इतिहासबोध उनके अंदर एक नैतिक बल पैदा करता है—

देश के नक्शे में नहीं है वह नदी
न सही,
नक्शे में न होना इतिहास में न होना कैसे मान लूं।
रावी को अपने भीतर

बहने से कैसे रोक लूं
उसकी उपस्थिति के एहसास और इतिहास को
कैसे नकार दूं ?

वे बड़ी संजीदगी के साथ अनुभव करते हैं—

अंतरात्मा को हड़प
एक खोह बराबर चौड़ी हो रही है
और लम्बी और गहरी हो रही है।

नरेन्द्र मोहन की कविता में राजनीति का संदर्भ बहुत मुखर होकर आया है। हमारे देश में एक राजनीति देश की स्वतंत्रता की थी—एक स्वतंत्रता के बाद की है। स्वतंत्रता के बाद की राजनीति हमारे देश के सर्वव्यापी नैतिक विघटन की परिचायक है। नरेन्द्र मोहन इस विघटन की पीड़ा को पहचानते हैं उसे अपनी कविता का विषय बनाते हैं। इसलिए कि आज उससे अपने आपको बचाए रख पाना किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए असंभव है। नरेन्द्र मोहन उस धूर्त, मक्कार और चालाक आदमी को पहचानते है जिसमें आज के राजनेता का बिंब आकार ग्रहण करता है। वह सब कुछ को चौपट किए दे रहा है—व्यवस्था को, मूल्यों की पहचान को और मानवीय संबंधों की ऊष्मा तथा आंतरिकता को भी। कवि को इस व्यक्ति के प्रति गहरा आक्रोश है। यूं हमारे समाज में आक्रोश व्यक्त करने वाले लोगों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। तब सवाल उठता है कि सही ढंग से सोचने वाले व्यक्तियों की इतनी बड़ी संख्या होने के बावजूद यह विघटन रुक क्यों नहीं पा रहा है ? इस सवाल के उत्तर की खोज के सिलसिले में ही कवि अपने अंदर झांकता है—आत्मखोज करता है और पाता है कि दोष केवल उस गलत आदमी का ही नही है बल्कि कहीं न कहीं हम स्वयं भी इस स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। सारे का सारा संघर्ष जैसे अपनी निजी स्वार्थ सिद्धि की पूर्ति का एक बहाना बनकर रह जाता है—

गुस्से में मिली लार की तार देख
वह भांप गया था
और उसने मुझे हड्डी दिखाकर
पटरी बिछा दी थी
मैं वार्तालाप के लिए आतुर होता गया था
और वार्तालाप के अयोग्य बनता गया था।

नरेन्द्र मोहन के अनुभव की दुनिया अपेक्षाकृत दहशत भरी है। स्थिति यह है कि

फैलता जा रहा है घेरा
दिनोंदिन
कसता जा रहा शिकंजा
दिनोंदिन ।

उत्तरोत्तर कसता हुआ शिकंजा कभी-कभी आदमी को संशयवादी बनाकर छोड़ देता है। नरेन्द्र मोहन अगर संशयवादी नहीं बने हैं तो इसलिए कि उन्होंने इस घेरे से बाहर निकलने के मार्ग की खोज की आशा नहीं छोड़ी है। 'एक अग्नि-कांड जगह बदलता' का कथानायक अत्यधिक भयावह और त्रासद स्थितियों का सामना करते हुए घिसटता हुआ बढ़ रहा है—

उस जवान की ओर
जिसकी आंखों में आग है
वह उसकी पीठ थपथपा रहा है
कोई और रास्ता नहीं है क्या ?

जब तक कोई और रास्ता खोजने की इच्छा और प्रयत्न समाप्त नहीं होते तब तक हालात के सुधरने, उनमें जरूरी परिवर्तन की संभावना बनी रहती है। यह सच है कि नरेन्द्र मोहन के पास आज की व्यवस्था के विकल्प का कोई मुकम्मिल नक्शा नहीं है, कुछ अंशों में उनके विश्वबोध की यह एक मर्यादा भी है। लेकिन क्या सचमुच ऐसा है कि नरेन्द्र मोहन की कविता के पास भविष्य के लिए कोरे संकेत ही न हों? सच्चाई यह है कि कवि द्वारा प्रस्तुत किए गए भविष्य के नक्शे का संकेत इस बात से मिलता रहता है कि वह वर्तमान की किन स्थितियों को अपने लिए, या मानव समाज के लिए असुविधाजनक पाता है। वस्तुत: नरेन्द्र मोहन की कविता में प्रकट होने वाली मानवीय चिंताएं कवि के मानसिक गठन का जो नक्शा प्रस्तुत करती हैं, उससे हम आश्वस्त हुए बिना नहीं रहते।

नरेन्द्र मोहन के लिए रचनाकर्म एक दायित्वपूर्ण कार्य है। उनका यह दायित्वबोध उनकी कविता की संरचना को गहरे रूप में प्रभावित करता है। इसके रहते वे भाषा के प्रति कभी भी अगंभीर रुख नहीं अपनाते। भाषा के प्रति उनकी यह अतिरिक्त सावधानी सर्वत्र दिखाई देती है। यहां तक कि जब वे वर्तमान सभ्यता के अपेक्षाकृत विचलनकारी असुविधाजनक प्रदेशों में प्रवेश करते हैं तो भाषा का एक खास किस्म का अनुशासन बनाए रखते हैं। उनकी भाषा कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कह देती है। कुछ उदाहरणों से यह बात

स्पष्ट हो जाएगी—

(1) और एक न्यायमूर्ति...
दूध-का-दूध
पानी-का-पानी
पीछे टंगे महात्मा गांधी
मुस्करा रहे हैं।

(2) जनता के लिए
आपकी जवाबदेही है।
आपको जतनपूर्वक ओढ़नी है चादर
और धर देनी है ज्यों-की-त्यों
जनता के सामने
अगले चुनाव में।

पहली पंक्तियों में कवि न्यायाधीश के आचरण के बारे में पूरी समझदारी के साथ चुप है। जैसे न्यायालय और न्यायाधीश के बारे में कुछ न बोलने की नैतिक और वैधानिक मर्यादा को उसने स्वीकार कर लिया है। लेकिन महात्मा गांधी के टंगे होने में समाहित व्यंग्य बड़ा ही तीखा और धारदार है। ऊपर से रोजमर्रा की व्यावहारिक और कामचलाऊ ढंग की दिखने वाली भाषा की व्यंजना में यथार्थ को पर्त-दर-पर्त खोलते जाने की क्षमता हमें चमत्कृत किए बिना नहीं रहती। महात्मा गांधी व्यक्ति न होकर जीवनमूल्यों के पर्याय हैं, ऐसे जीवनमूल्यों के जो देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में—करो या मरो की लड़ाई में बड़े से बड़े त्याग या बलिदान के प्रेरक बल थे। जाहिर है कि इस प्रकार के मूल्य असुविधाकारक होते हैं। लेकिन यहां वे मुस्करा रहे हैं, क्योंकि उन्हें खूंटी पर टांग दिया गया है। इसी प्रकार दूसरी पंक्तियों में आया हुआ शब्द 'जतनपूर्वक' का व्यंग्य एक कौंध की तरह वस्तुस्थिति पर इस तरह रोशनी डाल देता है कि यथार्थ की भीतरी पर्तें अनावृत होती चलती हैं।

'जतनपूर्वक' और 'चादर' में एक ओर विद्रोह की प्रतिमूर्ति कबीर हैं और दूसरी ओर नैतिक लिजलिजेपन के पर्याय हमारे समय के राजनेता। लेकिन यहा दो परस्पर विरोधी वस्तु तत्त्वों को आमने-सामने लाकर रखने की कोई सायास योजना नहीं है। अर्थ की दूसरा पर्त भाषा में सहज भाव से समाहित है—सृजनशीलता की शर्त की तरह। कहना न होगा कि यह तत्त्व नरेन्द्र मोहन की काव्य-भाषा को एक अतिरिक्त दीप्ति प्रदान कर देता है।

लेकिन एक दूसरे स्तर पर यह वैशिष्ट्य ही नरेन्द्र मोहन की कविता की मर्यादा भी बन जाता है। नरेन्द्र मोहन जानते हैं कि कभी-कभी शब्दों के साथ गवारू हरकतें, शब्द की मूलभूत और अपेक्षाकृत तीखी व्यंजनाओं को उभार देती हैं, लेकिन वे ऐसा कर नहीं पाते। उनकी अपनी सांस्कृतिक अभिरुचि उनकी इस संकल्पना के आड़े आती है। यह नहीं कि वे भाषा के द्वारा चोटें न करते हो या उनकी भाषा चोटें करने में सक्षम न हो लेकिन वह एक तार्किक या बौद्धिक व्यक्ति की सक्षमता है—आदिम और उद्दाम भावनाओं से प्रेरित आवेशनात्मक सक्षमता नहीं है वह। जब वे कहते हैं—

वैसे निराश न हों आप
उठाता हूं अब भी
नुकीला पत्थर
मुहावरे में

तो वे पत्थर के भारीभरकमपन, कठोरता यानी उसके पत्थरपन का उपयोग नही करते। वे बड़ी सावधानी के साथ उसका निरीक्षण करते हैं और उसी पत्थर का उपयोग करते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक नोंकदार हो—ऐसा शब्द जिसमे अधिक सूक्ष्म, अधिक धारदार व्यंजनाएं समाहित हों। लेकिन हमने यदि इसे कवि की मर्यादा के रूप में देखा है तो इसलिए कि कभी-कभी सांस्कृतिक बोध की अतिशयता कवि को अनजाने ही पश्चगामी बना देती है। मसलन, जब नरेन्द्र मोहन व्यवस्था के विरुद्ध झूठी लड़ाई लड़ने वालों पर व्यंग्य करते हैं तो उनके तेवर चढ़ जाते हैं, उनकी भाषा में तीखापन आ जाता है, लेकिन ऐसे में भी वे अपने आप पर नियंत्रण बनाए रखते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों पर ध्यान दें—

डालते रहते हैं वे पाजामों में
सलवारों के नाड़े।

हम जानते हैं कि नरेन्द्र मोहन का आशय क्या है, लेकिन कविता की भाषा कवि के उस आशय को प्रकट नहीं करती। वे उन झूठे विद्रोहियों को एक तीखी गाली देना चाहते हैं, लेकिन देते नहीं, यह काम उनकी रुचि के व्यक्ति से हो ही नही सकता। वे उस बात को संकेतों में कहना चाहते हैं और इस प्रक्रिया में भाषा की व्यंजना बदल जाती है। पाजामा पुरुषों का वस्त्र है और सलवार स्त्रियों का। किसी पुरुष का सलवारों का नाड़ा पाजामें में डालना उसके जनानेपन का परि-चायक है। हम जानते हैं कि नरेन्द्र मोहन का आशय स्त्रियों को अपमानित करना नहीं है, लेकिन यहां कवि का सांस्कृतिक आभिजात्य उसकी एक मर्यादा बन गया है। पर हम यदि नरेन्द्र मोहन की इस मर्यादा को नजरंदाज करके चलते हैं

तो इसलिए कि आज जब प्रदर्शनकारी नग्नता को ही सृजनकर्म के रूप में खपाने की होड़ लगी हो वहां किसी कवि का अपने ऊपर इस प्रकार अनुशासन बनाए रखना अपने आप में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि उनके प्रयत्न नई कविता के यथास्थितिवाद को तोड़ते हैं, समकालीन कविता के भावबोध के विकास में जिन कवियों का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाएगा उनमें एक नाम नरेन्द्र मोहन का भी रहेगा।

राजनीति का विपक्ष

—डॉ० सुखवीर सिंह

नरेन्द्र मोहन का प्रथम काव्य-संकलन 'इस हादसे में' सन् 1975 में प्रकाशित हुआ और दूसरा, 'सामना होने पर' 1979 में। और तीसरा 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' 1983 में। एक लंबी कविता 1981 में 'एक दूसरे से अलग' संकलन में 1981 में प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक है—'एक अग्निकांड जगह बदलता'। इस प्रकार इनकी काव्य-चेतना का बीजारोपण, पल्लवन और पुष्पन मोटे रूप से आठवें दशक के परिवेश में ही हुआ। यह परिवेश अनेक दृष्टियों से सातवें दशक का बढ़ाव होते हुए भी कई मायनों में उससे अधिक मायावी हो उठा है।

राजनीति के क्षेत्र में यह समय, इंदिरा गांधी और गैर-कांग्रेसवाद के परस्पर टकराव का समय है। नेहरू और शास्त्री के समय में जो आदर्श, स्वप्न और मूल्य, समन्वयवादी चेतना से निसृत थे, वे अब लगभग समाप्त हो चुके थे। आदर्शों का स्थान अब उद्देश्य ने ले लिया था, जिसकी प्राप्ति के मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को घटिया से घटिया और ओछे हथियार से दूर करना भी गलत नहीं समझा गया। सत्ता और समृद्धि पर कब्जे के लिए सभी मूल्यों को ताक पर रख दिया गया और मूल्यहीन फूहड़ता का प्रचलन हुआ। 1969 का कांग्रेस विभाजन, भारत के राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमंत्री की दल विरुद्ध, परंपरा-विरुद्ध भूमिका, बंगलादेश के लिए युद्ध, इलाहाबाद हाई कोर्ट का प्रधानमंत्री के विरुद्ध निर्णय और उसकी प्रतिक्रिया में देश पर आपात स्थिति को लाद दिया जाना, आदि घटनाएं इसके उदाहरण हैं। आपातकाल की भयावह स्थितियां अनेक वर्षों तक लोगों की चेतना को आक्रांत करती रहेंगी। इसके बाद जनता शासन में कुर्सी के लिए जो सर्वाधिक घटिया नौटंकी प्रस्तुत की गई, वह भी सभी इस काल में राजनेताओं ने एक मूल्य मान लिया था। सत्ताधारी का क्रूर, मायावी तथा स्वार्थलिप्त चेहरा इन दिनों एकदम नंगा होकर सामने आ गया।

सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में यह दशक बीच की जातियों के उत्थान का दशक

है। खेती से जुड़ी हुई ये जातियां अपनी आर्थिक ताकत के बल पर राजनीतिक ताकत प्राप्त करने के लिए सक्रिय हुईं। इसका असर ब्राह्मण-ठाकुर जैसी उच्च-जातियों पर तो अधिक नहीं पड़ा, किंतु दलित वर्ग इनका सीधा निशाना बना। दलित वर्ग पर अत्याचार बढ़े। उनका शोषण बढ़ा। बीच की जातियों को अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के लिए यही वर्ग सर्वाधिक योग्य था क्योंकि इसके पास न जमीन थी, न धन, न सत्ता, और न हथियार। इसीलिए बेलछी, आगरा, कंझावला, पंतनगर, देवली, साढ़ूपुर आदि की घटनाएं प्रकाश में आईं। इन घटनाओं के पीछे जातीय स्वाभिमान की भावना के साथ-साथ आर्थिक समानता का विरोध और शोषण की परंपरा की हिमायत का भाव प्रमुख था। ग्रामीण परिवेश में जब इस प्रकार की वैमनस्य की आग जल रही थी, तभी नगरों में मंझोले उद्योगपतियों का दबदबा बढ़ रहा था। राजनेता के साथ गठजोड़ करके ये लोग बाजार पर अपना पूरा शिकंजा कस चुके थे। इससे न केवल कमरतोड़ महंगाई बढ़ रही थी, बल्कि कामगार के शोषण का हथियार भी तेज हो रहा था। श्रमिक के अधिकारों और सुविधाओं में निरंतर कटौती, हड़ताल पर पाबंदी आदि इसी दिशा में उठे हुए कदम थे। इसके साथ ही धनकुबेरों ने सरकार के साथ मिलकर बेरोजगारी का ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि श्रम को उचित पारिश्रमिक मिलना मुश्किल होता चला गया। इसीलिए भारत का शिक्षित नौजवान केवल पेट की आग को शांत करने के लिए ही सुबह से शाम तक सस्ते भाव में अपना श्रम बेचने को मजबूर हुआ। बेरोजगारी को शिक्षा की देन मानकर, शिक्षा पर खर्च होने वाले बजट में निरंतर कटौती की जाती रही। कागज के दामों में निरंतर वृद्धि से शिक्षा और साहित्य को महंगा किया गया। समाज में, गलत या सही, किसी भी प्रकार से धन कमा लेने से व्यक्ति का सम्मान बढ़ा। पूंजीवादी व्यवस्था की रीढ़ ही धन है जो बाजार में एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु है। उसके सामने सभी कुछ तुच्छ है। इसीलिए धन-प्राप्ति धन हड़पना आदि के लिए आपाधापी से भ्रष्टाचार, तस्करी, गुंडागर्दी, आदि का प्रचार हुआ और इन तुच्छ मूल्यों को, समाज विरोधी गतिविधियों को भी सम्मान की निगाह से देखा जाने लगा। इस कार्य में राजनेता और व्यापारी की पुलिस-तन्त्र ने पूरी-पूरी मदद की। इसीलिए पुलिस का दबदबा और आतंक बढ़ा तथा जनता अधिकाधिक निरीह, दयनीय और आतंकग्रस्त होती चली गई।

इन्हीं अमानवीय परिस्थितियों में कविता ने अनुभूति के विरुद्ध विद्रोह किया और विचार कविता का झंडा बुलंद किया गया। 'संचेतना' के विचार-कवितांक से इस प्रवृत्ति का प्रारंभ माना जाता है। नरेन्द्र मोहन इस प्रवृत्ति के अग्रणी कवियों में रहे। इस आंदोलन की पृष्ठभूमि तो वैसे 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन से ही शुरू हो जाती है। इस संकलन के साथ ही हिंदी कविता में 'क्षणवाद' के

साथ-साथ विचार का महत्त्व भी स्वीकारा गया, काव्यानुभूति के स्थान पर काव्य-चिंतन की चर्चा शुरू की गई। इसके बाद 'प्रारंभ' (1963) में व्यक्तिवादी व्यथा की अपेक्षा सामूहिक आक्रोश के काव्य को प्रकाशित किया गया। 'अभिव्यक्ति' (1964) की कविताओं में विद्रोह, साहस, और सहजता का भाव विद्यमान है। इसी काल में कविता रोमानियत से मुक्त होती हुई दिखाई देती है। परंपरा से विद्रोह करती है। और यह सभी कुछ 'विचार' की चमक से ही संभव हुआ। अनुभूति में प्रायः कच्चापन रहता है। बिना युग-यथार्थ के अनुभूति की प्रामाणिकता संदिग्ध रहती है। अनुभूति व्यक्ति को आग्रही बनाती है, जबकि विचार तटस्थता देता है। कविता को अपनी सही भूमिका निबाहने के लिए सीधा परिवेश से जुड़ना पड़ा, युगबोध के प्रभाव का आकलन करना पड़ा और यह काम अनुभूति द्वारा संभव नहीं था। इसके लिए तो आत्म-प्रसार के स्तर तक विचार के धरातल को स्वीकार करना आवश्यक था। व्यक्तिवादी अनुभूति से कविता केवल एक सीमित वर्ग की चीज बनकर रह जाती है, जबकि विचार का स्तर एक ऐसी समझ को विकसित करता है जिसमें सामाजिक धरातल पर मानव मूल्यों का आकलन करना पड़ा और यह काम अनुभूति द्वारा संभव नहीं था। इसके लिए तो आत्म-प्रसार के स्तर तक विचार के धरातल को स्वीकार करना आवश्यक था। व्यक्तिवादी अनुभूति से कविता केवल एक सीमित वर्ग की चीज होकर रह जाती है, जबकि विचार का स्तर एक ऐसी समझ को विकसित करता है जिसमे सामाजिक धरातल पर मानव मूल्यों का आकलन निहित रहता है। व्यक्तिवाद में अहंभाव प्रबल रहता है जो व्यक्ति के मानसिक क्षितिज को छोटा करता है जबकि व्यक्तित्ववाद में कवि अपनी समस्त मनीषा को समूह की चिंता के लिए समर्पित कर देता है। यह चिंतन वैचारिक विकास के द्वारा ही संभव है जिसका रूप कविता में व्यंग्य के माध्यम से भी उभरता है।

राजनीति की अमानवीयता—नरेन्द्र मोहन की कविता का तेवर मूलतः राजनीतिक है जिसमें अनुभूति की बजाय वैचारिकता की दीप्ति विद्यमान है। यह राजनीतिक विपक्ष की कविता है। विकल्प के खोजने की कविता है। सर्वग्रासी राजनीति के क्रूर शिकंजे से मुक्ति की छटपटाहट इसमें विद्यमान है। राजनीतिक छद्म को उजागर करते हुए कवि कहता है :

मैं नहीं मान सकता कि आपकी चमड़ी है ही नहीं/
हाँ यह जरूर है कि आपने साधना द्वारा इतना
सख्त बना लिया है इसे कि/
बड़े धमाके के बिना कोई हरकत नहीं होती।

(सामना होने पर)

हालात की अमानवीयता से निस्पृह राजनेता की धूर्तता पर वह चोट करता है :

> लेकिन हालात इस कदर बिगड़ जाने पर भी
> आप धूर्तता से मुस्कराते हुए चुप रहें
> यह कहां की तमीज है। (इस हादसे में, पृ०-9)

झूठे आश्वासन और सतही नाटकीयता के अंतर्गत ओढ़े गए अनेक मुखौटों का प्रयोग राजनेता जनता को बहलाने-फुसलाने के लिए कर रहा है, इससे भी कवि परिचित है :

> मुझे याद है आपने इसे
> राष्ट्रीय हित के तौर पर
> इस्तेमाल किया था
> एक गोष्ठी में छाती फाड़कर दिखा दी थी कि
> भवन में दरार पड़ जाने पर कैसे
> आपके दिल में फफोले पड़ जाते हैं। (इस हादसे में, पृ०-9)

इस जनतंत्र में वोट की राजनीति के अंतर्गत केवल चुनाव ही प्रमुख होकर रह गया है, और वह भी मात्र ढकोसला बनकर ही रह गया है। चुनाव में जीत जाने के बाद निर्वाचित नेता यह भूल जाता है कि :

> जनता के लिए आपकी भी जवाबदेही है
> आपको जतनपूर्वक ओढ़नी है चादर
> और धर देनी है ज्यों की त्यों
> जनता के सामने
> अगले चुनाव में। (इस हादसे में, पृ०-9)

ऐसे चरित्र के नेता की आंतरिक क्रूर प्रवृत्तियों का उपहास करते हुए कवि कहता है :

> देखो, कुर्सी की शान होती है।
> एक गौरव
> और इसके लिए
> आदमी और मुरदे में
> जितनी तमीज कम कर सको बेहतर है। (इस हादसे में, पृ०-13)

सेवा भाव से लिजलिजी मुद्रा में हाथ जोड़कर आने वाले राजनीतिकर्मी से कवि का संवाद इस प्रकार है :

मैं कैसे मान लूं कि नजाकत का अहसास आपको नहीं है।
आप जिस झाड़ू को लेकर सफाई के इरादे से निकले हैं
उस झाड़ू के बारे में चालाकी न बरतें
झाड़ू को उसका काम करने दें।
पर एक आप हैं जो दो-चार हाथ इधर-उधर चलाकर
झाड़ू को कुर्सी में बदल देते हैं। (सामना होने पर, पृ०-66)

लोकतंत्र में आम आदमी की हालत क्या है ? देश क्या बनकर रह गया है ? इस पर कवि की टिप्पणी है :

सारा देश/चींटियों से त्रस्त एक हाथी है
जिसके पांव दलदल में फंसे हैं
जनता/लोकतन्त्र की कीचड़ में लथपथ
खड़ी है मुंह बाए। (इस हादसे में, पृ०-54)

आम जनता 'गोबर-भूमि में सड़ रही है। खाद बन रही है।' या हक मांगने पर 'गोली खाकर धराशायी हो रही है।' किन्तु इस बात का 'पक्का बंदोबस्त है कि कोई भी सुराग ऐसा न मिले कि देश का संचालन कहां से हो रहा है।' जबकि :

नक्शे का कभी एक कभी दूसरा
भाग जलता हुआ दिखता रहा
एक अग्निकांड
जगहें बदलता रहा। (इस हादसे में, पृ०-26)

व्यवस्था को संरक्षण मिल रहा है राजनीति से और इसीलिए व्यवस्था का रूप अधिक आततायी और मायावी होता चला जा रहा है। इसके चरित्र को समझ लेना आसान नहीं है। विषबीज की तरह प्रत्येक शरीर में फैली हुई इस व्यवस्था को दबोचना असंभव-सा ही है। (इस हादसे में, पृ० 50)

व्यवस्था का विरोध—पूंजीवादी व्यवस्था के वर्तमान चरित्र को पहचान लेने के बाद व्यक्ति के पास सहज रूप से दो विकल्प रह जाते हैं। पहला तो यह कि व्यवस्था का अंग बनने का प्रयत्न करे। 'सेवकराम' बनकर व्यवस्था के सामने दुम हिलाए और उसके लोभों में हिस्सेदारी प्राप्त करने का प्रयत्न करे। व्यवस्था ऐसे व्यक्ति को मोहित करने के लिए बहुत कुछ अपने पास रखती है। ऐसे व्यक्ति ही प्रायः समाज में समझदार और सम्मानित कहे जाते हैं। ये लोग जानवर की तरह केवल अपना पेट और पेट के नीचे के अंग को ही संतुष्ट रखने का प्रयत्न

करते हैं। दूसरा विकल्प है इस व्यवस्था की अमानवीयता, क्रूरता का विरोध करना। व्यक्ति की अपेक्षा समूह के हित में इसके चेहरे पर से मानव-सहानुभूति के नकली मुखौटे को नोचने का प्रयत्न करना। क्रांति के लिए प्रयत्न करना।

किंतु एक तीसरा विकल्प भी है, जिसे प्रायः बुद्धिजीवी लोग अपनाते है। यह व्यवस्था के लाभ प्राप्त करने का सरल, संक्षिप्त एवं सुगम रास्ता है। इस रास्ते पर चलने वाला बुद्धिजीवी पहले तो व्यवस्था को गाली देता है—राजनेता, पूंजीपति आदि सभी को। और फिर चुपके से उसमें धंस जाता है। इस प्रवृत्ति के विद्रोहियों पर व्यंग्य करते हुए नरेन्द्र मोहन कहते हैं :

व्यवस्था के विरुद्ध खुली
लड़ाई लड़ते हैं वे
और एक-दूसरे को चांटे लगाते हुए
धंस जाते हैं खोहों में। (इस हादसे में, पृ०-57)

व्यवस्था के नकली विरोधियों का स्वार्थमय चरित्र उजागर करते हुए कवि संकेत करता है।

आपने देखा नहीं क्या अभी-अभी जो शब्दों में हवा भरकर पूरे तंत्र का चुनौती दे रहे थे। वे अब भक्ति-भाव से लिसलिसाते हुए व्यवस्था भवन में घुस गए हैं या उसमें अपने लिए सुराख ढूंढ़ने लगे हैं। (सामना होने पर, पृ०-36)

विरोध की एवज में मामूली से लाभ प्राप्त कर अपने-आप को व्यवस्था के हाथों गुलामी के लिए सौंप देने वाले लोगों पर कवि का तीखा व्यंग्य देखने योग्य है।

तुम्हें याद किया जाएगा/आने वाली पीढ़ियां/तुम्हारे साहस की कद्र करेंगी कि तुमने व्यवस्था को/एक मोटी और भद्दी गाली दी थी/और व्यवस्था ने एक हसीना के अंदाज में/संकेत दिया था'''आओ, प्यारे लाल, आओ और तुम हसीना के चरण चुंबन में निमग्न हो गए थे/पूरी तरह बिछ गए थे/उसके लिए।

(इस हादसे में, पृ० 43)

इसी क्रम में नरेन्द्र मोहन ने कवि नागार्जुन की भी खिंचाई की है, जो आपात-काल के लागू करने पर सत्ता को गाली देते हुए जेल गए थे और बाद में जेल से छूटने पर उन्होंने साहित्य अकादमी में दूसरे प्रकार की रचनाएं प्रस्तुत कीं। इसी संदर्भ में कवि 'सामने जलते हुए भवन' की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार का विद्रोह वास्तव में विद्रोह नहीं है, बल्कि इसे विद्रोहाभास कहना चाहिए। राजीव सक्सेना ने इस प्रकार के विद्रोहाभास का चरित्र स्पष्ट करते हुए कहा है, ऐसा विद्रोह वे ही लोग करते हैं जो अपनी सामाजिक सुरक्षा को बनाए रखते हुए केवल उन्हीं प्रश्नों को छूते हैं जिनसे उनकी स्थिति निरापद हो। यह

वस्तुत: राज्याश्रय या सेठाश्रय में सुरक्षित बैठने की आकांक्षा रखने वालों का विद्रोह है। किंतु इस प्रकार के थोड़े-बहुत उदाहरणों की आड़ में सभी संगठित संघर्षों पर प्रहार करना, सभी में अनास्था प्रकट करना, अथवा सभी को बेईमान समझकर अविश्वास प्रकट करने से भी सही विद्रोह को नुकसान पहुंचता है। इसलिए व्यक्ति विद्रोह के स्थान पर संगठित विद्रोह का महत्त्व अधिक हो जाता है। ऐसा विद्रोह स्थितियों की सही समझ से प्रेरित होता है। जब यह समझ लिया जाए कि—

> दरख्त, जिसकी शिराओं में मेरा रक्त बहा।
> पर फलों का मालिक हमेशा वही रहा। (इस हादसे में, पृ० 39)

तभी मन की बेचैनी संघर्ष का रूप धारण करती है और एक ज्वलंत प्रश्न यह पैदा होता है कि—

अगर तुम मुझे तिलिस्मी गुहाओं में ले जाने के लिए आजाद हो तो मेरे लिए। क्यों निषिद्ध ठहराते हो ऊबना। ऊब को विद्रोह मे बदलना और हिंसक व्यवहार करना। (इस हादसे में, पृ० 31)

यह विद्रोह की सही प्रक्रिया है जो शोषक के रूबरू होकर यह कहने के लिए बाध्य करती है कि—

> मुझे इस हालत में पहुंचाकर
> आप निर्लिप्त और निरापद बने रहेंगे
> और मैं शान्ति पाठ करता रहूंगा
> यह मुमकिन नहीं है। (इस हादसे में, पृ० 11)

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नरेन्द्र मोहन की विद्रोही चेतना वामपंथी या दक्षिणपंथी चौखटे में फिट नहीं बैठती। वामपंथी तेवर के अनुकूल इसमें आम जनता के शोषण, विषमता और दयनीयता का तो चित्रण है, किंतु मुक्ति के लिए उनके संगठित संघर्ष का संकेत नहीं है। संघर्ष विद्रोह का स्तर उनका वैयक्तिक ही है। इसका आशय यह है कि वे व्यक्ति को समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई मानते हैं और व्यक्ति विद्रोह के ही अंततः सामाजिक विद्रोह में बदल जाने की उम्मीद करते हैं।

सामाजिकता—समाज प्राय: दो हिस्सों में बंटकर सामने आता है। एक अपना समीपी पारिवारिक समाज और दूसरा जातियों या वर्गों में बंटा हुआ समाज। नरेन्द्र मोहन की कविता में व्यक्तिगत परिवार की संवेदना नहीं के बराबर है। न इसमें प्रेमिका है, न पत्नी। न संतान और न संबंधी। यदि थोड़ा-सा है भी तो केवल पूर्व स्मृति के रूप में और वह भी केवल मां तथा पिता। 'मां' अधिक, पिता कम। कुछ विशिष्ट स्थितियां हैं जिनमें 'मां' याद आती है।

एक मायावी तंत्र में जकड़ा। कातर चुप्पी में गुम।
भभक उठता हूं कभी-कभी। तो याद आती है मां।

(सामना होने पर, पृ० 42

पूर्व स्मृति एक स्थान से जुड़ी है, जिनमें पहले के संदर्भ जीवित हो उठते तो मां-पिता याद आते हैं—

एक कस्बा मेरी रगों में दौड़ने लगा है। दोबारा वर्षों बाद
चीजें अपनी-सी लगने लगी हैं। मकान, बाजार, गलियां
पहचानी-सी…?
पुराने उजड़े बड़े गिरजाघर की पिछली सड़क से जाते हुए
किशोरावस्था से लिपटे तमाम प्रसंग याद आते हैं।
× × ×
मां के घुटनों का कभी न खत्म होने वाला दर्द
पिता की चरम हताशा, तनाव और घबराहट और
हुक्के की लगातार गुड़गुड़ में रुका थमा मैं।

(सामना होने पर, पृ० 47)

ये रुके हुए, ठहरे हुए से चित्र हैं। इनमें किसी प्रकार की सक्रियता नहीं है। किंतु इसी से यह संकेत मिल जाता है कि कवि कहीं-न-कहीं अभी भी अपने-आपको वंश-परंपरा से जुड़ा हुआ पाता है। किंतु सामाजिक परंपरा में वह किस वर्ग का पक्षधर है, इसका संकेत भी मिल जाता है। हालांकि नरेन्द्र मोहन की कविता मे सामाजिक विषमता के नाम पर नारी-पुरुष या जाति-संघर्षों की ओर तनिक भी संकेत नहीं है, किंतु हरिजनोत्थान का मुखौटा लगाने वाले भद्र समाज पर उसका व्यंग्य बहुत ही पैना है—

उसकी लड़की ने
हरिजन के लड़के से शादी कर ली कोर्ट में
सिर धुन लिया छाती पीट ली उसने
कंधे उचका कर उसने आधुनिक होने का प्रमाण दिया
और हरिजन लड़की की कमर सहलाने लगा
केबिन में।

(इस हादसे में, पृ० 61)

समाज के दुमुंहेपन पर यह करारी चोट है। यह कवि मध्यम वर्ग का शहरी कवि है, इसलिए ग्रामीण परिवेश की फूहडता के दंश इसकी कविता में नहीं हैं। इस कविता में राजनीति का भयावह चेहरा इतना अधिक अंकित किया गया है

कि उसमें व्यक्ति के सामाजिक संदर्भों को अंकित करने का अवकाश कवि को नहीं मिल पाया। इसीलिए इसमें व्यक्तिगत सुख-दुख, प्रेम-घृणा, राग-द्वेष आदि का चित्रण नहीं के बराबर है।

लंबी कविता—समकालीन कविता में सर्वाधिक सशक्त रूप लंबी कविता का निखरकर आया है, क्योंकि इसमें संपूर्ण परिवेश और जटिल संदर्भों का चित्रण होना संभव है। लंबी कविता में कोई तराशी हुई कथा नहीं होती, बल्कि व्यक्ति और समाज की टुकड़े-टुकड़े घटनाएं शामिल रहती हैं। इसमें अनुभूति-खंडों की एकतानता संदर्भ खंड के रूप में होती है तथा कवि और समाज के द्वंद्व का साक्षात्कार होता है। लंबी कविता में बाहर की स्थितियों की क्रूरता और अंदर के मन का अंधेरा मिलकर आत्मसंघर्ष का निर्माण होता है। इसमें अनुभव निरंतर विकसित होता चलता है और चेतना अनवरत दीप्तिमान होती है। लंबी कविता का संघर्ष क्षण-क्षण तीव्र और त्रासद होता जाता है (रमेश कुंतल मेघ)।

नरेन्द्र मोहन की लंबी कविता के बीच उनके प्रथम काव्य-संग्रह—'इस हादसे में' में विद्यमान है, जहां वे इस कविता का शीर्षक निर्माण-सा करते हुए प्रतीत होते हैं: "नक्शे का कभी एक हिस्सा। कभी दूसरा। जलता। एक अग्निकांड। जगहें बदलता।" इसका पल्लवन उन्होंने अपने दूसरे संकलन—'सामना होने पर' में किया है"'एक बार उसे बच्चे का मासूम। और मुलायम हाथ छुआ भर था। और उसका जिस्म अकड़ गया था और एक लंबे अरसे बाद। वह सामान्य स्थिति में आ पाया था। (सामना होने पर, पृ० 20)

यह यूसुफ की मनःस्थिति है जो 'एक अग्निकांड जगह बदलता हुआ' कविता में केंद्रीय पात्र है और जिसके माध्यम से कवि ने इस पूरी कविता को बुना है। यह कविता वस्तुतः आत्म-कथानक लंबी कविता (आटो बायोग्राफिकल लोंग पोयम) है। इसके सभी संदर्भ कवि के अपने भोगे हुए हैं और इस कविता के माध्यम से कवि उन संदर्भों में एक बार फिर जीता है। इसीलिए इसकी अनुभूति में प्रामाणिकता है और अभिव्यक्ति में ईमानदारी।

कविता का आरंभ नाटकीय ढंग से होता है जब कवि एक ऐसे विक्षिप्त आदमी की ओर संकेत करता है "जो बड़बड़ाता रहता है। 'शून्य' में ताकता रहता है और जिसकी आंखों में पथराई हुई दहशत है।" बाद में कवि स्वयं उसका परिचय देता है, वह यूसुफ मौलवी है जो लाहौर में कवि को पढ़ाया करता था। तब आजादी का संघर्ष पूरे जोर पर था और आजादी के दीवाने गोली को फूल की मानिंद समझते थे, सहते थे। तभी, देश की आजादी के साथ-साथ भारत-विभाजन की बात चली, तकसीम का जिक्र आया और यूसुफ 'तकसीम' के नाम पर जमा और गुणा करने लगा था। विभाजन की बात से ही बौखला गया था।

किंतु अंततः विभाजन हुआ और उसके साथ विनाश भी। "पेड़ को काटते और टूटते हुए नहीं। समूल जलते हुए देखा था उसने। अपनी आँखों के ठीक सामने।" "और युसुफ पागल हो गया।" बाहर आग लगी थी और वह बदहवास खड़ा था चौराहे पर। "भागम-भाग, मारा-मारी में। खूनी रास्तों में रास्ता टटोलता। पहुंच पाने के लिए सही-सलामत अपनी बीवी-बच्चों के पास।" और इसके बाद उसके अमृतसर होते हुए भारत पहुंचने की गाथा है।

पूरी कविता तीन खंडों में बांटी जा सकती है—स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष का उत्साह, भारत विभाजन से विनाश और उसके बाद की देश की स्थिति। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और केंद्रीय भाव है इस कविता में भारत विभाजन की त्रासदी का चित्रण जिसमें जमीन, घर, पेड़, पुल और नदियां तक पराई हो गईं। नैतिकता और मानवता के बड़े-बड़े महल धड़ाम से जमीन पर आ गिरे और मनुष्य अपनी आदिम क्रूरता तथा असहायता की स्थिति में पहुंच गया। मधुर संबंध दरक गए और नारी की अस्मत सरे आम बिकी। इस कविता में एक ऐसे मुसलमान की त्रासदी है जो अपने रिश्तेदारों की तलाश में इंकलाबी धुन में पाकिस्तानी हिस्से मे हिंदुस्तान चला आया था और उसके सभी रिश्तेदार, उससे मिलने से पहले ही पाकिस्तान चले गए। कवि को न केवल "इतिहास से जुड़ी घटनाएं और यूसुफ से जुड़े प्रसंग याद हैं बल्कि उसे वह नदी भी याद है जो देश के नक्शे में नहीं है।" पर वह उसे "अपने भीतर बहने से नहीं रोक पाता।" कवि जानता है कि "स्मृति इतिहास नहीं है" पर उसे चिंता यह है कि "इतिहास बाहर भी उसे वहां रखा जाए।"

कवि ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समय को अलग-अलग नौटंकियों की संज्ञा दी है। उसमें से एक है नेहरू युग की नौटंकी और दूसरी है इंदिरा युग की जिसमें महात्मा गांधी की मूर्ति का सिर तोड़ दिया गया और बाद में वह सिर नाले में पाया गया और तब'''नाले में मूर्ति का सिर पाने वाले व्यक्ति ने उसे—

"जिलाधिकारी को सौंप दिया
जिलाधिकारी ने मंत्री को
मंत्री ने मुख्यमंत्री को
मुख्यमंत्री ने प्रधानमंत्री को
और प्रधानमंत्री ने उसे अपने सिर पर लगा लिया है।"

इन पंक्तियों में गांधीवाद के प्रति आज के शासकों की अवहेलना का भाव स्पष्ट है।

इस कविता का 'कैनवस' इतना बड़ा है कि आश्चर्य होता है कवि की प्रतिभा पर, जिस कौशल से उसने, इसे संभाला है। पूरी कविता में एक विशेष

प्रकार की दहशत तथा आक्रोश है। व्यंग्य और आवेश है। असहायता तथा विवशता है। जड़ों से उखड़ने की पीड़ा है। आत्म-संघर्ष और आत्म-विकास है। बाहर की क्रूरता से टूटते हुए व्यक्ति ने अपने अंदर मन के अंधेरों में उतर जाने का संदर्भ है।

यों तो छोटी कविताओं में भी नरेन्द्र मोहन ने फंतासी का प्रयोग किया है और संवाद तथा नाटकीयता के तत्त्वों का सहारा लेकर कविता को खोला है। किंतु इस कविता का आत्मसंघर्ष बहुत विराट है। इसमें संवाद का सार्थक प्रयोग है। त्रास और करुणा का भाव बार-बार उभरकर आया है। व्यवस्था के सामूहिक षड्यंत्र में हत्या हो जाने के डर से त्रस्त मुख्य पात्र व्यर्थ में कर्म और विवशता क्रूर मजाक का शिकार हो जाता है। इसमें कविता का कथ्य और उसकी भंगिमाएं ही प्रमुख होकर उभरी हैं तथा शिल्प प्रयोग महज पूरक के रूप में आया है। किंतु जिस प्रकार के चित्र और प्रतीक इस कविता में प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ह्रास और त्रासद दोनों भाव उभरकर आते हैं। इनकी भाषा रोजमर्रा की बोलचाल के निकट है और सार्थक-सपाटबयानी से युक्त है। यह गंभीर सपाटबयानी जो स्थिति की परत-दर-परत खोलती हुई जानकारी के आयामों में वृद्धि करती है। वैसे भी नरेन्द्र मोहन भाषा के चिकनेपन के विरुद्ध हैं। उनका कथन है—

> आओ, शब्दों को ढेलों की तरह उठाकर/जरा गंवार बनना सीखें
> चीजों के सामने होकर/देखना-पड़तालना सीखें/
> वार्तालापी मुद्राओं के पीछे/कब तक चलाते रहोगे/
> शब्दों का नपुंसक व्यवहार। (इस हादसे में,)

वे मानते हैं कि 'कविता' में/एक बारूदी सुरंग/फट पड़ने को तैयार है/योग्य भाषा की प्रतीक्षा में (सामना होने पर, पृ० 24) इसीलिए वे "मरते हुए आदमी की पहचान का नग्न और ठोस संकेत" भाषा द्वारा दिए जाने की अपेक्षा करते हैं।

वास्तव में, नरेन्द्र मोहन का प्रयत्न सच और/नंगे सच को कहने का है क्योंकि "नंगे सच की तासीर यही है कि/एक लपट-सी उठती है/फैलती कचरे को जलाती।" यह कवि जीवन में आंख खोलकर चलता है और सभी संदर्भों को सही परिप्रेक्ष्य में रखने का अभ्यस्त है। उसकी कविताओं में समाज की राजनीतिक दिशा खोजने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। कविता की सार्थकता का प्रश्न उठाते हुए यह कवि स्थितियों के रूबरू होकर उन्हें व्यक्त करने की हिमायत करता है क्योंकि उसने व्यक्ति के भीतर के द्वंद्व को जिया है। इसीलिए ये कविताएं बीसवीं शताब्दी के आम आदमी की जनवादी चेतना को वहन करते हुए अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक कविता की धारा से सीधे-सीधे अपना रिश्ता कायम कर लेती हैं।

नरेन्द्र मोहन की कविता : असहमति से संघर्ष तक की यात्रा

—डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

'विद्रोह' को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के द्वारा किसी सत्ता, व्यवस्था, परंपरा, रूढ़ि आदि का अस्वीकार, विरोध और उसे समाप्त करने का प्रयत्न विद्रोह है।[1] इस तरह की व्याख्याएं 'विद्रोह' को व्यापक अर्थ में लेती हैं और उसे केवल व्यवस्था विरोध तक सीमित करने का विरोध करती हैं। विद्रोह किसी भी असंगति और अंतर्विरोध का हो सकता है और इसका एक रूप व्यक्तिगत भी होता है। लेकिन विद्रोह मूल्यवाद और सार्थक तभी होता है, जब वह संगठित और एकजुट होता है। संगठित और सामूहिक विद्रोह अंततः किसी मूल्य-व्यवस्था या स्थापित सत्ता के विरोध में पड़ता है। अतः यह आकस्मिक नहीं है कि विद्रोह-भाव यदि एकदम निजी और अराजक नहीं है तो वह व्यवस्था-विरोध और व्यवस्था-परिवर्तन से कहीं-न-कहीं जुड़ता अवश्य है। प्रमोद वर्मा की यह स्थापना सही है कि व्यक्ति-स्तरीय विद्रोह उपयोगी होते हुए भी सामाजिक परिवर्तन लाने में सक्षम नहीं होता।[2] साहित्य में कबीर के जमाने से लेकर आज तक विद्रोह के जो तेवर रहे हैं, वे व्यवस्था-विरोध और व्यापक सामाजिक परिवर्तन से गहरे संबंधित हैं। समकालीन कविता में विद्रोही स्वर बहुत मुखर हैं। वे कभी बेकसूर आदमी के हलफनामे के रूप में हैं तो कहीं 'पोस्टर' और 'गोली' के रूप में प्रतिवाद दर्ज कराने की मुद्रा प्रमुख है। 'बयान', बहस' 'असहमति', 'निषेध', 'प्रतिवाद', 'निर्णय' आदि अनेक रूपों में विद्रोह की जो भंगिमाए हैं, वे कम-बेश नरेन्द्र मोहन के काव्य में भी उपलब्ध और द्रष्टव्य हैं। एक आलोचक के तौर पर नरेन्द्र मोहन 'विद्रोह' विशेषतः व्यवस्था-विरोध को आधुनिकता की केंद्रीय चेतना मानते हैं, जिसका सरोकार हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं और स्थितियों से है।[3]

विद्रोह का प्रस्थान-बिंदु 'यथास्थिति' से असंतोष और क्षोभ के फलस्वरूप 'असहमति' का भाव है। 'असहमति' का उदय व्यक्ति-क्षितिज पर होता है लेकिन

शीघ्र ही यह सकारात्मक मूल्यों की पक्षधरता और सामूहिक अस्वीकार का पर्याय बन जाती है। 'असहमति' की तीव्रता के अनुपात मे ही 'आक्रोश' की वृद्धि होती है। नरेन्द्र मोहन के काव्य में 'विद्रोह' की अभिव्यक्ति असहमतिजन्य आक्रोश के रूप में सर्वाधिक हुई है। नरेन्द्र मोहन मात्र नकार या निषेध को महत्त्वपूर्ण नही मानते। उनका आक्रोश न तो नकारवादी प्रक्रिया है और न आत्महंता अनास्था। यह आवेश मात्र न होकर स्थितियों के विश्लेषण और समझ से उत्पन्न बोध है। जिस आक्रोश को 'प्रहारात्मक क्रिया संपन्न विशिष्ट'[4] कहा गया है प्राय: वही नरेन्द्र मोहन के 'सामना होने पर', 'इस हादसे में', 'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'हथेली पर अंगारे की तरह' आदि काव्य-संग्रहों में वैचारिक ऊर्जा के रूप मे विद्यमान है।

नरेन्द्र मोहन का आक्रोश उन तत्त्वों के प्रति अपेक्षाकृत मुखर और प्रहारात्मक है, जो अमानवीयकरण को बढावा देने वाले हैं, मानवीय मूल्यों के लिए संकट बने हुए हैं। ये तत्त्व राजनीतिक अंतर्विरोधों की देन तो हैं ही, सामाजिक संक्रमण के हीनतर दिशा में होने की विडंबना भी इसके लिए उत्तरदायी है। जब नरेन्द्र मोहन सत्ताधारियों को कटघरे में खड़ा करते हैं, महानगरीय विसंगतियों को रेखांकित करते हैं और 'संप्रदायवाद', 'आतंकवाद' आदि अवमूल्यो का तिरस्कार करते हैं तो वे इनको जन्म देने वाले तत्त्वों और उनके बहाने पूरी व्यवस्था के प्रति अपना गुस्सा जताते हैं। 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में नेहरू युग की नौटंकी का संदर्भ आया है, जिसमें सत्ताधीश को एक साथ हीरो, विदूषक, विद्रोही और मसखरे की भूमिका निभाते दिखाया गया है—

> नौटंकी का मुख्य पात्र जादूगर राजा है। इसमें वह हीरो के
> रूप में शामिल है और विद्रोही शतरंज के खिलाड़ी और
> मसखरे की भूमिका एक साथ निभा रहा है। उसके हाथ
> में एक तलवार है, जिसे मजे में घुमाता हुआ वह रंगमंच
> पर चहलकदमी कर रहा है।...

इन पंक्तियों में इस कटु सत्य को जताया गया है कि यदि सातवें दशक से पूर्व देश किसी आशावाद या मोह की गिरफ्त में था तो इसका एक प्रमुख कारण 'सत्ता' का अवसरवादी चरित्र था, जो मूलत: जनविरोधी होते हुए भी कभी-कभी व्यवस्था विद्रोही और जनहितकारी होने का भ्रम पैदा करता था। इस नौटंकी का एक हिस्सा यह भी है कि—"मुठभेड़ों में कुछ लोगों को खतरनाक करार दें/गोलियो से उडा दिया है। व्यवस्था के अमानवीय और अवसरवादी चरित्र को 'एक अदद सपने के लिए' में 'किला' के ब्याज से व्यक्त किया है, जहां लाशों को वोटों में और वोटो को लाशों में बदलने का करिश्मा किया जाता है। यह 'किला' संवेदनशून्यता,

जड़ता, यथास्थिति और भयावहता को एक साथ संकेतित करता है—

> मेरे सामने एक किला है
> किले के लौह कपाट बंद हैं
> मैं उन्हें पीट रहा हूं
> कहीं कोई हरकत नहीं
> किला धुंध और सन्नाटे में डूबा है।

नरेन्द्र मोहन के काव्य में 'धुंध', 'सन्नाटा', 'चुप्पी', 'अंधेरा' आदि प्रतीक-संकेत यथास्थिति या स्थिति के विरूपीकरण को सूचित करते हैं। कहीं मानवीयता को 'कातरता के अंधेरे में गुम' (एक अग्निकांड) दिखाया गया है तो कहीं 'एक अंधेरा खूनी आकार' उसे निगलने को है (वही)। 'सन्नाटे की चट्टान', 'सन्नाटा तानाशाह की जान है' जैसे पद उस दहशत और आतंक को मूर्त करते हैं जो पिछले दिनों पूरे परिदृश्य पर हावी रहे हैं। सहम जाने, डरने और दहशत के बहुत से बिंब और संदर्भ नरेन्द्र मोहन के काव्य में हैं। इनसे वस्तुस्थिति का पता चलता है और यह भी पता चलता है कि असहमति आक्रोश और विद्रोह के कारण क्या हैं—

> 1— कोड़े बरसाती/दहशत
> एक छोर से दूसरी ओर भागती
> (एक अग्निकांड जगहें बदलता)
>
> 2— कांपता हूं दहशत में
> और भागता हूं
> (हथेली पर अंगारे की तरह)
>
> 3— सहम जाता हूं
> सांप में बदलने लगती है रस्सी
> (हथेली पर अंगारे की तरह)
>
> 4— चित्र है तो 'सहमा हुआ' क्यों है
> लाश सा क्यों दिखता कभी-कभी
> (संकट दृश्य का नहीं)

ऐसे माहौल में यदि कोई संवेदनशील 'हकलाते-हकलाते एक चुप्पी में दफन होने' की स्थिति में आ जाता है तो यह आकस्मिक नहीं है। किंतु 'चुप्पी में घिरे-घिरे मरूं'—यह स्थिति कवि को स्वीकार्य नहीं है। 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा' में भी सुचित्रा ने सलमान से पूछा है कि हम कब तक प्रतिवाद नहीं करेंगे—

जीने का यह क्या ढंग है सलमान
कब तक चुप रहेंगे हम ?

'सन्नाटा', 'चुप्पी', 'अंधेरे' के निषेध और प्रतिवाद का अर्थ है उस संवेदन-शून्यता और अमानवीयता का विरोध जो व्यवस्था के अंतर्विरोधों और कुरूपताओं की देन है। नरेन्द्र मोहन के काव्य में 'चीख' और 'हंसी' इस प्रतिवाद के व्यंजक हैं। क्रूर और ठंडी स्थितियों को देखकर चीख उठना हमेशा भय का द्योतक नहीं होता, यह अपने आक्रोश को जताने का एक माध्यम भी बन सकता है। कवि ने कुछेक कविताओं में 'चीख' को बंधनमुक्त अभिव्यक्ति और वैचारिक असहमति के तौर पर प्रयुक्त किया है। कुछ उदाहरणों से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है—

चीखता हूं। 'खो गयी कहां खुशबू'
नज्म की मेरी
(हथेली पर अंगारे की तरह)
चीखता हूं
जलती चट्टान सिर पर लिए
(हथेली पर अंगारे की तरह)
मैं चीखता हूं
वह बोलने की कोशिश में बोल नहीं पाता
(हथेली पर अंगारे की तरह)
तेज रफ्तार में भाग रही ट्रेन
उसे घिसटती दिखती
और वह चीखने लगता
(एक अग्निकांड जगहें बदलता)
चीख कर कहता हूं
यह घर नहीं जेल है।
(एक अग्निकांड जगहें बदलता)
नहीं वह जोर-से चीखी थी
और फर्श पर गिर पड़ी थी
(संकट दृश्य का नहीं)
वह चीखने लगी एक बार फिर
मुझे ले चलो इस चित्र के सामने से सुलमान'
(संकट दृश्य का नहीं)

कुछ कविताओं में 'असहमति', 'प्रतिवाद' तक सीमित न रहकर व्यापक परिवर्तन की मांग से सम्बद्ध हो गई है

विस्फोट···विस्फोट···विस्फोट
मैं चीखता हूं
(हथेली पर अंगारे की तरह)

'चीख' प्रतिवाद और निषेध का आवेशबहुल रूप है, लेकिन 'हंसी' अर्थात् सहज संवेदनशीलता नरेन्द्र मोहन की कविताओं में सार्थक विद्रोह का प्रारूप बनकर प्रस्तुत हुई है। आततायी 'चीख' से अधिक हंसी से डरता है, क्योंकि 'हंसी' न केवल दहशत के सन्नाटे को तोड़ती है, अपितु विरोध और प्रतिवाद के सहज और संयत होने का प्रमाण देती है। इसीलिए नरेन्द्र मोहन ने अपनी एक लघु कविता में लिखा है—सन्नाटा तानाशाह की जान है और हंसी सन्नाटे के सीने में धंसता हुआ तीर।

'हंसी' की व्याख्या करते हुए नरेन्द्र मोहन ने उसे जोखिम उठाने के जीवट और सकारात्मक उल्लास का पर्याय बना दिया है। 'नंगी, बेलौस और खतरनाक हंसी' की वास्तविकता को खोलते हुए, 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में कहा गया है—

हंसी जो एक चेतना सी जज्ब हो जाती है चीजों में
चीजों का हिस्सा बन और छा जाती है सभी पर एक जुनून सी
इजहार करती जीवन से बड़े मूल्य की कल्पना का

देश-विभाजन की त्रासदी से लेकर आतंकवाद, संप्रदायवाद के आतंक को महसूसते हुए कवि ने इस हंसी को किसी खास सांचे या क्रम में न बंधने वाला माना है। जिस परिवेश में राजागण शेर की तरह हिंसक हों और चौधरी कुत्ते की तरह लालची और अपनी प्रजा का मांस भक्षण करने वाले हों वहां 'हंसना' आसान काम नहीं है लेकिन समरजीत और उसके पिता को अपने गौरवमय अतीत से हंसने की प्रेरणा और शक्ति मिलती है। उनकी हंसी में व्यंग्य और आश्वस्ति दोनों अंतर्निहित हैं। आवेश में विद्रोह के गुमराह होने की संभावना बराबर बनी रहती है। 'एक अदद सपने के लिए' में कट्टरवादियों द्वारा प्रेरित सिख-युवा 'विद्रोह' के नाम पर अमानुषिक हिंसा का पक्षधर और निहित स्वार्थों के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया है। इस विचलन को कवि उचित नहीं मानता—

बीच चौराहे में कत्ल करता है वह
और उतर जाता है जादुई सीढ़ियों से
तलघर में सुरक्षित
अपने आकाओं के पास

यह गौरतलब है कि कवि प्रतिकूल और त्रासद अनुभवों से गुजरते हुए भी हताश या निराश नहीं है। उसके भीतर का आक्रोश रचनात्मक और सार्थक अभियान बनने के लिए आतुर है—"मुझे लगता है/परिन्दा अभी मरा नहीं है/मेरी आत्मा में फड़फड़ा रहा है/(घातक चमक और नक्शे की हरियाली के बाहर)। जोखिम भरे चमकीले रास्ते पर/उड़ने के लिए।" जोखिम उठाने का विद्रोही भाव 'पेंटिंग और दृश्य' कविता में दृष्टव्य है—

दृश्य को सीधा देखने की ताकत
पता नहीं उसमें कहां से आ गई थी
और उसने मशाल
दृश्य के पेट में घुसेड़ दी थी।

लेकिन यह कार्य व्यक्तिगत विद्रोह की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाता। लेकिन सामाजिक परिवर्तन के लिए एकजुट संगठित संघर्ष की आवश्यकता है, इस सत्य को आंखों से ओझल नहीं होने दिया गया, 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' शीर्षक कविता में एक जुलूस का संदर्भ है, जिसका नेतृत्व एक नौजवान कर रहा है जिसकी आंखों में आग है। 'जुलूस यानी कि एकजुट और सामूहिक संघर्ष में कवि की आस्था आश्वस्त करती है लेकिन इस तरह के सदर्भ और क्षण नरेन्द्र मोहन की कविताओं में विरल हैं। वे जन-संघर्ष के संकेत तो देते हैं, लेकिन कविताओं मे व्यवस्था के विरुद्ध खुले विद्रोह के बजाय प्राय: व्यक्तिगत और बौद्धिक असहमति और प्रतिवाद को दर्ज कराते देखे जा सकते हैं। उनका आक्रोश मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की उस मानसिकता के अनुरूप है, जो जनांदोलनों और जनसंघर्षों को दूर से और बाहर से सहानुभूति और सहयोग तो देता है लेकिन स्वयं उसका हिस्सा नही बनता। नरेन्द्र मोहन कविता को हथेली पर अंगारे की तरह महसूसने के कायल हैं, लेकिन जनसंघर्ष की आग को उन्होंने चिमटे से ही पकड़ा और अनुभव किया लगता है। चूंकि नरेन्द्र मोहन की कविताएं 'वाचाल' नहीं हैं, इसलिए भी संघर्ष-चेतना उनमें व्यंजित अधिक हुई है, स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है।

नरेन्द्र मोहन की कविताओं में कबीर, जार्ज आर्वेल, फहमीदा रियाज, कर्तुल एन हैदर मंटो आदि की रचनाओं, फ्रांसीसी क्रांति के पोस्टर शब्द आदि के सदर्भ यथास्थान आए हैं। ये सभी नाम अवमूल्यों के विरोधी और परिवर्तन के हामी रहे हैं। इनके समावेश से कविताओं का विद्रोह-भाव और सघन तथा तीक्ष्ण हुआ है। ये नाम और संदर्भ नरेन्द्र मोहन के कवि-कर्म के सरोकारों को तो रेखांकित करते ही हैं; यह भी पता देते हैं कि उनकी कविताएं आत्मलीन और अंतर्मुखी मुहावरे में सीमित नही हैं। बाहर और भीतर की आग से उनकी कविता

यदि असंपृक्त नहीं है तो यह उसका स्वभाव है और इसी में उसकी सार्थकता भी है—

> बाहरी आग का सामना करती मैं
> अन्दरूनी आग से सदा घिरी रहती
> इस बहते हुई लावे से
> कविताओं को क्यों नहीं बचा पाती ?
> (खरगोश चित्र और नीला घोड़ा)

संदर्भ-संकेत

1. आधुनिक बोध और विद्रोह, डॉ० हरदयाल, पृ० 9
2. हलफनामा, प्रमोद वर्मा, पृ० 40
3. शास्त्रीय आलोचना से विदाई, पृ० 28
4. आधुनिक काव्य-संदर्भ और प्रकृति, गंगा प्रसाद गुप्त, पृ० 37

सृजन के नये आकलन के लिए

—ललित शुक्ल

मानव जीवन विसंगतियों के जाल से घिरा है। और जब से इस भौतिकवादी दुनिया में तरक्की और संघर्ष के शोर ने जोर पकड़ा है, विसंगतियों का रंग ज्यादा चटख हुआ है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि संगति खोजते और जिंदगी का पहाड़ा याद करते हुए मनुष्य विसंगतियों के दलदल में और अधिक धंसता गया है। वह निरंतर इस स्थिति से उबरने की कोशिश करता रहा है पर वर्तमान पूरी तरह काबू में न होने के कारण उसे पूरी सफलता नहीं मिली। इस प्रयास में किसान, मजूर और कवि, कलाकार सभी शामिल रहे हैं, अभी भी हैं पर अंतिम रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि मनुष्य संगति के अक्षांश पर सदा के लिए पहुंच गया है। जहां विघटन है, असमता है, कमजोरी है, भूख-प्यास है, अनाचार है, अत्याचार है, आधि एवं व्याधि है, हादसा और प्रताड़ना है, वहा कवि-कलाकार का मन ज्यादा रमता है।

सृजन के नये आकलन के लिए, हादसे को अक्षरों का आकार देने के लिए नरेन्द्र मोहन का मन ऐसे प्रसंगों में ज्यादा रमता है। यह बात अत्यंत स्वाभाविक भी है। आंखोंदेखा दृश्य जो संकट के फलक पर बना है वह अकस्मात् नहीं बन गया। उसके लिए रचनाकार ने खून-पसीना एक किया है। इसीलिए वह प्रामाणिकता की भरपूर चमक से चमचमाता है। आज रचना की लंबी यात्रा पार कर लेने के बाद अतीत की आंखों में वर्तमान झलमलाता प्रतीत होता है। कहीं आंदोलनों की झंझाएं, कहीं भाषा के तेवर, कहीं अभिव्यक्ति के स्पंदन और इन्हीं के साथ कलम के फैशन के विविध रंग, यही संसार मिलकर नरेन्द्र मोहन की कविता में बोलता है और उसे सप्राण बनाता है।

नरेन्द्र मोहन पहले तो अतीत को टटोलते हैं। उसके ब्याज से कविता लिखते हैं और शायद यह सोचकर कि वह हाशिए पर न छोड़ दी जाए, कविता को सिंहासनारूढ़ करने के लिए विचार का किला तैयार करते हैं, उसकी भूमिका बांधते हैं। विचारों की गरिमा से कविता को मंडित करते हुए नरेन्द्र मोहन का

कवि संवेदना का पल्ला नहीं छोड़ता। यह तथ्य उसकी कविता को समयजयी और प्रभावशाली बनाने में सहायक होता है। नरेन्द्र मोहन कहते हैं—"कविता को आज न नितांत निजी, व्यक्तिगत चीज माना जा सकता है, न किसी मत या धारणा में बंद। व्यक्ति-वृत्त से बाहर न आ पाने वाली और मतवाद तक सीमित रह जाने वाली कविता हल्की-फुल्की उत्तेजनाएं पैदा कर सकती है, किसी गहरी संवेदना और बोध का विचार नहीं जगा सकती।" जिस पूर्वग्रह-दुराग्रह की बात नरेन्द्र मोहन करते हैं वह उनकी रचना में नहीं पाया जाता पर सोच के जिस धरातल से वह अपनी रचना-यात्रा शुरू करते हैं वह अब उनकी कविता में रूढ़ि बन गया है। यह रूढ़ि कहीं-कहीं परंपरा का भ्रम भी पैदा करती है। दहशत आग, खून यहां-वहां अपने होने का आभास देते हैं। और अगर आग आंखों में उतर आए तो भय और त्रासद हो जाता है, हो गया है। सन् 1980 ई० के नरेन्द्र मोहन कहते हैं—

> एक जुलूस अंटा पड़ा है थाने और थियेटर के बीच
> तने हुए चेहरे और घुड़सवार पुलिस
> उसने बीड़ी सुलगा ली है
> वह घिसटता हुआ बढ़ रहा है
> उस नौजवान की ओर
> जिसकी आंखों में आग है
> वह उसकी पीठ थपथपा रहा है
> कोई और रास्ता नहीं है क्या !

ये पंक्तियां 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' नामक लंबी कविता की हैं। यह कविता कवि के नये संकलन 'संकट दृश्य का नहीं' में पहले नंबर पर संकलित है। अपने वातावरण को समय-शैली के रास्ते चलकर रचने का प्रयास तो नरेन्द्र मोहन ने किया है पर कवि के मन में एक संशय है। पुरानी पीढ़ी के पास आग है जो उसकी लत (बीड़ी) में सुलग रही है और नई पीढ़ी के नवजवान की आंखों में आग है। कवि इन दोनों प्रकार की अग्नियों से क्या काम लेना चाहता है। क्या इनमें क्रांतिधर्मी चिनगारियां हैं? नहीं, बिलकुल नहीं। कवि यह चाहता भी नहीं, अन्यथा वह दूसरा रास्ता नहीं तलाशता जैसाकि कविता की अंतिम पंक्ति में कहा गया है। संशय की यह स्थिति अकेले नरेन्द्र मोहन की नहीं है बल्कि पूरे समय की है। इससे कविता की जड़ें कमजोर हुई हैं। युगीन रचना-संदर्भ में यह बात ध्यातव्य है कि दुविधा और संशय की अतिशयता ने कविता का नुकसान किया है। यह प्रवृत्ति नरेन्द्र मोहन की कविता में कहीं-कहीं बहुत स्पष्ट है और

कहीं प्रच्छन्न रूप में दीखती है। पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

> वह क्या यातना थी ?
> हताशा और तनाव का कौन-सा विस्फोटक बिन्दु कि
> आत्महत्या का वरण उसे ज़िन्दगी और
> इंसानी प्यार की सच्चाइयों से बेहतर लगा !
>
> (सामना होने पर, पृ० 38)

यदि संशय की पोली ज़मीन पर कविता की पौध उगाई जाए तो वह कभी भी सूख सकती है। नरेन्द्र मोहन अपनी भूमि के रस और गंध को रूपायित नहीं करते बल्कि परिवेश में घटित घटनाओं की खतियौनी तैयार करते हैं। इस प्रक्रिया मे संशय की उपस्थिति सारा खेल बिगाड़ देती है। नरेन्द्र मोहन के कवि के पास दो बड़े कारगर तत्त्व हैं। एक तो है प्रगाढ़ संवेदना और दूसरा नाटकीयता। दोनो कविता को एक पुष्ट शिल्पीय आधार देते है। यदि ये तत्त्व नहीं होते तो कविता की उपलब्धि के रूप में दुर्घटना, खून, चोट, घाव, अग्निकांड, भय के साथ अनेक त्रासद संदर्भ ही मिलते। बहुत घने कांतार में दुबली-पतली पगडंडी का सहारा भी बहुत होता है। मरुभूमि के विस्तार में बहुत छोटा शाद्वल भी उम्मीद बंधाता है। आज के कवि की त्रासदी यही है कि वह आत्मरचना करके, बाहरी दुनिया की तसवीरें टांगकर खुश हो लेता है। यही कारण है कि उसकी कविता समय से पहले ही समय द्वारा खारिज कर दी जाती है।

बिंब और प्रतीकों की बात पुरानी हो चली परंतु प्रसंगतः इतना कहना चाहता हूं कि नरेन्द्र मोहन की कविताओं में ऋजु और जटिल दोनों प्रकार के प्रतीक और बिंब पाए जाते हैं। नीला घोड़ा एक जटिल प्रतीक है। गुलाब, नदी, लौह गोला, समुद्र और खरगोश चित्र अपेक्षतया ऋजु और सरलता से समझ मे आने वाले प्रतीक हैं। 'कविता की वैचारिक भूमिका' के प्राक्कथन में नरेन्द्र मोहन कविता के लिए 'अनुभव' की अनिवार्यता पर बल देते हैं साथ ही वह शास्त्रीय समीक्षा से विदाई की बात भी करते हैं। कविता के शास्त्र और व्याकरण की रचना बहुत जल्दी-जल्दी नहीं होती है। रचना की नदी जब थिरा जाती है, जल निर्मल हो जाता है तभी वह पेय बनता है। युगीन परिप्रेक्ष्य में जब आंदोलन, विचारधारा और अनुभूति के अंतस् से निकली रचनाओं की आंधी थमती है तब विचारक नियम-उपनियम गढ़ने की बात सोचता है, गढ़ता है। यदि यह नियमावली सुदृढ़ आधारों वाली है तो उसे जल्दी बदलने की ज़रूरत नही पडती। अपनी और अपने समय की रचनाओं के लिए नरेन्द्र मोहन एक प्रकार की हदबंदी की घोषणा करते हैं। उनके यहां 'अनुभव' और 'अनुभूति' में कोई फर्क नहीं है। भाव और विचार का भी यही हाल है।

मैं पाता हूं कि कविता में तो नरेन्द्र मोहन अपने मन की (और मस्तिष्क की) बात बखूबी कह लेते हैं पर सिद्धांत-रचना और समीक्षा में उनकी बा गुत्थमगुत्थे पर उतर आती हैं। इसलिए इस प्रसंग को यहीं छोड़ते हैं। नरेन् मोहन का कवि भावुकता से परहेज करता है। वह विचारधारा का विरोधी पर विचारों की गठरी कंधे पर रखे रहता है। सोचता हूं बिना भावुक हुए क कोई कवि ऐसी पंक्तियां रच (लिख नहीं) सकता है—

मेरी याद में अटकते हैं कीकर, नीम और बेरी के पेड़
मेरी याद में लहराती हैं कनक की बालियां
मेरी याद में तैरते हैं रावी और चिनाब सतलज और व्यास
मेरी याद में गूंजती हैं हीर
इससे पहले
कि मैं चुप्पी से घिरे-घिरे मरूं
मैं पहुंच रहा हूं मिट्टी की जड़ों तक
ढल रहा हूं प्रतीकों में, मिथकों में
ढाल रहा हूं सपनों को भाषा में (एक अदद सपने के लिए)

बहुत आधुनिक बनने के चक्कर में काव्य-रचना की जो मूल बातें हैं, आवश्यकताएं हैं उन्हें फैशन में आकर त्याज्य समझना बौद्धिक बुद्धिमानी भले ही हो पर कविता के लिए अहितकर ही है। प्रस्तुत पंक्तियों की भाव-संपदा, इतिहास-बोध और कथन-भंगिमा उल्लेखनीय है। यह प्रवृत्ति नरेन्द्र मोहन की कविता की शक्ति है। जिस संवेदनशीलता को वे रचना-कर्म का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं वह आदमी और आदमी के बीच के फासले कम करती है। रचना के लिए यह एक शुभ संकेत है। फासले जितने सिकुड़ेंगे, साहित्य उतना ही उद्देश्य की ओर बढ़ेगा। ज्ञान और अनुभव कविता को गद्यात्मक बनाकर छोड़ देते हैं। नासिख ने तो साफ कह दिया था—

दर्द को दे दिल में जगह नासिख, इल्म से शायरी नहीं आती।

लेकिन मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि नरेन्द्र मोहन अनुभूति के नहीं बल्कि अनुभव और संवेदना के कवि हैं।

अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र उन्होंने शिल्प और भाषा की बातें की हैं। वे भाषा में नयेपन के पक्षधर हैं। जो बासी है, पिछड़ा है वह आज के मनुष्य का साथ कब तक देगा ? इसीलिए कवि को नये की तलाश सदैव बनी रहती है। यह अच्छी बात है कि उसे कीर्तन की भाषा पसंद नहीं है पर जिस भाषा के माध्यम

से उसकी कविताएं आई हैं वह आलोच्य अवश्य है। डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने नरेन्द्र मोहन के संबंध में जिस पंजाबियत की बात उठाई थी उसे कवि की अभि-व्यक्ति का सौष्ठव बनना चाहिए था पर वह तो जगह-जगह पेबंद बनकर रह गई है। स्त्रीलिंग, पुंल्लिग शब्दों में गलतियां, उर्दू शब्दों का बाहुल्य जैसी बातें तो प्राय: मिल ही जाती हैं।

अब नरेन्द्र मोहन अपनी प्रौढ़ि पर हैं। अभी भी उनके पाठक यदि उत्सुकता से उनकी रचना की प्रतीक्षा करते हैं तो कवि के लिए यह बड़े गौरव की बात है।

'सघनता' और 'तरलता' के संवेदना-चित्र

—डॉ० वीरेन्द्रसिंह

समकालीन कविता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार-संवेदन के विविध आयाम अपनी रचनात्मक अर्थवत्ता प्राप्त कर रहे हैं जो परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप में यथार्थ के बाह्य एवं आंतरिक पक्षों को कभी 'संवाद' की स्थिति में, कभी द्वंद्व की स्थिति मे तथा कभी विलोम की स्थिति में संकेतित कर रहे हैं। इस पूरे परिदृश्य में विचार और संवेदना के भिन्न रचनात्मक आयाम प्राप्त हो रहे हैं जो परोक्ष रूप से यथार्थ के भिन्न रूपों को व्यक्त कर रहे हैं। इसमें राजनीति, अर्थनीति तथा इतिहास के आशय अपनी 'अर्थवत्ता' प्रकट कर रहे हैं तो दूसरी ओर मिथक, प्रेम, प्रकृति, पारिवारिक बिंब, दर्शन, धर्म आदि के आशय एवं कथ्य संवेदना के उस रूप को व्यंजित कर रहे हैं जिसमें विचार एवं बोध के 'अंडरकरेंट्स' प्रवाहित हो रहे हैं। इसी से समकालीन कविता में विचार-संवेदन का एक 'जैविक' रूप प्राप्त होता है, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं वैचारिक द्वंद्व इतना तीव्र हो जाता है कि संवेदना का पक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता है। इसके विपरीत यह भी स्थिति अक्सर देखने मे आती है कि संवेदना का पक्ष इतना तीव्र एवं वक्र हो जाता है कि विचार की गति धूमिल पड़ पृष्ठभूमि में चली जाती है। सृजन प्रक्रिया में, और खासतौर से लंबी संरचना वाली सृजन प्रक्रिया में (लंबी कविता) यह स्थिति सामान्यतः प्राप्त होती है जो मेरे विचार से स्वाभाविक है। डॉ० विनय, विजेन्द्र, राजकमल चौधरी, मुक्तिबोध, बलदेव वंशी तथा नरेन्द्र मोहन की लंबी कविताओं में हमें सामान्य रूप से यही स्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि लंबी कविता की संरचना मे संवेदना और विचार का द्वंद्व ब्योरों, घटनाओं, परिवेश और चरित्रों के आपसी द्वंद्व और संबंध पर आधारित होता है जिसमें कभी विचार सतह पर आ जाता तो कभी संवेदना और कभी इसके विपरीत विचार गहरे प्रवाहित रहता है तो कभी संवेदना। नरेन्द्र मोहन की लंबी कविताओं में यही संरचनात्मक द्वंद्व प्राप्त होता है जिसका विवेचन मैंने अन्यत्र किया है।[1] इसके विपरीत नरेन्द्र मोहन की ऐसी

1. इस पक्ष का विवेचन मैंने एक लेख में किया है। शीर्षक है 'नरेन्द्र मोहन की लम्बी कविताओं की संरचना' जो में है

भी कविताएं हैं जो अपेक्षाकृत संक्षिप्त संरचना वाली हैं। इनमें विचार-संवेदना के भिन्न आयाम प्राप्त होते हैं जिसमें विचार-संवेदना का कभी घनीभूत रूप प्राप्त होता है, तो कभी अपेक्षाकृत तरल। ऐसी कविताओं में सघनता एवं तरलता का द्वंद्व प्राप्त होता है और नरेन्द्र मोहन में ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ प्राप्त होती हैं। मात्र नरेन्द्र मोहन में ही नहीं अन्य कवियों में भी इस प्रवृति को देखा जा सकता है जो विचार और संवेदन के कम या अधिक अनुपात की सापेक्षता में कविता की संरचना में सघनता या तरलता का 'गुणात्मक' समावेश करते हैं। नरेन्द्र मोहन की एक ऐसी ही कविता है 'देहांत' जिसमें 'नदी' और रात के बिंब के द्वारा एक 'सघन' एवं 'गुणात्मक' चित्र उपस्थित किया गया है जो एक ओर 'मौत' की व्यंजना का चित्र पेश करता है, तो दूसरी ओर रात का नदी में डूब जाने का एक सौंदर्य-प्रकृति बिंब भी प्रक्षेपित होता है। असल में, यह संक्षिप्त संरचना वाली कविता अपनी संरचना में इतनी 'सघन' है और साथ ही इतनी 'द्वयर्थक' कि प्रकृति सौंदर्य और संवेदना का घनीभूत रूप साकार हो उठता है। इस कविता को शायद पूरी तरह से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसे संवेदना एवं एहसास के धरातल पर ही समझा जा सकता है। यही स्थिति अक्सर हमें केदारनाथसिंह, बलदेव वंशी, शलभ श्रीराम सिंह, अनिल श्रीवास्तव तथा अन्य समकालीन कवियों में प्राप्त होती है। उदाहरण के तौर पर केदारनाथसिंह की कविता 'पांच पिल्ले' लें जिसमें 'पांच पिल्ले' के द्वारा आज की आर्थिक-सामाजिक विडंबना एवं व्यंग्य को अत्यंत तीक्ष्ण एवं पैने रूप में संकेतित किया है। मैं नरेन्द्र मोहन और केदार-नाथ सिंह की ये दोनों कविताएं यहां दे रहा हूं जो विचार-संवेदना के भिन्न घनीभूत रूपों को प्रस्तुत करती हैं। नरेन्द्र मोहन की 'देहांत' कविता की पंक्तियां हैं—

नदी में डूबती हुई रात का
आखिरी सिरा थामे रहा
कांपते पलों में
और एक हिचकी के साथ
नदी में डूब गयी रात !

और केदारनाथसिंह की कविता है—

कुतिया ने जने पांच पिल्ले
नरम/झबरे/गदबदे पिल्ले
अब सूरज की ओर मुंह किए/पांचों खड़े हैं
कूं कूं करते/चकित हैरान

मानों पूछ रहे हों
कि लो, हम आ तो गए
अब क्या करें
इस दुनिया का।

नरेन्द्र मोहन के रचना-संसार में ऐसे संवेदना-चित्र यदा-कदा प्राप्त होते हैं जो उनकी रचनात्मकता का एक ऐसा आयाम हैं जिसकी ओर लोगों का अपेक्षाकृत कम ही ध्यान गया है। सृजन का यह क्षेत्र यथार्थ के आंतरिक एवं संवेदनात्मक रूप को मुखर करता हैं और साथ ही अर्थ के धारातल पर वैचारिक अंडर-करेंट्स को भी संकेतित करता है। इस क्षेत्र के अंतर्गत मैं मिथक, आद्यबिंब या प्रतीक, प्रेम, प्रकृति संदर्भ पारिवारिक बिंब तथा सृजन-कर्म के प्रति कवि की जो 'रचना दृष्टि' है, उसे यहां विवेचित करना चाहूंगा। यहां यह भी संकेत करना जरूरी है कि इस विवेचन के अंतर्गत सबसे पहले मैं सृजन-कर्म के प्रति कवि की क्या दृष्टि है, वह उसे कहां तक सीमित या व्यापक संदर्भों में ग्रहण कर रहा है—इसे देखना जरूरी है! यह इसलिए भी जरूरी है कि इसके द्वारा उसकी कविताओं के आधार पर हम कवि की रचना-दृष्टि को सही परिप्रेक्ष्य दे सकेंगे। नरेन्द्र मोहन ने अपनी कुछ कविताओं में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से अपनी रचना-दृष्टि को प्रक्षेपित किया है जो व्यवहार और सिद्धांत के धरातल पर विवेचनीय है।

कविता की रचना-प्रक्रिया एक जटिल एवं वक्र प्रक्रिया है जिसमें सोच, एहसास, कल्पना, रूपाकार और शब्दों से परे अर्थों का अपना विशेष हाथ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सृजन-प्रक्रिया एक जैविक प्रक्रिया है, जिसे पूरी तरह से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है। नरेन्द्र मोहन के काव्य में उपर्युक्त सृजन 'तत्त्वों' का एक जैविक रूप प्राप्त होता है जिसमें सोच, संवेदना और कल्पना आदि घटकों का न्यूनाधिक समाहार देखा जा सकता है। कवि का सृजन-कर्म निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है, वह यथार्थ के बाह्य और आंतरिक दोनों पक्षो से सबंधित है और उनका सोच-संवेदन या एहसास ऐकांतिक न होकर व्यापक सरोकारों से जुड़ा हुआ है। वे यथार्थ के कटु-तिक्त रूप को जहां अर्थ देते हैं वही वे यथार्थ के सहज एवं संवेदनात्मक रूप को प्रकृति प्रेम तथा पारिवारिक संदर्भो मे उजागर करते हैं। यहां पर यह स्पष्ट करना जरूरी है कि यथार्थ के इन दोनो रूपों में संवेदना और सोच का 'गुणात्मक' रूप है, उसमें कहीं तीक्ष्णता है तो कही वक्रता, तो दूसरी ओर, उसमें रेखीय सरलता एवं सहजता है जो मर्म को छू जाती है जैसाकि मैं 'देहांत' कविता में ऊपर दिखा आया हूं।

नरेन्द्र मोहन के रचना-संसार में और उनकी सृजन-प्रक्रिया मे कल्पना का विशेष संदर्भ है। यह एक सत्य है कि बगैर कल्पना के सृजन संभव नहीं है क्योंकि

कल्पना ही कवि को यथार्थ और सत्य के साक्षात्कार में एक अहम भूमिका अदा करती है। कैसिरर ने एक स्थान पर कहा है कि किसी भी जाति की अस्मिता उसके भाषा-प्रयोग में निहित है और यह भाषा प्रयोग कल्पना के उस रूप से सबंधित है जो वायावी न हो, जिसका संबंध यथार्थ स्थितियों से हो और जो जातीय मनस् (साइको) को 'अर्थ' दे सके। इस दृष्टि से कल्पना ज्ञान और अनुभव की पूर्वपीठिका है क्योंकि जो जाति 'कल्पना के तर्क' का विकास नहीं कर पाती है, वह क्रमशः 'धूमिल' होने लगती है और धीरे-धीरे अपनी अस्मिता भी खोने लगती है। अतः कल्पना मात्र साहित्य या कला की बपौती नहीं है, वह किसी-न-किसी रूप में अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में भी गतिशील रहती है। यही कारण है कि नरेन्द्र मोहन 'दृश्य' के सामने गूंगा नहीं होना चाहते, और उस 'दृश्य' को गतिशील करने के लिए, उसे व्यापक 'अर्थ' देने के लिए कालिदास से निवेदन करते हैं कि—

मेरा संकट दृश्य का नहीं
दृश्य के सामने गूंगा हो जाने का है
मुझे कल्पना दो कालिदास !
मुझे कल्पना दो !!

यही नहीं 'दृश्य' को सीधा देखने की ताकत कवि में होनी चाहिए और उस 'दृश्य' में मशाल (विद्रोह) को घुमेड़ने की शक्ति भी होनी जरूरी है—

दृश्य को सीधा देखने की ताकत
पता नही उसमें कहां से आ गयी थी
और उसने मशाल दृश्य के पेट में घुसेड़ दी थी।

यदि हम नरेन्द्र मोहन की लंबी कविताओं को लें तो हम पाते हैं कि प्रदत्त 'दृश्य' से वे मुंह छिपाते नहीं हैं, वरन् उससे संघर्ष करने को तैयार हैं। यही स्थिति उपर्युक्त कविता में परोक्षतः रखी गई है जो उनके रचना-संसार का एक अभिन्न अंग है। विद्रोह और संघर्ष उनकी कविता के दो प्रमुख तत्त्व हैं जो आक्रामक मुद्रा को लिए हुए नहीं हैं क्योंकि उनकी भाषिक संरचना आक्रामक एवं बड़बोलेपन की नहीं है जो हमें अनेक कवियों में यदा-कदा प्राप्त होती है। यदि इसे व्यापक अर्थ मे कहा जाए तो उनका भाषा-प्रयोग, लगभग सभी विधाओं (काव्य, नाटक और आलोचना) में एक खास तरह के 'संयम' का परिचय देता है जो परोक्षतः उनके 'विचार-संवेदन' का एक सापेक्ष संयमित रूप है। मुझे याद आता है बी० ए० की कक्षा का वह प्रसंग जब हम छात्रों से प्रमुख शायर एवं अंग्रेजी के विद्वान् श्री रघुपति सहाय 'फिराक' ने कहा था कि—"यदि तुम्हारे विचार लड़खड़ाएंगे तो

तुम्हारी भाषा भी लड़खड़ाएगी।"— उनका यह वाक्य मेरे जहन में अब भी तरो-ताजा है और जब मैं नरेन्द्र मोहन की भाषिक संवेदना को देखता हूं तो उनकी भाषा और साथ ही उनकी अपनी ज़मीन से जुड़ी कल्पना में एक संयम ही नहीं पाता हूं वरन् भाषा की संरचना में एक 'प्रवाह' एवं 'वेग' को पाता हूं जो उनकी स्पष्ट वैचारिक गतिशीलता की सूचक है। इस भाषिक संयम में आदमी के यथार्थ का नग्न एवं 'ठोस', स्वरूप संकेतित होता है और साथ ही, इस संकेत में हमारे हाथ व तलवे एक 'आग' के एहसास को महसूस करने लगे, तो समझो 'भाषा' ने अपना प्रभावी प्रकार्य कर दिया—

मरते हुए आदमी का नग्न और ठोस संकेत
भाषा देना शुरू कर दे
और हमारे हाथ और तलवे
महसूस करने लग जाएं आग

इसी संदर्भ में नरेन्द्र मोहन की एक सुंदर अर्थगर्भित कविता 'देह के सामने' का जिक्र करना चाहूंगा जहां 'देह' एक व्यापक प्रतीक है (दिक् काल का जगत) जिसके संसर्ग से कल्पना गतिशील हो जाती है और नए 'अर्थों' की ओर उन्मुख होती है। यह कल्पना रंगों, रूपाकारों के तिलस्म को तोड़कर 'दहकते' हुए शब्दों को नए अर्थ की ओर ले जाती है। पूरी कविता का सौंदर्य उसके गठन एवं संयोजन में है जहां कल्पना, विचार-संवेदन के गहरे आयाम को 'स्पर्श' करती है—

इस देह के सामने
कोई देह नहीं भाती
अपने में डुबो
अपने से परे ले जाती !
इस देह के सामने
मेरी कल्पना
कुलांचें भरने लगती
रंगों-रूपाकारों का तिलस्म तोड़ती
दहकाती शब्दों को
शब्दों की ज़द से बाहर
नए अर्थों तक ले जाती
इस देह के सामने
कोई देह नहीं भाती !

नरेन्द्र मोहन के रचना-संसार में कल्पना, नए अर्थ की तलाश, सोच और एहसास का समीकरण, शब्दों की दहकन से उपजी ऊर्जा तथा रेखागणित का चरमरा कर टूटना और रेखाओं का नए और अपूर्व संयोजन में ढलना—ये सभी तत्त्व सृजन-कर्म के ऐसे घटक या तत्त्व हैं जो एक जैविक रूप में कल्पना एवं संवेदना को गति देते हैं और इस यथार्थ विश्व के विलोम में एक 'प्रतिविश्व' की सृष्टि करते है। नरेन्द्र मोहन कविता को 'हथेली पर अंगारे' की तरह महसूस करते है, और यह महसूस करना आज के यथार्थ की सापेक्षता में है। जैसाकि मैंने कहा कि सृजन-प्रक्रिया एक जैविक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के द्वारा रचनाकार एक 'एंटीयूनीवर्स' या 'प्रतिविश्व' की रचना करता है जिसका एक सापेक्ष संबंध इस जागतिक दिक्-काल से होता है।

कविता के इस रचना संसार को कवि पूरी शिद्दत के साथ महसूस करता है और कविता-कला को वह उस सौंदर्य से युक्त करना चाहता है जो परम सौंदर्य का प्रतीक है और इसके स्थान पर जो 'सत्ता-प्रतीक' घर करते जा रहे हैं, उनके प्रति वह संदिग्ध ही नहीं वरन् चिंताग्रस्त है क्योंकि वह कविता के पौधे को बचाना चाहता है—

किस सौंदर्य की बात करते हो किस कला की
कैसे बनाऊं कविता और कला को
परम सौंदर्य का प्रतीक
जबकि सारे सौंदर्य-प्रतीकों के मुहाने पर
सत्ता प्रतीकों को खड़ा कर चुके हो तुम
कैसे बचाऊं कविता के पौदे को
आग की लपलपाती जीभों से

× × ×

जबकि मैं महसूस कर रहा हूं
कविता को
हथेली पर अंगारे की तरह।

इससे यह स्पष्ट है कि नरेन्द्र मोहन के लिए कविता का एक बड़ा सरोकार है, वह यथार्थ के त्रासद एवं संघर्षशील रूप से संबंधित है, वह 'हाथी दांत की मीनार' की कविता नहीं है। उसके परिदृश्य में दिक्-काल का विस्तार है और सोच-संवेदन के भिन्न आयामों का रचनात्मक संदर्भ है।

इन आयामों में मैं उन आयामों को लेना चाहूंगा जो एक व्यापक अर्थ में 'संवेदना चित्र या दृश्य' है जिसमें विचार की गहरी-हल्की अंतर्धाराएं व्याप्त

रहती हैं। ये 'संवेदना चित्र और दृश्य' अधिकतर हमारे 'मर्म' को छूते हैं और साथ ही हमें उद्वेलित भी करते हैं, अक्सर हमें व्यापक अर्थ-संदर्भों की ओर ले जाते हैं। परिवार के रूपाकार, प्रेम तथा प्रकृति के दृश्य ऐसे ही क्षेत्र हैं जो कवि के मनस् में बार-बार आते हैं। इनका कवि के मनस् में बार-बार आना और एक हद तक उसे 'हॉंट' करना—एक ऐसे मानवीय संस्कार की ओर ले जाता है जहां परिवार एवं प्रकृति के बिंब और रूपाकार बार-बार कवि के मन को आंदोलित करते है, उसे स्मृति और इतिहास की ओर ले जाते हैं, कहना चाहिए कि कवि काल और दिक् के प्रवाह में, इतिहास के प्रवाह में अपने को पहचानना चाहता है, अपना साक्षात्कार करना चाहता है। यही जातीय अस्मिता का रूप है जो वैयक्तिक होते हुए भी संस्कार के स्तर पर जातीय या सामूहिक है। मां, बच्चा, पिता, औरत आदि ऐसे पारिवारिक बिंब है जो हमारे संस्कार में, हमारे अवचेतन में गहरे पैठे हुए हैं और बार-बार नए संदर्भों में 'अर्थ' प्राप्त करते हैं। यही बात प्रकृति के बिंबों, प्रक्रियाओं और घटनाओं के बारे में भी सत्य है क्योंकि प्रकृति का बिंब या प्रेम आदिम मानवीय संस्कार है जो हमारे अचेतन में गहरे समाहित हैं। अत. मनोविश्लेषण की दृष्टि से ये बिंब या रूपाकार ऐसे आद्यरूप या 'आरिकीटाइप्स' हैं जो बार-बार नए रूपों एवं संदर्भों में हमारे मनस् को आंदोलित करते हैं और इस प्रकार ये आद्यरूप हमारी जातीय अस्मिता के अभिन्न अंग होते हैं। समकालीन कविता में इन आद्यरूपों का बार-बार प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि हम कभी भी अपने 'जातीय मनस्' से विच्छिन्न नहीं हो सकते हैं। उनकी पुनरावृत्ति इस बात की परिचायक है कि हम जातीय अचेतन से किसी-न-किसी स्तर पर गहरे जुड़े हुए हैं। चाहे चेतनावस्था में हम इसे पूरी तरह से न जान सकें। उनका अस्तित्व अचेतन होते हुए भी सृजन के स्तर पर जाने-अनजाने वे सजीव एवं गतिशील हो उठते हैं। यही स्थिति नरेन्द्र मोहन की है। वे मां, बच्चा, पिता नदी, पहाड़, कमल आदि को एक आद्यरूप की तरह प्रयुक्त करते हैं और उन्हें मानवीय संघर्ष, तनाव तथा अस्मिता से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

यहां पर यह भी ध्यान देने की बात है कि मां-पिता और बच्चा आज की कविता में अस्मिता की पहचान तथा संघर्ष-स्थितियों को गहराते हैं, यह गहराना हमें नरेन्द्र मोहन के अतिरिक्त बलदेव वंशी, रामदरश मिश्र, गोविंद माथुर, अनिल श्रीवास्तव, केदारनाथ सिंह तथा हरीश करमचन्दानी आदि कवियों की लंबी पंक्ति में प्राप्त होता है। नरेन्द्र मोहन के अचेतन में मां और पिता का बिंब निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है जब वह 'सृजन की ऊर्जा' से दीप्त होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। इस दृश्य में दो चित्र एक साथ गुंथ गए हैं—एक प्रकृति का दृश्य जो डूबते सूर्य के सौंदर्य बिंब को प्रक्षेपित करता है और दूसरी ओर डूबते हुए सूर्य बिंब के साथ 'मां' का बिंब उभरता है जिसकी आंखों में एक जमाना डूबता हुआ

नजर आता है।

> "डूबते सूर्य को देख
> डूबती मां का चित्र खिंच जाता है
> आंखों के सामने
> और डूबते इतिहास की गवाही देने से पहले
> देखता हूं
> मां की आंखों में
> एक जमाना डूबता हुआ
> डूबते सूर्य की तरह !"

पूरी कविता एक संश्लिष्ट सौंदर्य-बिंब को व्यक्त करती है। इसी तरह का एक अन्य चित्र है जो संघर्ष एवं संवेदना के दो छोरों को एक स्थान पर केंद्रीभूत कर देता है। एक छोर है यात्रा का अनवरत रूप जब कवि मां से दूर है, और वह मौत से लड़ रही है। दूसरा छोर है मां का वह संघर्ष जो मृत्यु से आंखमिचौनी कर रहा है और कवि का मन दूर होते हुए भी "मां की स्मृतियों में जिंदा है।" "लंबी यात्रा ख़त्म होने में नहीं आ रही / घिसट रही गाड़ी / घिसट रही मां / जिंदगी और मौत की दहलीज़ पर।" ये पंक्तियां दो स्तरों पर चल रहे (यात्रा और मौत) संघर्ष और व्यथा को अत्यंत सूक्ष्मता से व्यक्त करती हैं और कविता का अंत एक अत्यंत ही सूक्ष्म बिंब से (चिड़िया) होता है जो पूरी कविता को एक 'सघन' अर्थ दे जाता है जो मात्र महसूस किया जा सकता है—

> मां को बंटवारा याद आ रहा
> मैं मां की स्मृतियों में जिन्दा
> भाग रहा मां की दहशत उपजाती यादों में लिपटा हुआ।

और अंत में संवेदना का यह सघन रूप पूरी कविता को एक 'उदात्त' अर्थवत्ता दे जाता है जो रागात्मक-संवेदनात्मक अधिक है—

> देखता हूं
> एक चिड़िया फुदकती हुई आती है
> मां के चेहरे पर और
> पलक झपकते गायब हो जाती है।

यदि गहराई से देखा जाए तो कवि के मानस में 'बंटवारे' का बिंब इतना गहरा घर कर गया है कि वह 'मां' की स्मृति में ही नहीं, वरन् कवि की स्मृति में बार-बार आता है। कवि की लंबी कविताएं 'अग्निकांड जगहें बदलता' तथा 'एक

अदद सपने के लिए' भी इसी संवेदना का विस्तार है जो घटनाओं और पात्रों के द्वारा गति एवं संयोजन प्राप्त करता है। नरेन्द्र मोहन की उपर्युक्त छोटी कविता (अपेक्षाकृत) 'बटवारे की स्मृति' एक सघन बिंब के रूप में है जो बार-बार उसे कचोटती है। इस दृष्टि से नरेन्द्र मोहन के रचना-संसार में 'देश विभाजन' एक प्रेरक तत्त्व है जो जगह-जगह पर संवेदना के रूप को गहराता है जिसमें एक गहरी पीड़ा व्याप्त है जिसे वही समझ सकता है जो उस 'पीड़ा' से गुजरा हो। कवि की यह पीड़ा एक स्मृत्ति के रूप में बार-बार आती है क्योंकि स्मृति काल के परिदृश्य को पकड़ती है जो अतीत होते हुए भी 'वर्तमान' से संबंधित है। यही नहीं, वह भविष्य या संभावना की ओर भी गतिशील होती है। सृजन में 'स्मृति' का यही विशेष संदर्भ है जो नरेन्द्र मोहन की कविताओं में यदा-कदा प्राप्त होता है।

नरेन्द्र मोहन की एक अन्य कविता 'पिता बिंब' को उभारती है जो ऑपरेशन टेबुल पर पड़े हैं और कवि मन मौत की विभाषिका से ग्रसित है। ऐसी स्थिति में एक 'गिद्ध' कवि के कंधे पर बैठ जाता है जो व्यक्ति के मन से 'पिता की जड़ों' को खोद और नोच रहा है—

"वह (गिद्ध) खोद रहा है और नोच रहा है
मेरे भीतर पिता की जड़ें
मैं उनकी मौत के एहसास से गुजर रहा हूं
मैं स्मृतिहत हो रहा हूं
मैं पिता-विहीन हो रहा हूं।

यहां पर 'पिता' वैयक्तिक होते हुए भी 'परंपरा' का वाचक है और पिता-विहीन होने का मतलब 'परंपराविहीन' होना है। क्या व्यक्ति व्यापक अर्थ में परंपरा से कट सकता है, उससे नितांत अलग हो सकता है? शायद यह संभव नहीं है क्योंकि व्यक्ति की (समूह की भी) चेतना संस्कार के रूप में परंपरा (गतिशील) से किसी-न-किसी स्तर पर अवश्य जुड़ी रहती है। उसकी अस्मिता का एक आवश्यक अंग है 'परंपरा'!

नरेन्द्र मोहन के रचना-संसार में अक्सर एक बिंब आता है और वह बिंब है 'बच्चे' का जो परंपरा से मासूमियत और अल्हड़पन का प्रतीक रहा है और इसी के साथ मानव की अस्मिता का रूप भी वह रहा है। नरेन्द्र मोहन में यह अस्मिता का रूप तो है, लेकिन इसके साथ-ही-साथ वह संघर्ष और जिजीविषा का भी प्रतीक है। इस दृष्टि से कवि की दो कविताएं जिनका शीर्षक 'बच्चा' ही है, महत्त्वपूर्ण है। बच्चे को आग ने तेजोदीप्त किया, दीवार ने पुख्ता किया, और गोली ने तेजी दी, लेकिन इन सबके ऊपर उसका न झुकने वाला रूप ही सर्वोपरि रहा जो परोक्षत: संघर्ष की चेतना को गति देता है

सबसे ऊपर रहा
उसकी किलकारियों का आकाश
धूमकेतु उसका कुछ न बिगाड़ सका

तो दूसरी ओर चट्टानों में सुराख बनाता हुआ बच्चा भी है—

चट्टानों के पीछे/एक बच्चा
दबा-सहमा-सकुचा/अब चहका कि चहका !
सुराख बनाता चट्टान में
झांकने के लिए
उस पार !

यह 'उस पार' झांकने की लालसा रहस्य लोक नहीं है, वरन् यथार्थ से गहरा जुड़ा हुआ एहसास है जो परोक्षतः सांकेतिक रूप से व्यक्त हो रहा है। समकालीन कविता के परिदृश्य में 'बच्चा' एक मुख्य 'रूपाकार' है जो आज के कवियों (युवाओं मे विशेष रूप से) को आंदोलित करता है जिसके द्वारा वे आज के संघर्ष, तनाव तथा विडंबना को बखूबी व्यंजित कर रहे हैं। (उसके लिए देखें मेरा लेख 'सम-कालीन युवा कविता' जो 'अक्षरा' सितंबर-नवंबर, 93 के अंक में प्रकाशित हुआ है।) इन उदाहरणों से एक बात यह स्पष्ट होती है कि नरेन्द्र मोहन, संवेदना के स्तर पर भी यथार्थ के आंतरिक रूप को 'अर्थ' देते हैं और इस दृष्टि से उनके प्रकृति-चित्र एवं दृश्य भी अपना महत्त्व रखते हैं।

कवि के प्रकृति-दृश्य अधिकतर एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में आते हैं, वे उद्दीपन विभाव के अंतर्गत भी नहीं आते हैं, चाहे तो उन्हें स्वतंत्र आलंबन रूप में स्वीकार कर सकते हैं। ये दृश्य या तो प्रकृति की जैविकता को प्रकट करते हैं अथवा अत्यंत परोक्ष एवं सांकेतिक रूप से संघर्ष एवं सृजन की ऊष्मा को व्यक्त करते है। इस दृष्टि से उनके प्रकृति चित्रों में मानवीय संदर्भ भी प्राप्त होता है जो हमे बलदेव वंशी, रामविलास शर्मा तथा शलभ श्रीरामसिंह आदि के प्रकृति चित्रो मे दिखाई देता है। इस दृष्टि से उनके प्रकृति चित्रों में आकार, रंग, शून्य, आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत तथा चिड़िया आदि जड़-चेतन वस्तुएं प्राप्त होती हैं जो समग्र रूप से उनके निरीक्षण, संवेग तथा सोच को एक जैविक रूप में प्रकट करती हैं। एक चित्र लें जिसमें पहाड़ों के बीच नदी एक तेज चाकू की धार है जो सन्नाटे के ससार को तार-तार करती काटती है—

पहाड़ों से घिरे-घिरे/पहाड़ों के बीच/...
चमचमाती

शोरगुल मचाती
पतली सी तेज चाकू की धार
काटती, तार-तार करती
सन्नाटे का संसार।

है तो यह दृश्य चित्र, पर कवि ने इसमें भी बड़ी कुशलता से 'संघर्ष' की छीनी रेखा को संकेतित किया है। यहां पर दृश्य संवेग और सोच में ढल गया है जो अत्यंत बारीक है। एक अन्य प्रकृति दृश्य में मेघ और पहाड़ का सांध्यकालीन मिलन नीले रंग की सृष्टि करता है जो कवि के बचपन के प्रिय नीले रंग से एकाकार हो (कमीज के रूप में) पूरे दृश्य को 'रंगमय' कर देता है—

मेरा बचपन लौट आया है क्या
कल्पना के घोड़े पर सवार
वर्षों बाद—
मनचाही आकृतियां बनाने लगा हूं बादलों में
और पहाड़ नीली कमीज सा
मेरे तन से लिपट गया है।

और अंत में, कवि को लगता है कि पूरी प्रकृति प्रकंपित और रोमांचित है, पूरा दृश्य जैसे प्रकृतिमय हो जाता है, एक विराट् दिक् के रूप में सारी प्रकृति भास्वर हो उठती है—

चोटियों को चूमते हुए
नीचे तक सरक आए हैं बादल
और झरने पहाड़ की जांघ चीरते बह रहे हैं
समूचा पहाड़ प्रकंपित और रोमांचित है।

प्रकृति के संदर्भ में यह विराट् विस्तृत दिकीय विस्तार 'समुद्र' से संबंधित कविताओं में देखा जा सकता है। इन कविताओं से गुजरते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का मन समुद्र से इस कदर एकाकार हो गया है कि वह मात्र 'समुद्र' न रहकर कवि के सृजन-सोच में एक प्ररक तत्त्व हो गया है। वह अपने विस्तार में कवि को मुक्त करता है और उसकी रचना में मोती सा दीप्तिमान है। यहां व्यापक अर्थ में समुद्र विराट् अनुभव-संसार भी है तथा दूसरी ओर मौन और निःशब्द भी। रचना में यह 'मौनता' टूटती है, आकार ग्रहण करती है—

"समुद्र के सामने/निःशब्द/भाषाहीन/रचना से पहले/

एक रचना को पाने में तल्लीन/समुद्र/मुक्त करता हुआ मुझे/
अपने विस्तार में/मोती-सा चमकता/रचना में।"

एक अन्य दृश्य दिक्काल विस्तार में समुद्र की व्याप्ति का है जहां लहरों के तुमुल संगीत में आसमान थिरकता नजर आता है और इस आसमान को समुद्र का शोर जज्ब कर रहा है और यह जिस्म 'मौन के संगीत' में लीन हो रहा है। पूरा दृश्य गति और मौन के द्वंद्व को साकार करता अंततः मौन के संगीत में एकीकृत हो जाता है। यहां दृश्य 'परिदृश्य' की विराटता में लीन होता नजर आता है—

गरजती हुई लहरों का तुमुल संगीत
संगीत में थिरकता आसमान
आसमान को जज्ब करता जिस्म
और जिस्म
मौन के संगीत में लीन!

यही नहीं कवि "समुद्र के किनारे खड़ा/शून्य में बदल रहा हूं/और महसूस कर रहा हूं/आकाश/समुद्र से सटा।"—यह दृश्य भी मैं की सापेक्षता में समुद्र और आकाश के एकत्व की विराटता को ही संकेतित कर रहा है। कवि को लगता है कि उसकी चुप्पी में समुद्र ही समा गया है। यहां पर समुद्र को एक ऐसे आद्य-बिंब के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो कवि को सृजन ऊर्जा और विराटता की सापेक्ष अनुभूति प्रदान करता है। इन समुद्र चित्रों में स्वयं कवि का मन ही 'समुद्र-मय' हो गया है जो सृजन-प्रक्रिया में एक व्यापक अर्थ प्रदान करता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कवि के रचना-संसार में यथार्थ के त्रासद एवं संघर्षशील रूप के साथ यथार्थ के ये 'संवेदना चित्र' जहां एक ओर सौंदर्य और संवेदना के व्यापक आयामों को खोलते है, वहीं ये संवेदना चित्र संघर्ष तथा त्रासद स्थितियों को भी अत्यंत सूक्ष्म रूप से व्यंजित करते हैं। समकालीन कविता में इस 'आयाम' का संकेत ही नही प्राप्त हो रहा है, वरन् इसका लगातार विस्तार हो रहा है जो यह प्रकट करता है कि कवि का 'मनस्' संस्कार रूप में आद्यबिंबों एवं रूपाकारों से जुड़ा हुआ है जिसे वह नए अर्थों और संदर्भों मे रचनात्मक 'अर्थ' दे रहा है।

तृतीय खंड

लंबी कविताओं की संरचना

वह तो साहचर्यों के ताने-बाने बुनता है

—रमेश कुंतल मेघ

बातचीत करनी है नरेन्द्र मोहन की तीन लंबी कविताओं के संकलन पर। नाम है—'संकट दृश्य का नहीं।' इसमें तीन कविताएं हैं—(1) एक अग्निकांड जगहें बदलता, (2) एक अदद सपने के लिए, (3) खरगोश चित्र और नीला घोड़ा। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा (1990) में प्रतीक भ्रांतियां हैं जिनके माध्यम से प्रेम और सृजन का अंतरावलंबन उसी प्रकार कल्पित किया गया है जिस प्रकार फ्रायडवाद में काव्य बुनावट तथा स्वप्न-बुनावट में समानांतरता सिद्ध की गई है। इसके पात्र है : जर्नलिस्ट व कवि सुचित्रा तथा चित्रकार व कवि सलमान। 'एक अदद सपने के लिए' (1985) में पंजाब में उग्रवाद की त्रासदी की दास्तान है प्रवाचक, समरजीत तथा सतवंत के माध्यम से। तीसरी कविता 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' (1980) देश-विभाजन से लेकर वर्तमान तक की इतिहास-चेतना है। इसमें धूमिल की 'पटकथा' की रंगत है। आत्मकथात्मक—आत्मसंस्मरणात्मक ढंग से इतिहास से तत्काल समय तक की राजनीतिक संस्कृति तथा साहित्यिक संस्कृति की टकराहट अर्थात् दो संस्कृतियों के बीच द्वंद्व को उभारा गया है। यूसुफ मियां के माध्यम से फूहड़ता और त्रासदी को, इतिहास और नौटंकी को संलिप्त किया गया है। जाहिर है कि संग्रह के शीर्षक से कोई भी कविता नहीं है। अतः संकट दृश्य का नहीं है। सही है। क्या संकट दृष्टि का है? या दर्शन का है? कवि का अभिलषित है कि वह बात रसिकों पर छोड़ दे उसकी मर्जी।

नरेन्द्र मोहन मूलतः आलोचक हैं। उनका प्रौढ़ कवि अब जागा है। पश्यती मे सोया प्रौढ़ता प्रेमी अभी जागा है, जो अरसे से उनसे वाकिफ भी है, उन्हें तो इस आलोचक को कवि रूप में स्वीकार करने में झिझक होती रही है। किंतु उन्होंने राजहठ से यह भी स्वीकार करा लिया। तो कवि नरेन्द्र मोहन ने आलोचक नरेन्द्र मोहन के रूप में सभी कविताओं पर दूरगामी चिंतन किया है और उन्हें

(कविता से पहले) में भी वे कहते हैं कि लंबी कविता लिखा जाना यह गारंटी नहीं है कि वह कविता सार्थक कविता है और वह बड़ा कवि है। उसकी गारंटी तो सृजनात्मकता है और वह अंतर्वस्तु से जुड़ी है। अपनी लंबी कविताओं का मार्मिक बिंदु वे 'तनाव' बिंदु मानते हैं। यह तनाव बिंदु कुछ प्रतीकों और बिंबों की आवृत्ति करता है—हर बदली हुई परिस्थिति में नये ढंग से रचनात्मक प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ : 'एक अग्निकांड' का यूसुफ देश-विभाजन पर जो आग का दरिया पाता है वह अमृतसर में अग्निकांड बनता है, आजादी के बाद जगह-जगह गोलीकांड हो जाता है। 'एक अदद सपने के लिए' में जलता हुआ मकान पहला प्रतीक है, जो जलियांवाला बाग के जन-संहारक गोलीकांड में, और सतवत की बंदूक नली से निकली गोली की बौछारों में उभरता है। यही 'खरगोश चित्र' में रंगों के साहचर्य से सुलगते ज्वालामुखी में, गोलीकांड और आग की हत्याओं में तथा अंततः वे लपटों में घिरी पेंटिंग तथा पेंटिंग की लड़की का लपटों में घिर जाने में प्रतिच्छायित होता है।···अतः कवि की कुंजी/कूट है···साहचर्य !! यहां तक कि यूसुफ मियां का प्यारा खरगोश भी एक सलमान की चित्र कविता में सृजन-प्रक्रिया का रहस्य-बिंदु बनकर फैल जाता है। इस कड़ी में कुआं, जलियांवाला बाग का शहीदी कुआं तथा सलमान चित्र में ऐसा 'कुआं' (अवचेतन) हो जाता है जिसमें सभी रेखाएं और रंग गिरते जाते हैं। 'अग्निकांड' में आए फलों से लदे पेड़ क्रमशः 'एक अदद सपने के लिए' में गुलाब के फूलों की टहनी का साहचर्य लिवा लाते हैं। 'आग' का महा प्रतीक या आद्यरूपात्मक बिंब तो तीनों कविताओं के तानेबाने बुन रहा है।

भूमिका में ही कवि इतिहास से वर्तमान में आने की बात कहता है। उसका इतिहास 'आधुनिक इतिहास' है अर्थात् समकालीन इतिहास अर्थात् उसके बचपन से उभरकर तत्काल तक चलता हुआ। इसका फैलाव देश-विभाजन, देश की आजादी, पंजाब की त्रासदी तथा सृजन और नारी की धुरी में भी दहशत और बंधन की दशाओं तक है। तात्कालिक वर्तमान में व्यक्तिगत प्रामाणिकता के आधार पर अपनी जातीय मिट्टी की जड़ों में पहुंचना नरेन्द्र मोहन की वह खूबी है जो उनकी निजी है, विलक्षण है। अद्वितीय है—इससे पहले/कि मैं चुप्पी में घिरे-घिरे मरूं/मैं पहुंच रहा हूं मिट्टी की जड़ों तक/ढल रहा हूं/प्रतीकों में मिथकों में/ढाल रहा हूं सपनों को भाषा में।

पंजाबी संस्कृति-चक्र के सर्वमोहन तथा सर्वमान्य प्रतीकों के प्रति नरेन्द्र का अनुराग ही उन्हें बड़े भारतीय समाज का अंग बना सकता है और बनाता है—"मेरी याद में अटकते हैं कीकर और नीम और बेरी के पेड़/मेरी यादों में लहराती हैं कनक की बालियां/मेरी याद में तैरते हैं रावी और चनाब, सतलुज और व्यास/मेरी याद में गूंजती है 'हीर'। यहां कवि ने जिन तीन पेड़ों को याद किया है वे

अमृतसर के बानी गुरु रामदास तथा बाबा बुड्ढा जी से जुड़े हैं।

एक ओर निजता नरेन्द्र मोहन की। आधुनिक या समकालीन से ज्यादा यह एकल और अकेला वर्तमान कृती है जो राजनीतिक संस्कृति के बराबर कांटे पर साहित्यिक संस्कृति को ला खड़ा करता है और मानो यह घोषित करता है कि भारतीय इतिहास और समाज के समान शक्तिमान प्रमाण साहित्यिक संस्कृति में है जो विद्वानों से ज्यादा लोकमानस का हिस्सा है। मसलन 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में मंटो (टोबा टेकसिंह), कुरतुल ऐन हैदर (आग का दरिया), अमृता प्रीतम (वारिस पर रची कविता), धूमिल (पटकथा की तर्ज पर नौटंकी), खुशवंत सिंह (ट्रेन से बढ़कर ट्रेन टु पाकिस्तान), आयोनेस्को (कुछ होने का लगातार इतजार 'गोदो' के जैसा) मोहन राकेश (मलबा-मलबे के मालिक का) मानवहादुर सिंह (यूसुफ अंत में बीड़ी सुलगा लेता है)।'''यह उपक्रम 'एक अदद सपने के लिए' में भी चला है—किला (काफ़्का के 'फैसला'), फहीमा रियाज की सतरें,' तलघर-जादुई सीढ़ियां (मुक्तिबोध), गुरुगोबिंद सिंह का एक पद्यांश (हाल मुरीदां दा), सोहणी महीवाल, राजेसिंह-मुकद्दम कुत्ते (गुरु नानक), हीरवारिस शाह।'''

साहित्यिक परंपरा तथा उसके प्रतीकों के प्रति नरेन्द्र मोहन कृतज्ञतापूर्वक ऋणी है। यह उनकी रेखांकनीय निजता है। इससे उन्हें आत्मबल तो मिलता ही है।

अब तक हुईं भूमिका वाली बातें।

× × ×

नरेन्द्र मोहन ने आधुनिक इतिहास की इतिहासहंता घटनाओं को लेकर वर्तमान को अभिलक्षित किया है।

अतः इन तीनों कविताओं में आनंद और आह्लाद अनुपस्थित हैं। आतंक (दहशत) और हिंसा (हत्या, गोलीकांड) में लथपथ एक सतत वर्तमान है जिसमें क्रूरता छाई है। ऐसे में कवि कविताओं में स्मृतियों के ताने तथा स्वप्नों के बाने बुनता चलता है। यह सृजन-सूत्र भी रेखांकनीय है। 'एक अग्निकांड' तथा 'एक अदद' में यह सीधे, सरल तथा स्पष्ट तौर पर परिलक्षित है लेकिन 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा' में आंतरिक हो गया है, तथापि सृजन-प्रक्रिया के कई भेदों को खोलता है। इस दृष्टि से यह तीसरी कविता अधूरी-सी तथा उलझी-सी होकर भी ज्यादा उद्घाटक है।

इस कविता में प्राश्निक लगभग सुचित्रा है। सलमान से पहला सवाल है: कवि/कलाकार के लिए सृजन क्या है? वह 'खरगोश-चित्र' देख रही है। दृश्य दृष्टि में बदलता है और उसे लगता है कि खरगोश मासूम तथा बाधित है जो फ्रेम —यथार्थ चेतन अवरोधक लांघकर बाहर आ रहे हैं। ये इच्छाओं-अनुभूतियों का प्रथम रूपांतरण है। यह संवेदना गहराती है जब सलमान बताता है कि सृजन (का क्षण) एक कील-सा गड़ता- नाल-सा ठुकता. एक बिंदु पर एकाग्र होता समाधि

में ध्यान ढलता होता है। ऐसे भाव (खरगोश) यादें, घटनाएं प्रसंग ही रंगो मे, रेखाओ मे शब्दो में, प्रतिबिंबों में कुलबुलाते-सुगबुगाते हैं। चुप्पी अर्थात् अवचेतन चेतन की देहरी हटती है। यह दूसरा सृजन क्षण है। इस क्षण का आविर्भाव सुचित्रा बताती है कि जब मन किसी घटना से बिंध जाता है, कोई दृश्य खालीपन भर देता है, कोई चिन्ह बेचैन कर देता है या कोई हादसा दहला देता है तब सृजन कर्म शुद्ध होता है। और प्रेरणा तथा प्रेरक मिलकर (उदाहरण के लिए) पतग उड़ाते बच्चों, लड़कों की लाशों में फिर खरगोशों की लाशों में अर्थात् बिंबो और प्रतीकों में ढान देते हैं। सृजन का तीसरा क्षण संसक्ति या आसक्ति (प्रेम) का होता है क्योंकि सृजन और प्रेम एक होते हैं। वे किसी फ्रेम में बंधते नहीं अर्थात् निर्बंध और स्वच्छंद होते हैं। सृजन की यह पीड़ा झेलने वाली नारी शक्ति होती है'''। उसे यहां 'सुचित्रा' से प्रतीकायित किया गया है तथा युवक-युवती प्रणय को भी आयास सलिप्त किया गया है। इस तरह सृजन में तकलीफ और उल्लास का, पीड़ा और सुख का द्विपर्ण (दाइनरी अपोजीशन) होता है'' प्रेम (सृजन और प्रीति दोनों) सदैव फ्रेम तोड़कर---सीमाएं, रूढ़िया, रीतियां तोड़कर बाहर आता है। यह मनुष्य तथा कृति दोनों का कायाकल्प करता है। बारंबार मसलन साल-दर-साल चुपचाप लीक पर चलने वाली, रिश्तो की खोखली रिवायत झेलने वाली, दबी-सहमी, सुरक्षा और फर्ज की वेदी पर चिरती-कटती तथा समर्पित संतप्त प्रारंभिक सुचित्रा फ्रेम तोड़कर बाहर आती है—प्रदर्शनी में, फ्रेम में वह चित्र की लड़की को लपटों से घिरी पाती है और फिर स्वयं (लड़की) लपटों में घिरे होने का एहसास करती है। वह समाज के फ्रेम के बाहर आती है, कला-परिपाटी के फ्रेम के बाहर आती है और लपटों तथा हादसों के खतरे उठाती है। वह हमेशा एक नयी लय तलाशती है। यही तो सृजनात्मकता (मौलिकता) की शर्त है। वह सृजन का चौथा क्षण है। चित्र की लड़की तथा लड़की सुचित्रा, आग में घिरी पेंटिंग तथा लपटों में घिरी सुचित्रा, मैं (सुचित्रा) और तुम (सलमान), कृति (पेंटिंग) और कृति (सलमान व सुचित्रा), चित्र (सुचित्रा) तथा कविता (लड़की) एकतान हो जाते हैं अर्थात् सृजन-प्रक्रिया के अनुभव-अभिव्यक्ति का यह परम क्षण है : परस्पर पारसरूप हो जाना। अतः फ्रेम और प्रेम का, रूप और अनुभूति का, फार्म और कांटेंट का एकत्व ही सृजन का उत्कर्ष है। अंतिम संप्रेषण की दशा मे दृष्टा और सृष्टा, सुचित्रा और सलमान, नरेन्द्र मोहन और मैं (पाठक) एकतान हो जाते हैं—एक ताना-बाना बुन लेते हैं। तब कृति की पहचान की, कृति के प्रतीकों के अर्थागम की छायाओं एवं आकृतियों की मधुमती भूमिकाए आती है। बहुत पहले सुचित्रा को लगा था कि वह नीले घोड़े पर सवार होकर नीले आसमान में उड़ रही है। अब वह स्वयं नीले घोड़े के चित्र में ढल जाती है। नीला घोड़ा अवचेतन में निहित महाशक्ति, अनादिवासना है, लिबीडो महारति है। नीले

घोडे पर चित्र या नीले घोड़े पर कविता—एक ही प्रति कर्म है जिनके माध्यम विभिन्न हैं।···सुचित्रा फ्रेम से बाहर तो आ गई, चित्र के फ्रेम से बाहर प्रेम के नीले घोड़े पर भी ऐड़ लगा बैठी किंतु 'नये चित्र' के संदर्भ में फर्श पर गिर पडती है। पुनः नंगे तथा आग भरे वातावरण का सामना करना पड़ता है सृजन युगल अर्थात् सुचित्रा-सलमान को। इसे ही कालिदास ने भवानीशंकर माना है तथा निराला ने शब्दार्थ। जब यह मैत्री टूटेगी तो सुचित्रा (कृति) फर्श पर धड़ाम से गिरेगी।

इस तरह इस कविता के रहस्य, जादू तथा भेदों को पुण्य-कथा के द्वारा नही बल्कि सृजन यात्रा से पहचाना जा सकता है। इसमें साधन है—तादात्म्यीकरण (आइडेंटिफिकेशन) तथा भ्रांतिकरण (इल्यूजन) पेंटिंग की लड़की व मांसल लड़की पतग उड़ाते लड़कों की लाशें तथा पेटिंग के खरगोशों की लाशे, पेंटिंग की लपटे तथा बाहर के हादसों की लपटें आदि की ऐसी ही तरकीबें हैं। बाहरी कचरे को एक सृजनाग्नि-तृष्णाग्नि जलाती है, दोनों तरफ कृति और कृती को भावुक और ग्राहक को। रूप और अंतर्वस्तु को॥···वस्तुतः इसमें इस आधुनिक कवि की रचना-प्रक्रिया के भी ताने-बाने ऐसे ही हैं।

नरेन्द्र मोहन की सृजन-पद्धति में केंद्रीय भूमिका तथा बुनकरी 'साहचर्य' (एसोसियेसंस) करते है। स्वप्न-प्रकार्य (ड्रीम-वर्क) में जैसा होता है वैसा ही कुछ रचना में साहचर्य करते हैं जिसमें भावों की शृंखला, स्मृतियों की शृंखला, घटनाओं की शृंखला या प्रसंगों की शृंखला झूलती-खुलती-बंधती चलती रहती है। कभी-कभी ये शृंखलाएं मिल-जुल-उलझ जाती हैं।

साहचर्य में किसी उत्तेजना या उसकी छाया से संबंधित परिस्थितिया या घटनाएं स्वतः याद में कल्पित होती चलती हैं। यह सामान्य न्याय से संचालित होता है और लगभग बंधनमुक्त होता है। मनोवैज्ञानिकों ने साहचर्य-प्रणाली में समीपता, समानता, विरोध, प्रारंभिकता, नवीनता, बारंबारता और स्पष्टता को निर्धारित किया है। यह बहुधा अभिधात्मक तथा विवरणमूलक होती है। 'एक अग्निकांड' तथा 'एक अदद' में ये प्रचुर लक्षण विद्यमान हैं।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में हम साहित्यिक संस्कृति के साहचर्यों की चर्चा कर चुके हैं। देश-विभाजन के फलस्वरूप (1947) नरसंहार में लाहौर, फिर अमृतसर, फिर गांधीजी की हत्या (1948), फिर देश के खंड-खंड में सांप्रदायिक, उग्रवादी, अराजकतावादी, आपराधिक, हत्याकांडों का सिलसिला चलता है। यूसुफ मौलवी इन अग्निकांडों को झेलता है टोबा टेकसिंह की तरह। वह 'पागल' हो जाता है। चारों ओर 'आग' फैलती जाती है। इतिहास भी जल उठता है। देश-विभाजन द्वारा हरे-हरे पेड़ों को ही काट दिया गया है। नेहरू युग के बाद महान् राजनीतिक नाटक फूहड नौटंकी में घटित होता जाता है। एक अंधेरा

जंगल है। यूसुफ बूढ़ा हो जाता है।

दूसरी कविता 'एक अदद सपने के लिए' में साहचर्यों के कतिपय लक्षणों को मिलाने के लिए लगभग बारह रूपांतरण' (ट्रांस्फार्मेशंस) किये गए हैं। इसके लिए स्वप्न-दिवास्वप्न-दुःस्वप्नों का मिश्रण किया गया है। आजादी के दिन के केंद्र से पीछे समरजीत के पिता-पितामह के माध्यम से जलियांवाला बाग तथा शहीदी कुआं के इतिहास का साक्षात्कार होता है, आजादी के बाद पंजाब में आतंकवाद (सिख-टेररिज्म) तथा वाम आतंकवाद की दहशत फैल जाती है। गुलाबों की खेती करने वाला सतवंत बंदूक की नली से गोलियां चलाकर खून के लाल धब्बों से दृश्य रंग डालता है। बाद में स्वयं पंगु (टुंडा) और पागल हो जाता है (यूसुफ की तरह पागल)। तीनों प्रवाचक, समरजीत तथा सतवंत आजादी के एक ही दिन जन्मे थे किंतु तीनों के रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं। सारा माहौल लाशों और गोलियों से पट जाता है। किला और सुरंग बन गई है नौकरशाही तथा राजनीति। लाशों और गोलियों के रिश्ते पार्टियों से घुलमिल जाते हैं। यह समानता तथा समीपता वाला साहचर्य हुआ। अब कायाकल्पो या रूपांतरणों का लंबा सिलसिला चलता है : समानता एकरूपता की भ्रांतियां फैलाती है—आदमी लाश बन जाता है तथा लाश आदमी। हाकिम जमात इस पर किले के अंदर तथा किले के बाहर लंबी बहसें करती है, लाश वोटों में तथा वोट लाशों में बदल जाते हैं, गुलाब की टहनी बंदूक की जादुई छड़ी में बदल जाती है, समरजीत के हाथ की किताब सतवंत की लहूलुहान किताब बन जाती है (शहीदी बीड़ की तरह), शहर में जंगल तथा जंगल में शहर आ जाते हैं, किला तलघर में और तलघर किले में तब्दील हो जाता है, दिवास्वप्न दुःस्वप्न में और दुःस्वप्न दिवास्वप्न में ढल जाते हैं, प्रवाचक स्वप्न को भाषा में तथा भाषा को प्रतीकों मे मिथकों में ढाल रहा है एव ढल रहा है। यही सिलसिला मिलकर पूरी कविता को बुनता है। नरेन्द्र मोहन की इन तीनों लंबी कविताओं में ऐसे ही रूपांतरणों का साहचर्य कविता की संरचना को खड़ा करता है।

इन लंबी कविताओं में भी छोटे से कैनवास पर काम करके नाना रूपांतरणों, स्मृतियों-स्वप्नों-आत्मकथा-आधुनिक इतिहास का सहारा लेकर संवेदनाओं को उत्तेजित करते हैं। अतः तीव्रता है। वे विचारों और दर्शन की गांठों की परवाह नहीं करते। उनमें आवृत्तियां बहुत ज्यादा हैं।

नरेन्द्र मोहन की ये कविताएं सौम्य हैं। उसी तरह जैसे स्वयं वे जीवन मे सौम्य हैं। इनमें बड़े भारी दावे नहीं हैं। ढपोरशंखीपन नहीं है। अतः ये मामूली कविताएं हमारी निजी हैं। ये आनफदम की समझदारी को उदार हिंदू की धर्म-निरपेक्ष दृष्टि से आधुनिक भारत की पहचान को ज्यादा स्पष्ट तथा सुलभ करती हैं।

विभीषिका की गहन अनुभूति

—डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय

'संकट दृश्य का नहीं' में डॉ० नरेन्द्र मोहन की तीन दीर्घ कविताएं संकलित है। श्री ओमप्रकाश 'निर्मल' (स्वर्गीय) और विजयदेव नारायण साही (स्वर्गीय) को समर्पित ये कविताएं स्वाधीनता-प्राप्ति के समय के हिंदू-मुस्लिम दंगों के हैरत-अंगेज हादसों की गहन अनुभूति में कवितात्मक परिणतियां हैं और ये अन्य बातों के अलावा, दंगा-फसाद में हुई क्रूरताओं, हिंस्र पर-पीड़ाओं-प्रतिशोधों के गहरे अहसासों के कारण रचनात्मकता उपलब्ध कर सकी है और इसीलिए प्रशंसनीय हैं।

साहित्य में मानव चिंता हो या सामाजिक परिवर्तन की चेतना, यदि वह सतही है, तो वह साहित्य में परिणत नहीं हो पाती, वह साहित्यनुमा बनकर रह जाती है। डॉ० नरेन्द्र मोहन आलोचक के रूप में शुरू हुए थे। वह आलोचना के लिए अंतहीन अध्ययन और सर्वज्ञता की प्राप्ति के सतत प्रयत्नों के झंझटों एवं किसी सुनिश्चित विश्वबोध या दृष्टि (Vision) के विकास या परिवर्तन के लिए किसी विचारधारा के अपनाने तथा तर्क और तथ्यसंग्रह के झमेले से आक्रांत होकर शायद कविता की ओर मुड़ गए। उनकी रचनाओं में द्वंद्वों की अनुभूति थी और वाक्-चातुर्य की कला भी थी तथापि उनका द्वंद्वबोध, उद्वेग उन्हें किसी विकल्प की ओर नहीं ले जा सका था। तथापि नरेन्द्र मोहन में मानव-चिंता के अहसासात और उनकी मानवीयता प्रभावित करती थी। 'संकट दृश्य का नहीं', की लंबी कविताओं में उनकी उक्त प्रवृत्तियों और रुझान परवान चढ़े हैं और एक मंजी हुई कलम से, सांप्रदायिक-हिंसा की अभूतपूर्व भयंकरता इन रचनाओं में मनस्तात्त्विक गंभीरता के साथ व्यक्त हुई है।

कवि की रचना-विधि यह है कि वह बाहरी यथार्थ का अंतर्मुखीकरण करता है और जो सांप्रदायिक दंगों के शिकार हुए, कल्पना या फंतासी से वह उन्हें दृश्य में बदलता है अतः शीर्षक भ्रामक है, वस्तुतः संकट अमानवीय हिंसा के दृश्य का ही था, है

अनुभूत का दृश्यीकरण कवि ने नाटकीय विधि पर किया है—"कौन है यह आदमी, निर्विकार सा, उदास बैठा रहता है/बड़बड़ाता रहता है, शून्य में, कहीं ताकता एकटक/पथराई हुई दहशत आंखों में, देखकर डर लगता है"

दुर्घटना या दरिंदगी से कत्लोगारत के शिकार व्यक्तियों को, अतिकल्पना से नज्जारे में बदलकर, कवि पाठक के मन में इस घातक संकट का बिंब खड़ा कर देता है।

दूसरा रचना रहस्य यह है कि कवि दंगों से प्रभावित व्यक्ति को दहशत या जुनून में, विक्षिप्तता में ले जाता है। मनुष्य को वन्यपशु बनते और उसके आघात से जख्मी आदमी, सामान्य ज्ञान में नहीं रह सकता, वह विक्षिप्त सा हो जाता है और आहत, घायल, लूटपाट-बलात्कार, हनन-अग्निदाह का साक्षी और भोक्ता व्यक्ति विक्षिप्तता की दशा में पहुंचकर, दर्शक और पाठक में सर्वाधिक त्रासद करुणा जगाता है। इस रचना-प्रक्रिया का प्रयोग मंटो ने, 'टोबा टेकसिंह' कहानी में किया था, नाटकीय-दृश्यीकरण की प्रविधि तथा प्रभावित व्यक्ति की विक्षिप्त-परिणति, मानवीय संवेदना को एक विद्युत-आयात, शॉक द्वारा जाग्रत कर देती है और हम मनुष्य के वहशीपन, राष्ट्रवाद की सीमाओं-संकीर्णताओं और सांप्रदायिक, विष की मारक मनोवृत्तियों की भयंकरताओं से स्वयं स्तब्ध रह जाते हैं। कवि, इस मानवता के लोप से उत्पन्न स्तब्धता जगा सका है, यही इन कविताओं की उपलब्धि है।

और एहसास को न केवल कोमलता के साथ संवेदित भाषा में ढाला गया है, बल्कि उक्तियों को कलात्मक बनाने के लिए प्रचलित से विचलन का सृजनात्मक रवैया भी अपनाया गया है। इस संदर्भ में नरेन्द्र मोहन ने विरोधी रंगों की सृष्टि, सूक्तिकरण द्वारा विशद का संपुटन और ऐसे कई कलात्मक उपाय किए हैं :

(1) गोली को फूल की मानिंद सहने की ताकत

(2) तभी मैंने पाया था, आज़ादी का दूसरा नाम
हंसी भी हो सकता है।

(3) एक चुप्पी में दफन होने और दफन
होते हुए तालियां बजाने

(4) उसे बहुत प्रिय था खरगोश ''' उसे
छूते हुए कांप-कांप जाता '''उसे छत
गिरती महसूस होती '''दिखतीं डरावनी
आकृतियां'' हिलते हड्डियों के ढांचे '''।

नाटकीय दृश्य विधान और आकर्षक जुमलों की बुनावट के सिवा नरेन्द्र मोहन बचपन में घटी रक्तरंजक घटनाओं को ऐतिहासिक दुष्कांड की तरह देखते

ैं और घटनाओं के ब्यौरे से बचकर उनसे प्रभावित व्यक्ति को एक चरित्र की तरह उठाते हैं। अतः कथात्मकता का भी संस्पर्श आ जाता है।

तथापि मुख्य रचना-प्रकार दृश्यीकरण का ही है : 'मेरे सामने एक किला है/किले के लौहकपाट बन्द हैं/मैं उन्हें पीट रहा हूं···।'' यही तरीका अपनाकर कवि, पाठक के गहन तल को छूता है। अपनी सच्ची दुःखानुभूति से वह स्वयं भी, ंगो के मारे हुए लोगों में से एक हो जाता है···और हृदयविदारक उक्ति गढ़ता है :

> ''इससे पहले कि/मैं चुप्पी में घिरे-
> घिरे मरूं/मैं पहुंच रहा हूं
> मिट्टी की जड़ों तक !''

और कवि मिट्टी की जड़ तक वास्तविक यथार्थ तक, अपने लोगों की यातना की हकीकत तक पहुंचकर जैसे अपनी कवितात्मकता का वास्तविक, सहसंबंधी या विभाव (Objective Correlative) पा गया है···अब तक कवि पूर्व कविताओं में, द्वंद्वों, दुःखों, दाहों के अमूर्तन में था, अब वह वास्तविक जनाधार पा गया है। अभी कविता, जन-यथार्थ से जुड़कर सच्चाइयों का शीशा बन गई है, जिस में पारदर्शिता है, जिसमें पंजाब के दंगों की दहशत में डूबे वास्तविक लोग है जो मर रहे हैं, मारे जा रहे हैं, मार रहे हैं, जिना कर रहे हैं, लूट रहे हैं, आग लगा रहे हैं।

'खरगोश : चित्र और नीला घोड़ा' में सलमान और सुचित्रा को प्रेम प्रतीक बनाकर, यथार्थ का डरावनापन सलमान के चित्रों से दिखाया गया है और 'खरगोश', ''प्रेम और कोमलता का अभिप्राय या मोटिफ है। कवि कर्म, मानव-विरोधी वातावरण मे यातना का अनुभूत बन जाता है और यह दर्द, यातना या दाह या वेदना, ये शब्द छायावादी या रोमानी 'दर्द' के पर्याय नहीं, यथार्थवादी आधुनिक काल के भीषण यथार्थानुभव से संबंधित हैं अतः कवि कहता है :

> सृजन क्या है मेरे लिए
> एक कील सा गढ़ता
> नाल सा ठुकता
> ···एक बिन्दु पर एकाग्र
> ध्यान ढलता समाधि में
> और ठीक इसी कारण,

यातनानुभूति और करुणा की आंतरिकीकृत टीस ने, नरेन्द्र मोहन की कविता व सचमुच कविता बना दिया है भाग-जगत की प्रगाढ़ता से काव्य भाषा भी स्व

में सहज हो गई है जैसा आपबीती में होता है, भाषा का लवाजमा, बलात् लाए बिंबों-अलंकारों का लदाव स्वत: उतर जाता है और कवि भाषा यथार्थ का सीधा मंजर दिखाने में सफल हो जाती है। भाषा का पारदर्शी, निथरा-निर्मल रूप इन रचनाओं में कवि की चेतना की कोमलता का दृष्टांत बन गया है।

ऐसा लगता है कि उक्त तीनों रचनाएं, एक ही रचना, 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' के दृश्य मात्र है, उनकी स्वतंत्र, पृथक सत्ता नहीं है क्योंकि तीनों में वस्तुसहसंबंधी या विभाव एक ही है, सांप्रदायिक हिंसा...कवि ने भूमिका में तीनों रचनाओं के स्वतंत्र व्यक्तित्व की बात कही जरूर है परंतु यदि इन्हें एक साथ बिना शीर्षकों पर ध्यान दिए, पढ़ा जाए तो तीनों रचनाएं एक रचना के ही तीन दृश्यपटल प्रतीत होते हैं—एक नाटक के दृश्यों की तरह। जो हो, 'संकट दृश्य का नहीं', का समग्र प्रभाव यही पड़ता है कि जब तक कविता में निमग्न कवि का ध्यान समाधि में नहीं बदलता, एकाग्रता और तन्मयता का वर्ण्य के साथ एकाकारिता चरमसीमा पर नहीं पहुंचती, तब तक सृजन, सिद्ध नहीं होता, प्रसिद्ध भले ही हो जाए।

दिल्ली में महानगर की तरह अपनी-अपनी रचनाओं को प्रसिद्ध करने की स्पर्धा अधिक रहती है किंतु 'प्रसिद्ध' और 'सिद्ध' में अंतर होता है। संचार माध्यमों और पीठ मर्द प्रिय मित्रों के कारण, 'प्रसिद्ध' रचनाओं में कई 'असिद्ध' रचनाएं रहती हैं किंतु यह कहने को यार लोग तैयार नहीं होते और तैयार हो जाएं तो नाराजियों का सामना कौन करे?

ऐसे स्थापना के लिए विक्षिप्त साहित्य की महफिल में अंतत: डा० नरेन्द्र मोहन की दीर्घ कविताओं के विषय में कहना यही है कि यहां नरेन्द्र मोहन की कविता को सिद्धि मिल गई है।

लंबी अनुभव-प्रक्रिया और कला-कर्म

—डॉ० भगवानदास वर्मा

मैं नरेन्द्र मोहन का करीबी पाठक रहा हूं। हर नई किताब को उसके प्रकाशन के साथ मैंने पढ़ा है, इसलिए बाद की उनकी हर रचना पीछे वाली से किस बिंदु पर आगे है, अलग है या वही है, इसका खाका मेरे दिमाग में अपने आप बनता गया है। इस वक्त उनकी तीनों लंबी कविताएं मेरे सामने हैं। इन्हें भी मैंने इसी तरीके से पढ़ा है। नरेन्द्र मोहन ने छोटी कविताएं भी लिखी हैं, बल्कि कवि के रूप में उनकी पहचान छोटी कविताओं के कारण ही बनी है। इन्हें पढ़ने पर मैंने पाया है कि नरेन्द्र मोहन का कविता-संसार मोटे तौर पर तीन स्तरों पर उद्घाटित हुआ है। इनमें एक स्तर कवि की निजी स्मृतियों, व्यक्तिगत संदर्भों तथा आत्मकथात्मक प्रसंगों को समेटे है। इस स्तर का दायरा काफी बड़ा है। दूसरे स्तर पर कविता-कर्म अर्थात् कविता-चेतना की प्रयोजनीयता पर चंद लिखी गई रचनाएं हैं। यह स्तर काफी छोटा है। तीसरे स्तर पर वे रचनाएं हैं जिनमें समकालीन सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों से जूझते कवि का आत्म-संघर्ष, पीड़ा, विडंबना तथा विद्रोह चेतना उजागर हुई है। यह स्तर काफी बड़ा है। उनकी लंबी कविताओं में ऊपर के तीनों स्तर एक साथ उद्घाटित हुए हैं। आत्म-कथात्मक संदर्भ इन कविताओं की पृष्ठिका बनाते हैं, कविता-कर्म इनकी अभिव्यक्ति चेतना में प्रक्षेपित हुआ है, आत्मसंघर्ष एवं विद्रोह चेतना इनका सरो-कार बनकर उद्घाटित हुई है। 'मैं और शहर', 'क्या नदी मर चुकी है', 'चीखता हूं मैं', 'आलोचक', 'पूर्व पीढ़ी', 'भाषा कर्म', 'हंसी फूटने पर' इस हादसे में 'उड़ने के लिए', 'पेंटिंग और दृश्य', 'मैं मरना नहीं चाहता', 'एलर्जी', 'कहां खत्म होती है बात', 'घोड़ा छुरे की नोक पर' आदि छोटी कविताओं में इनकी लंबी कविता के जर्म्स आसानी से देखे जा सकते हैं।

असल में तमाम कविताओं के भीतर से कवि की जो अकुलाहट फूटती है और जो एक केंद्रीय स्थिति बनती है, उसे इन लंबी कविताओं में मुकम्मिल रचना रूप मिला है। लगता है इन छोटी कविताओं के बीच जो खाली अवकाश है, उसे

पार कर 'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए' तथा 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा' लिखी गई हैं। इससे यह सीधे साबित हो जाता है कि कवि एक ऐसे फार्म की तलाश में था, जिसमें सोच और संवेदन की तनावपूर्ण लंबाई अपने काव्य-लक्ष्य को हासिल कर सके। अच्छी छोटी कविता आशय-समृद्ध होने के बावजूद भावाविष्कार के तल पर सूक्ष्म, क्षिप्र, अंतर्मुखी और वर्टिकल होती है, जबकि इसके उलट लंबी कविता आशय-द्रव्य के मूर्तिकरण के स्तर पर स्थूल, विस्तारित, बहिर्मुखी और 'हॉरीजेंटल' होती है। ऐसा होना इसकी जैविक जरूरत है और आधुनिकता का रचनात्मक तकाजा कुछ ऐसा है कि उसमें अनुभूति और विचार का तनाव लंबे अर्से तक बरकरार रहता हैं। इसे टिकाए रखने के लिए कथातत्त्व का (कथा का नहीं) आधार जरूरी हो जाता है। इस तरह अनुभूति, विचार और कथा-तत्त्व, ये तीन घटक लंबी कविता के मूल घटक हैं, शर्त यह है कि इन तीनों का आंतर-क्रियात्मक-रसायन काव्य-ऊर्जा का सहचारी बना रहे। अब यह बात उतनी ही सच है कि आज का प्रयोगशील कवि इन तीन घटकों को अपने ढंग से ग्रहण करता है और निजी अंदाज़ बयां में प्रस्तुत करता है। स्मृति, प्रकरण, चरित्र, फंतासी, बिंब, रूपक, प्रतीक, नाटकीयता आदि वे साधन हैं जिनके माध्यम से लंबी कविता की काव्य-ऊर्जा को निकास मिलता है।

नरेन्द्र मोहन की तीनों लंबी कविताएं एक साथ पढ़िए तो इतिहास का एक लंबा टुकड़ा इन कविताओं की समान पृष्ठभूमि बनाता नज़र आएगा। आज़ादी पूर्व इतिहास चेतना का आज़ादी में परिवर्तन, उसके साथ जुड़ा विभाजन का विद्रूप, उससे संभलकर निकला क्षणजीवी सुनहरा भविष्य जो तुरंत टूटा और जिसने जन्म दिया लंबे बिडंबनापूर्ण मोहभंग के अवसाद को। इस अवसाद के रूबरू खड़ी परिवर्तनमुखी विद्रोह-चेतना, संघर्ष, संताप और वांछित परिवर्तन के संकेतों से चित्रित यथार्थ, इस तरह एक लंबा स्पैन हरकत करता हुआ नज़र आता है। तीनों कविताओं का अनुभव क्षेत्र एक ही है, संवेदनशीलता की ग्रहण पद्धतियां लेकिन जुदा हैं। वैसे अगर पद्धतिक क्रम (chronological order) से लें तो 'एक अदद सपने के लिए' पहले क्रम पर आती है, उसके बाद 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' और आखिर में 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा' क्योंकि 'एक अदद सपनों के लिए' में मोटे तौर पर आज़ादी पूर्व का संदर्भ, एक अग्निकांड जगहें बदलता' में विभाजन की घटना और 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा' में वर्तमान यथार्थ कुछ ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। यह नहीं कि तीनों कविताओं ने अपने को एक ही घटना और एक ही काल टुकड़े से बांध लिया है। अतीत, वर्तमान और भविष्य को एकमेक सरकती इकाइयां तीनों जगह हैं, हां ज़ोर किसी एक इकाई पर है। वर्तमान की पकड तीनों जगह है, शायद इसीलिए इन कवि

ताओं की लंबाई स्वाभाविक तरीके से अपने अंत को हासिल कर सकी है।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' सांप्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि में युसुफ के फतासीजन्य चरित्र को हादसे का भुक्तभोगी बनाती है, लेकिन हादसे के युसुफ-कीय बखान तक कविता सीमित नहीं रहती। अग्निकांड जैसे-जैसे जगह बदलता है, युसुफ भी कालातिक्रमण करता है। यह कविता किसी घटित को घटते हुए के साथ जोड़कर उसे यथार्थजन्य समय प्रवाह का हिस्सा बना देती है। इसीलिए यूसुफ की गवाही मात्र इतिहास कथन न रहकर यथार्थ में जीने वाले हर संवेदनशील व्यक्ति की पीड़ा बन जाती है। यह वह व्यक्ति है जो एक अग्निकांड से झुलसे जाने के बाद छुटकारे की सांस अभी ले भी नहीं पाया है कि अग्निकांड की लपटों की गिरफ्त में जकड़ा जाता है। निजी स्तर पर वर्तमान की भयावहता और मानव-विरोधी सांप्रदायिक वारदातों के सिलसिले को देखता हुआ कवि अपने भुक्त अतीत में दाखिल होता है। वहां भी विभाजन की घटना से हत्याकांड और उसकी विडंबनाओं को याद करता हुआ वह फिर से वर्तमान में लौट आता है। अग्निकांड अब भी खत्म नहीं हुआ है। वह सिर्फ जगह बदल रहा है। विभाजन का इतिहास और संदर्भ बदल गए हैं लेकिन मानवता के बंटवारे पर यकीन करने वाली मानसिकता कहां बदली है—

> यूसुफ क्या करे !
> एक लंबी इंतज़ार
> होने न होने के बीच मार-धाड़, लूट-खसूट, हिंसा-प्रतिहिंसा और
> बर्फ की तरह ठंडा पड़ते जाना
>
> × × ×
>
> इस घिराव में से बाहर आ सकने का
> रास्ता तलाश करता हुआ / वह बूढ़ा हो गया है और गरीब
> और चुप-चुप देखता रहता है / नक्शे का कभी एक हिस्सा
> कभी दूसरा जलता / एक अग्निकांड / जगहें बदलता

'एक अदद सपने के लिए' में वर्तमान क्षण पर खड़ा कवि पिछले सैंतीस वर्षों का जायजा ले रहा है। मैं, सतवंत और समरजीत के चरित्रों के माध्यम से दादा पीढ़ी, पिता-पीढ़ी और युवक पीढ़ी (वर्तमान पीढ़ी) के सपनों के बनने-टूटने का इतिहास प्रस्तुत करने वाली यह कविता आज के सांप्रदायिक जुनून और उग्रवादी आतंक की हौलनाक स्थिति की कारण-मीमांसा करती है। स्थिति से दो-चार होने पर पाखंड रचने वाले हुक्कामों और अवसरवादी बुद्धिजीवियों के प्रयासों का पर्दा फाश करता हुआ कवि उग्रवादी युवा मानसिकता की 'स्क्रीनिंग' करता है। व.

पाता है कि पारिवारिक, व्यवस्थागत, सत्ताकेंद्रित तथा अन्य शोषणकर्मी तत्त्वों ने युवा-चेतना को उग्र बनने के लिए मजबूर किया है। इस उग्र मानस को फिर से सृजन के हित में कारगर बनाने के लिए नये सिरे से प्रयासों की जरूरत है। विषाद था कि हताशा से स्थिति संभलेगी नहीं। कवि को अपने कविता-कर्म पर विश्वास है, उसकी सांस्कृतिक शक्ति पर भरोसा है। इसलिए वह चुप्पी साधे निष्क्रिय बैठा रहना नहीं चाहता, कारणों की जड़ों में जाना चाहता है और नवीन ऊर्जादायिनी काव्य-शक्ति के माध्यम से परिवर्तन को भी भविष्य के यथार्थ में तब्दील करना चाहता है—

> इससे पहले
> कि मैं चुप्पी में घिरे-घिरे मरूं
> मैं पहुंच रहा हूं मिट्टी की जड़ों तक
> ढल रहा हूं प्रतीकों में, मिथकों में
> ढाल रहा हूं सपनों को भाषा में !

'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में मुख्य चरित्र सुचित्रा के माध्यम से पारिवारिक रिवायतों से शोषित कवयित्री-स्त्री के पहचान खो चुके व्यक्तित्व को अपनी सृजन-क्षमता पुनः दिलवाने की प्रक्रिया का चित्रण हुआ है। चित्रकार सलमान की चित्र-प्रदर्शनी में लगे तीनों चित्रों में उद्घाटित तीन स्थितियां एक स्तर पर सलमान और सुचित्रा के रागात्मक संबंधों का कारण बनती हैं तो दूसरे स्तर पर मानव-विरोधी स्थितियों को कला-चेतना की परिवर्तनमुखी सृजनात्मक क्षमता के रूबरू खड़ा करके ज़िंदगी की स्वाधीनचेता ऊर्जा को अभिव्यक्ति का रास्ता देती है। पहला चित्र फ्रेम को तोड़कर भागने का प्रयास करते सहमे, घबराए, दहशत-जदा खरगोशों का है। वह चित्र उस मासूम बाल्य-चेतना का प्रतीक है जिसे किसी की हिंसक वृत्ति ने गोली से दाग दिया है। दूसरा चित्र एक लड़की का है जिसके होंठों की गुलाबी पखड़ियां नीली पड़ चुकी हैं, आंखों की गुफाओं में दबे सांपों की फूत्कार ने जैसे उसे डस लिया है। यह लड़की अपनी कैद से मुक्ति के प्रयास में सफल होती दिखाई दे रही है। तीसरी पेंटिंग उस लड़की की है जो किसी क्रूर कर्मा द्वारा लगाई गई आग की लपटों का शिकार हो गई। आग में झुलस गई है। तीनों चित्र सुचित्रा के कवि-व्यक्तित्व और निजी व्यक्तित्व की त्रासदी को एक साथ उभारते हैं लेकिन अंत में चित्रकार की मुक्तिकामी रचनाशीलता जो नीले घोड़े की फंतासी में अभिव्यक्त हुई है, सुचित्रा को शोषण के फेर से मुक्त हो जाने का साहस प्रदान करती है। सलमान और सुचित्रा अर्थात् चित्र और कविता का गठबंधन, खरगोश का सहमापन, गुफाओं के सांप और आग की लपटें

सलमान और सुचित्रा को अतिक्रमण की शक्ति देते हैं और आज़ाद हवा में सास लेने की प्रेरणा 'सुचित्रा और सलमान झांकते हैं/एक दूसरे की आंखों में/कचरे को जलाती, एक लपट दोनों तरफ़'।

तीनों कविताएं लंबी क्यों है ? क्या इनमें कथ्यों (थीम) के निरूपण के लिए काव्यवस्तु की प्रस्तुत लंबाई आवश्यक है ? संवेदन को अनुभव में तथा विचारो को प्रागवैचारिक रूपक प्रक्रिया में फैलाने में कवि को किस सीमा तक सफलता मिली है ? क्या यह इसीलिए तो लंबी नहीं है कि इन्हें लंबा किया गया या इस-लिए लंबी हैं कि उन्हें ऐसा होना ही था। हमारे मन में ये सवाल इसलिए उठे है कि नरेन्द्र मोहन एक प्रयोगधर्मी रचनाकार हैं। चिंतन के धरातल पर आलो-चक, स्वभावत: कवि, नाट्य शब्द के अन्वेषण में अभ्यासत: नाटककार के दायित्व को एक साथ बखूबी निभाते हुए नरेन्द्र मोहन ने जो रचनाएं पेश की हैं उनमे वे कला-धर्म और कला कौशल से नए ढंग से जूझते नज़र आते हैं। इसीलिए उप-लब्धियों के साथ-साथ इनकी सीमाओं का ज़िक्र ज़रूरी हो जाता है और फिर लंबी कविता जैसे प्रयोगपेक्षी फार्म की सही तमीज विकसित होने के लिए अपार-परित शैतिपक तरतीब की ज़रूरत बनी रहेगी।

नरेन्द्र मोहन की तीनों कविताओं में नाटकीयता है। स्थितियां, प्रसंग और घटनाओं की साक्षी बनी चरित्रात्मकता कवि के अनुभवों को वहन करती है। वस्तुत: ये चरित्र कवि के 'इनर सेल्फ' है। कभी कवि 'मैं' के रूप में तो कभी तटस्थ विश्लेषक के रूप में भी खुद को प्रस्तुत करता है। काव्यगत घटनाक्रम के साथ (कवि की शिरकत और पाठकों को अपने साथ) ले चलने की तरकीब इन कविताओं को कास्पैकेट यूनिट की तरह महफूज़ रखने में मदद देती है। असल में इन कविताओं की लंबाई प्रसंगों को नाट्यपूर्ण बनाने के कारण ही स्वाभाविक तरीके से बरकरार रह सकी है। चरित्रों की हरकत के समानातर प्रत्यक्ष समय (Active time) का आगे चलना कथ्य के न्यूक्लीयस को उसकी कार्यकारण परिणाम शृंखला से जोड़ता है। इसलिए छोटी कविता की तरह यहा अणुवत विस्फोट नहीं होता बल्कि लंबी अनुभव-प्रक्रिया को पश्यलक्षी पर अग्र-गामी गति का कथ्य में प्रक्षेपण होता है। नाट्य शब्द को पूर्वापर समय चेतना से आबद्ध कर उसे वर्तमान यथार्थ पर प्रतिष्ठित करने की क्रांतिकारी परंतु जोखिम-भरी बेख्तीय शैली का प्रभाव आधुनिक नाटकों पर खासकर सामाजिक नाटको पर खूब पड़ा। हमें लगता है, चरित्र प्रधान लंबी कविताओं की रचनाओं की रचना-प्रक्रिया में इस शैली का प्रयोग किया गया है। नरेन्द्र मोहन ने भी इस जोखिम-भरी शैली का प्रयोग किया है। उन्हें इसमे काफी हद तक सफलता मिली है, पर कई जगह लगता है, नाटकीयता (पात्रों की भाव-भंगिमाएं, संवाद, चरित्र-विश्लेषण घटनाओं की नाटकीय प्रस्तुति आदि) के अतिरिक्त मोह ने कविता को

लंबा खींचा है। 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में युसूफ की विक्षिप्तता के विवरणों, अमृतसर तक उसके पहुंचने के घटना क्रमों, हनीफ के साथ कवि की सवालिया बातचीत ने कविता को कहीं-कहीं गैरजरूरी लंबाई दी है। हां, नौटंकी, गांधी की मूर्ति का सिर गायब होना, प्रधानमंत्री का उस सिर को अपने सिर पर लगा लेना और बेगुनाह लोगों पर पुलिस का गोली चलाना---यह प्रसंग युसूफ के मानसिक असंतुलन की तरह स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों की एबसर्डिटी को उजागर करते हुए युसूफ को वर्तमान यथार्थ का गवाह बनाते हैं। यहां कविता जरूर चुस्त हुई है। 'एक अदद सपने के लिए' में शैली के परिवर्तन के बावजूद समरजीत, सतवंत और 'मैं' के दादा पीढ़ी से आगे बढ़ते चरित्र कथन, लंबे विवरणों, सतवंत के उग्रवादी रूपांतरण के लिए जिम्मेदार व्यवस्था पर कवि की टिप्पणियां कविता के कसाव को कहीं-कहीं ढीला करती हैं। वैसे भी, 'एक अदद सपने के लिए' कविता 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' के मुकाबले ज्यादा विश्लेषणमुखी (Analylical) है। इसलिए यहां काव्य तत्वों पर समीक्षा तत्वों का आरोपण कुछ ज्यादा ही लगता है। सतवंत के हृदय-परिवर्तन के बाद का टुकड़ा काफी बिंबधर्मी है। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' शैली और प्रस्तुति के लिहाज से 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' और 'एक अदद सपने के लिए' से बहुत भिन्न है। एक तो इस कविता का सामाजिक मैसेज काव्यवस्तु से सीधे निःसृत नहीं है। दूसरे इसमें लड़की, प्रेम, कला सृजन जैसी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक इकाइयां फोरफ्रंट में होने के कारण विवरणात्मक शैली के लिए गुंजाइश कम है। इससे कुछ लाभ भी हुआ है, तो कुछ सीमाएं भी उभरी हैं। लाभ यह कि कथातत्त्व की अन्यथा उपस्थिति के कारण बढ़ती विवरणात्मक लंबाई इसके अभाव में संश्लेष के सृजन-घटकों में बदल गई है। काव्यत्व की संभावनाएं इसीलिए इस कविता में कुछ अधिक है। सीमा यह कि कथातत्त्व की कमी के कारण लंबाई पर लगी रोक को अन्य मार्गों से पलटने की कोशिश में कवि का हस्तक्षेप कुछ बढ़ गया है, जिससे कविता का तेवर विश्लेषणात्मक बनकर ढीला पड़ गया है। सुचित्रा की बेहोशी और सलमान का उसको सहलाने वाला दृश्य तो काफी रोमेंटिक और सेंटीमेंटल बन गया है। फिर भी जमा नफी की घट-बढ़ काट हिसाब लगाकर जो बच जाता है, वह इस कविता को पहली दोनों कविताओं की तुलना में अधिक काव्यधर्मी बनाता है। खरगोश, नीला घोड़ा, आग की लपटें आदि चित्र बिंब और उनसे संबद्ध चरित्रों के रिश्तों की बुनावट बिंब रूपांतरण (Transfer of Images) के जरिए बहुआयामी बन पाई है। खासकर कला सृजन की प्रक्रिया अंकित कर पाने वाला टुकड़ा इसकी बढ़िया मिसाल है।

नरेन्द्र मोहन के साथ एक बात अच्छी है, अपनी समीक्षात्मक तमीज के

कारण वे अपनी कविताओं की कमियों को बखूबी आंक सकते हैं। एक प्रयोगधर्मी कवि की हैसियत से अपनी समीक्षा को रचनात्मक बनाने के लिए प्रयासशील रहते हैं। एक नाटककार की हैसियत से काव्य और समीक्षा के मिले-जुले शब्द को हरकत में तब्दील करने के लिए तत्पर रहते है। क्या नरेन्द्र मोहन की ये तीनों लंबी कविताएं इसकी साक्षी नहीं है? मेरा ख्याल है कि हैं।

प्रश्नों से निर्णय तक की यात्रा

—प्रताप सहगल

लगभग पिछले 50-60 सालो में हिंदी के अनेक कवियों ने एकाधिक लंबी कविताओं की सर्जना की है। प्रबंधकाव्य के विकल्प के रूप में भी लंबी कविता को रेखांकित करने की कोशिशें हुई हैं, जबकि लंबी कविता प्रबंधकाव्य का विकल्प नहीं, अपने आप मे एक अलग विधा है, लंबी कविता को विधा के रूप में स्वीकार करने के पीछे प्रबंधात्मकता के छिपे मोह को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, पर प्रबंधकाव्य का सृजन और प्रबंधात्मकता के मोह को अगर हम पर्याप्त मान लेगे तो लंबी कविता के मूल्यांकन में गड़बड़ की शुरुआत कर रहे होगे। इसलिए प्रबंधात्मकता के मोह का अर्थ लंबी कविता को प्रबंध काव्य के विकल्प के रूप में लेना नहीं है। जब ऐसा नहीं है तो फिर लंबी कविता की शुरुआत और फिर 60 के बाद उसकी तेजी से विकसित होने के कारण क्या हैं? लंबी कविता पर काम करने वालों तथा लंबी कविता लिखने वाले सभी कवियो ने प्राय: स्वीकार किया है कि दीर्घकालीन सृजनात्मक दबाव लंबी कविता को संभव बनाने का पहला कारण है। साथ ही सामाजिक जटिलताएं, कुछ 'बड़ा' रचने की आकांक्षा और क्षमता, अपने विशद जीवनानुभवों को अपनी दूसरी कविताओं मे पूरी तरह से न रच पाने की मजबूरी तथा अनुभव, विचार या संवेदना के जरिए कोई सामाजिक टिप्पणी करने की अदम्य इच्छा लंबी कविता के सृजन का कारण हो सकते हैं। नहीं तो पिछले चालीस सालों में लंबी कविताएं एक बड़ी मात्रा मे सामने कैसे आतीं? यह भी सच है कि कुछ कवियों ने रस्म-अदायगी या लंबी कविताओं की फेहरिस्त मे अपना नाम गिनवाने के लिए लंबी कविताएं लिख डालीं। लंबी कविता लिखना और लंबी कविता सर्जना अलग-अलग बातें है।

इसी पृष्ठभूमि में नरेन्द्र मोहन की तीनों लंबी कविताओं 'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए' और 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' पर बातचीत की जा सकती है। नरेन्द्र मोहन ने इन लंबी कविताओं से पूर्व लंबी कविता के रचना-विधान पर काम किया और उसकी बुनावट के रग रेशे से वाकिफ

हुए। काव्य-कर्म और फिर लंबी कविता की ओर मुड़ने के पीछे दूसरे कारणों के अलावा एक प्रेरक यह भी रहा होगा।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' उनकी पहली लंबी कविता है जो मुख्यत. विभाजन की त्रासदी को रेखांकित करती है। दूसरी कविता 'एक अदद सपने के लिए' विभाजन के कई सालों बाद भी भारतीय समाज एवं भारतीय राजनीति के त्रासद पहलुओं को ही सामने लाती हैं। तीसरी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' ऊपरी सतह से तो मात्र एक प्रेम कथा-सी लगती है, लेकिन उसकी अंतर्धारा प्रेम के साथ-साथ सामाजिक फ्रेम की बुनावट और उस फ्रेम में फंसने और फिर फ्रेम को तोड़कर उससे बाहर निकलने की गाथा है। इसमें टूटने में व्यथा भी है और सुख भी।

कविता-यात्रा के अपने इन तीन पड़ावों में नरेन्द्र मोहन ने भिन्न-भिन्न संदर्भों में अपने परिवेश की पड़ताल की है। इसके लिए उसने अलग-अलग प्रतीक भी चुने हैं। कहीं वक्तव्य देकर अपनी बात कही है तो कहीं बिंब तानकर, कहीं सपाटबयानी का सहारा लिया है तो कहीं फेंटेसी के माध्यम से कविता की अंतर्वस्तु को अभिव्यक्ति दी है। मिसाल के तौर पर अग्निकांड में 'अग्निकांड' एक वाचक शब्द न रहकर प्रतीक बन गया है। यह अग्निकांड बाहर से ज्यादा आदमी के अंदर है। अंदर का अग्निकांड कहीं ज्यादा भयावह और मूल्य-भंजक है। यही अग्निकांड 'एक अदद सपने के लिए में एक ऐसी 'जादू की छड़ी' में बदल जाता है, जो छड़ी सपना तो नई समाज-व्यवस्था का देती है, पर निकलती है उसमें से गोलियां, गोलियां पानी फिर अग्नकांड और यही अग्निकांड 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में 'लपटों में घिरी लड़की' की शक्ल अख्तियार कर लेता है।

> संज्ञा लौट आने पर भी
> उसकी आंखों में दहशत की परतें थीं
> तुमने ऐसा चित्र क्यों बनाया
> लड़की के लपटों में घिरे होने का ?

और फिर खरगोश चित्र और नीला घोड़ा का सलमान सुचित्रा को समझाने लगता है।

'मुझे खुद नहीं मालूम' से शुरू करता हुआ वह जिंदगी और समाज के अवरोधकारी स्वरूप के जैनेसिस को खोलने लगता है—

> 'ये चित्र बनाए नहीं जाते
> खुद बन जाते हैं जिन्दगी के हादसों से गुज़रते हुए
> **आदमकद लोगों को जिन्दा जलाती आग**

और जलाने का जश्न मनाती खुंखार टोली और
तमाशाई बने लोग
हमारे आसपास
रोजमर्रा की हकीकत

सलमान ने जिस आग को सामाजिक तंतुओं को जलाते देखा था और एक सामाजिक त्रासदी की पीड़ा उसके चित्रों में ढल गई थी, वही आग सुचित्रा की वैयक्तिक त्रासदी को भी खोल देती है। सलमान के सामाजिक अनुभव और सुचित्रा के निजी अनुभव दोनों समाज के ही उस बदशक्ल रूप को हमारे सामने खोलने लगते हैं, जो एक अग्निकांड बनकर जगह-जगह उभरता है। इन कविताओं में 'अग्नि' एक प्रतीक की भूमिका निभाते-निभाते जैसे एक मिथ का रूप ले लेती है, जिसे खोले बिना नरेन्द्र मोहन की इन तीनों कविताओं में अभिव्यक्त सामाजिक सरोकारों को समझना संभव नहीं है, अपने सामाजिक सरोकारों, वैयक्तिक जटिलताओं और राजनैतिक जोड़-तोड़ में सांस्कृतिक मूल्यों के अर्थहीन होते जाने की प्रक्रिया इन कविताओं का एक मुख्य स्वर है। तीनों ही कविताओं में कवि ने लंबी कविता के अनिवार्य तत्व दीर्घ तनाव को तानते हुए प्रच्छन्न रूप से कथा का सहारा भी लिया है। पर यह कथा कहीं भी कविता की वस्तु नहीं है, उस वस्तु को ठेलने के लिए पहियों का काम करती है। 'एक अग्निकांड···' का यूसुफ हो या 'एक अदद सपने के लिए' का समरगीत हो या सतवंत या फिर 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' का सलमान हो या सुचित्रा—ये सभी पात्र एक प्रच्छन्न कथा को बुनते नजर जरूर आते हैं, पर कथा को ब्यौरेवार सुना देना ही कवि का मकसद नहीं है। हालांकि इन कविताओं में भरपूर ब्यौरे हैं, पर वे कहीं भी कविता की अंतर्वस्तु को खंडित करते नहीं लगते, बल्कि धीरे-धीरे उसी ओर ले जाते हैं जिस ओर ले जाने की मंशा कवि की है।

कवि की मंशा बिलकुल साफ है। विभाजन की त्रासदी की सलीब कंधों पर उठाए वह सीधे-सीधे सांप्रदायिकता पर, राजनीति के घिनौने चेहरे पर, सामाजिक मूल्यों के आदर्श च्युत होने पर और इन सबसे भी ऊपर व्यक्ति के अमानवीय होते चले जाने की अबूझ शक्ति पर चोट करता है। इसी के लिए वह ब्यौरे सजोता है, इसी के लिए प्रच्छन्न कथा को कविता में ढालता है।

इन तीनों कविताओं को एक और नजरिए से भी परखा जा सकता है। 'एक अग्निकांड : जगहें बदलता' विभाजन की त्रासदी को मूर्त्त रूप देकर अंत में एक सवाल पाठक के लिए उछाल देती है—

'कोई और रास्ता नहीं है क्या?'

और जब कवि देखता है कि आजादी के पैंतीस साल बाद भी प्रश्न वहीं है ' रूप

बदलकर, वह बार-बार अतीत की स्मृतियों की ओर लौटता है और कोमल, नरम स्मृतियों को संस्पर्शित करना चाहता है। आज़ादी के बाद बना देश का नक्शा उसे रास नहीं आता। छड़ी से सपने निकलने की बजाय जब गोलियां निकलने लगती हैं तो उसे समझ नहीं आता कि "सतवंत ने गुलाबों की खेती छोड़ गोलियां चलानी क्यों शुरू कर दीं ?" यह समझ न आना समझ को पाला मारने जैसी स्थिति है और फिर वह आदमी और आदमी के संबंधों से जुड़े सवालों से टकराता हुआ आदमी और वोट के समीकरण को सुलझाने लगता है। वह रास्ता खोज रहा है, जो सवाल उसने अपनी पहली लंबी कविता में उठाया था, उसका जवाब खोज रहा है, प्रश्न, प्रश्न, प्रश्नों का अंतहीन सिलसिला। 'एक अग्निकांड' में वह टोबा टेकसिंह की आंखों में घिरे प्रश्नों का उत्तर खोज रहा था। 'एक अदद सपने के लिए' में वह गुलाबों की खुशबू खोज रहा है। पर कहीं कोई जवाब है क्या ? इस बात का जवाब कवि के पास भी नहीं है। शायद इस अनवरत पीड़ा का जवाब किसी के पास नहीं है। आदमी की कमजोरियों, उसके स्वार्थों, हितों से सत्ता की शक्ल में पैदा बर्बरता, अमानुषिकता का जवाब किसी भी रचनाकार के पास है क्या ? इसी सवाल से हर रचनाकार टकराता है और खुद को विभिन्न तरह से अभिव्यक्त करता है। मुक्तिबोध के शब्दों मे तोड़ने ही होंगे गढ़ और उठाने ही होंगे खतरे अभिव्यक्ति के। अभिव्यक्ति के माध्यम से ही कवि खुद को खोलता है। प्रश्नों के माध्यम से भी इसी प्रक्रिया में नरेन्द्र मोहन का प्रश्न 'और कोई रास्ता नहीं है क्या ?' अपनी दूसरी लंबी कविता में वह खुद को प्रतीकों में, मिथकों में ढालने की प्रक्रिया की शुरूआत करता है। सपने जो सपने थे, सपने जो हैं, सपने जिनकी संभावना है, उन्हें भाषा में ढाल रहा है—

> इससे पहले
> कि मैं चुप्पी में घिरे-घिरे मरूं
> मैं पहुंच रहा हूं मिट्टी की जड़ों तक
> ढल रहा हूं प्रतीकों में, मिथकों में
> ढाल रहा हूं सपनों की भाषा में।

इसी विकास क्रम को हम उसकी तीसरी लंबी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' तक ले जाएं तो यहां वह एक निर्णायक स्थिति में पहुंच गया है। सुचित्रा और सलमान के सामने प्रश्न सामाजिक प्रेम का है, जिसे तोड़ कर खरगोश बाहर आना चाहते हैं. आ भी जाते हैं, चाहे उन्हें इस प्रक्रिया में लहूलुहान होना पड़ता है, पर वह समाज की अमर्यादित मर्यादा और व्यक्तित्वहीन नैतिकताओं को मानने से इंकार कर देते हैं। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच फैले सांप्रदायिक राक्षस का अंश यहाँ भी मौजूद है। एक ओर यह राक्षस दूसरी ओर सामाजिक प्रेम यानी

तयशुदा चौखटे में फिर खरगोश (मासूमियत के प्रतीक) पर एक निर्णायक टिप्पणी पर ही खत्म होती है यह कविता—

> सुचित्रा और सलमान झांकते हैं
> एक दूसरे की आँखों में
> कचरे को जलाती एक लपट दोनों तरफ

इसमें 'कचरे' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। कचरा यानी वह सब जो टूट-फूट चुका है, अर्थहीन हो चुका है, वह सब जो वैयक्तिक संबंधों के लिए नितांत महत्त्वहीन हो चुका है, उसे जलाना एक अनिवार्यता है, अन्यथा वह कभी भी आँख की किरकिरी बन सकता है।

कहा जा सकता है कि तीनों लंबी कविताओं की अपनी इस विकास-यात्रा में नरेन्द्र मोहन ने अंततः एक निर्णायक टिप्पणी की है, पर कोई भी टिप्पणी, चाहे वह कितनी ही निर्णायक क्यों न हो, अंतिम नहीं होती। फिलहाल अपनी बात इस संभावना के साथ खत्म की जा सकती है कि नरेन्द्र मोहन की भविष्य की कविताओं में हमें ऐसे सूत्र और भी मिलेंगे जिससे हम और भी बेहतर तरीके से कवि के सरोकारों को समझ सकेंगे।

इतिहास में स्मृतियों के तनाव का संकट

—डॉ० माहेश्वर

नरेन्द्र मोहन की तीन लंबी कविताओं के संकलन 'संकट दृश्य का नहीं' में सम्मिलित कविताओं के शीर्षक हैं: 'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए' और 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा'। इस संग्रह को पढ़ते हुए पहला प्रश्न तो यह उठता है कि पुस्तक में संगृहीत कविताओं में से किसी एक के शीर्षक को कवि ने संकलन का शीर्षक क्यों नहीं बनाया, जबकि आम तौर पर ऐसा ही होता है और कविताओं के शीर्षक आकर्षक और सार्थक हैं। तो फिर पुस्तक का अलग से शीर्षक रखने से कवि का आशय क्या है? कवि ने इस संग्रह की भूमिका में संकलित रचनाओं पर तो टिप्पणी की है, पर इस संबंध में कोई संकेत नहीं दिया है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए संकलित कविताओं की विषय वस्तु की पड़ताल करना जरूरी है।

संकलन की पहली और दूसरी कविताएं विभाजन की त्रासदी, उसके कारणों और परिणाओं से सीधे-सीधे जुड़ी हैं, जबकि तीसरी कविता कला की सृजन-प्रक्रिया और भारतीय समाज और इतिहास में बच्चों की असुरक्षा और यातना से गुजरती स्त्री-पुरुष संबंधों (प्रेम) की व्याख्या प्रस्तुत करती हुई, अंततः सांप्रदायिक शक्तियों के हस्तक्षेप तक पहुंचती है। यह भी विभाजन की त्रासदी के कारणस्वरूप सांप्रदायिकता द्वारा उत्पन्न संकट पर ही आकर खत्म होती है। इस तरह थोड़ी गहराई में जाकर देखने पर इन कविताओं के पीछे भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी के रूप में सांप्रदायिकता को रेखांकित करने की कोशिश साफ झलकती है। यह एक ऐसा सच है जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। सांप्रदायिकता ने बीसवी सदी के हमारे इतिहास को गहराई से प्रभावित किया है और भविष्य में भी इसके खतरे कम होते दिखाई नहीं देते। एक तरह से कवि इस संकलन के शीर्षक द्वारा हमें चेतावनी देना चाहता है कि हमारी वास्तविक समस्या तात्कालिक और बाहरी नहीं है, बल्कि भीतरी और ऐतिहासिक है। और यही संदेश इन तीनों लंबी कविताओं का प्रमुख कथ्य है।

नरेन्द्र मोहन ने अपनी सद्य.प्रकाशित आलोचना-कृति 'समकालीन कविता के बारे में', प्रकाशक-वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1994 के एक निबंध में लंबी कविताए: 'स्मृति को इतिहास में तानने की क्षमता में लंबी कविताओं की बनावट और वैचारिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए लिखा है कि "लंबी कविताओं में आत्मीय स्मृतियां ऐतिहासिक स्मृतियों में फैलती और गुंथती जाती है। इनमें स्मृति को इतिहास से और इतिहास को स्मृति से अलगाया नही जा सकता। स्मृति और इतिहास का यह *तनावपूर्ण संबंध लंबी कविता की खास अपनी विशेषता है।*" (पृ० 31)

यह सच है कि प्रस्तुत संग्रह में संकलित लंबी कविताओं का कथ्य इतिहास और स्मृति (जो एक तरह से इतिहास से मिला निजी संकट ही है) के तानेबाने से बुना गया है। कवि की आत्मा में धंसे भारतीय जीवन के मर्मातक अनुभवों और उसके निजी जीवन का यह सबसे बड़ा संकट है, जो उसका नितांत निजी अनुभव होता हुआ भी, हमारे इतिहास और सार्वजनिक अनुभव का सबसे बड़ा संकट है। इसीलिए कवि इस संकट को दृश्य का संकट नहीं मानता, बल्कि इतिहास और स्मृति का संकट मानता है, जिनसे हमारा वर्तमान भी बुरी तरह आहत है।

नरेन्द्र मोहन लंबे समय से लंबी कविताओं के रचनाविधान पर काम करते रहे हैं, इसीलिए उनके निष्कर्षों पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है, पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि हर निजी सकट इतिहास में से नहीं पैदा होता और हर लंबी कविता में इतिहास को ढूंढ़ना संभव नहीं है और आवश्यक भी नहीं, मसलन 'सरोज-स्मृति' में एक नितांत निजी, फिर भी संवेदना के धरातल पर सार्वजनिक, विषयवस्तु को रचना का उपजीव्य बनाया गया है। यहां तक कि 'राम की शक्ति-पूजा' और 'असाध्य वीणा' में इतिहास इस तरह से रचना के केंद्र में नहीं है, जिस तरह 'अंधेरे में' (मुक्तिबोध), 'मुक्ति प्रसंग' (राजकमल चौधरी) और 'कुआनो नदी' (सर्वेश्वर) में। फिर भी यह सच है कि प्रस्तुत संग्रह की तीनों कविताओं में से इतिहास, स्मृति और वर्तमान को, जो राजनीतिक छल से घायल हैं, अलग करके देखना संभव नहीं है। कवि कहता है: "जानता हूं स्मृति इतिहास नहीं है/पर इतिहास के बाहर भी/कहां रखूं इसे ?"

नरेन्द्र मोहन की इन लंबी कविताओं में न 'मुक्ति प्रसंग' जैसा आर्तनाद है, न 'लुकमान अली' (सौमित्र मोहन) जैसी बेखुदी और ऊबड़खाबड़पन, न 'खंड खंड पाखंड पर्व' (मणि मधुकर) जैसा प्रलाप, न 'अंधेरे में', जैसी अमूर्त यातना, न 'सरोज स्मृति' (निराला) जैसी करुणा और दर्प और न ही 'हरिजन गाथा' (नागार्जुन) जैसा आक्रोश; मगर एक गहरा तनाव इन तीनों लंबी कविताओं में आद्योपांत व्याप्त है। यह तनाव 'हरिजन गाथा', 'मुक्ति प्रसंग', और 'अंधेरे में' की तरह कविता के स्वर में नहीं, उसके आशय में, उसके निहितार्थों में है।

इन कविताओं की 'टोन' सहज और भाव पारदर्शी है। इनमें एक संवाद-प्रियता और नाटकीयता है। फैंटेसी और बिंब-कथनों से भरी हैं ये। बिंबों को अमूर्त से मूर्त और मूर्त से अमूर्त में बदलती रहती हैं ये कविताएं।

रघुवीर सहाय जहां शब्दों और बिंबों के बीच की जगह को अपनी समझ के मुताबिक भरने और उनकी अनुगूंज सुनने का मौका पाठक को देते हैं, नरेन्द्र मोहन अपने बिंबों को सघन रखते हैं और कोई 'गैप' नहीं छोड़ते। 'गैप' छूटने लगता है, तो परिदृश्य बदल देते हैं या फैंटेसी में उतर जाते हैं। पर एकदम सीधे अभिधात्मक कथन से फैंटेसी में चले जाने से पाठक की चेतना पर दबाव बढ़ जाता है। कई बार इस शिल्प की आकस्मिकता से पाठक को झटका भी लगता है। पर चूंकि कवि अपने मूल कथ्य से भटकता नहीं, इसलिए कविता दुर्बोध नहीं होती, जैसे कि लंबी कविता के अन्य कई रचयिताओं के यहां होता है।

कवि के कुछ सपने हैं, जो वह अपने एक पात्र सतवंत (जो उसका ही प्रतिरूप है—भूमिका, समीक्ष्य पुस्तक) के माध्यम से व्यक्त करता है :

सतवंत परेशान है/कि वह दिन-दहाड़े सरे-शहर चलते/सपने देखता है/गुलाबो के, अल्हड़ मुटियारों के, नागयज्ञों के' और 'मुझे बहुत सपने आते हैं/नदियों के/पहाड़ों के, चांद और सितारों के' (पृ० 35) मगर उनके सपने पूरे नहीं होते। सतवंत के हाथों में गुलाब की टहनी की जगह तांत्रिक छड़ी आ जाती है, जिसमें से गोलियां झरती हैं। सपने पूरे न होने पर आतंकवाद भी आता है। आतंकवाद की जड़ें भी विभाजन की उसी त्रासदी में और आजादी की उन्हीं खोखली आशाओं में निहित हैं, जो 'नेहरू युग की नौटंकी' का करिश्मा है।

और कवि के सामने इसके प्रतिकार का एकमात्र तरीका है :

> इससे पहले/कि मैं चुप्पी में घिरे-घिरे मरूं/मैं पहुंच रहा हूं मिट्टी की जड़ों तक/ढल रहा हूं प्रतीकों में, मिथकों में/ढाल रहा हूं सपनों को भाषा में" (पृ० 46)

अकारण नहीं है कि पहली दो कविताओं में पागल पात्र लाये गए हैं। नरेन्द्र मोहन विभाजन पर लिखी मंटो की मशहूर कहानी 'टोबा टेकसिंह' से इतने प्रभावित हैं कि न केवल वे टोबा टेकसिंह को पहली कविता में सशरीर उपस्थित करते हैं, बल्कि कविता के प्रमुख पात्र यूसुफ़ को भी पागल होता दिखाते हैं। दूसरी कविता ('एक अदद सपने के लिए') में भी सतवंत पागल हो जाता है, जो गुलाबो और नागयज्ञों के सपने देखता था। दरअसल विभाजन और उसकी स्मृतियों के दंश से घायल लोगों, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं, की नियति है पागल हो जाना। (आतंकवादी भी एक तरह का पागल ही है) भारत के पिछले कई दशकों की घटनाओं ने क्या यह प्रमाणित नहीं किया है कि मनुष्य धीरे-धीरे संवेदनशून्य और पागल-सा होता जा रहा है? इसी त्रासद इतिहास की धमक

और संवेदनहीन; विवेकशून्य पागल वर्तमान की कसक कविमन को आंदोलित कर रही है।

तीसरी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कविता है। इस कविता में कवि अपने 'झेले भोगे यथार्थ' से बाहर आता है। किसी विषयवस्तु के प्रति रचनाकार के स्वानुभूत तथ्यों से एक प्रकार की प्रतीति के साथ-साथ व्यक्तिनिष्ठता भी आती है, जो रचना के लिए नुकसानदेह होती है। निजी अनुभव पूर्वग्रहों में बदल जाते हैं और अक्सर उनको लेकर संतुलन बनाये रखना, वस्तुनिष्ठ रह पाना, संभव नहीं हो पाता। मगर यहां यथार्थ के प्रति कवि का रवैया पूरी तरह वस्तुनिष्ठ है, क्योंकि जिन्हें वह यातनाग्रस्त दिखाता है, वे हिंदू भी हैं और मुसलमान भी और ये दोनों जातियां एक सांझी विरासत के नष्ट होने की यातना झेल रही हैं।

सुचित्रा (भले ही कवि के अनुभव का हिस्सा हो) अपने फ्रेम को तोड़कर बाहर आती हुई वह युवती है, जो स्त्री होने के नाते सृजन और बच्चों के प्रतीक के माध्यम से व्यवस्था की हिंसा के सवालों से टकराना चाहती है। सृजन-प्रक्रिया के बारे में कवि की धारणा है : 'सृजन क्या है मेरे लिए ?/एक कील सा गड़ता/नाल सा ठुंकता/सांस की एकतानता/एक बिन्दु पर एकाग्र/ध्यान ढलता समाधि मे/आडी-तिरछी रेखाओं से चिरता है कागज/चिरता हो जैसे कैनवास/रंगों की प्रतीक्षा मे/शब्द-पूर्व शब्दाभासों में/झाकते हुए बिंबों-प्रतिबिंबों में/अर्थ की तलाश करता/अर्थ से परे जाता मन"

एक स्त्री अपनी प्रकृति से ही सर्जक होती है क्योंकि सृजनात्मकता और उसकी पीड़ा का अहसास वह अपने रक्त में लेकर ही इस धरती पर आती है। इसलिए सुचित्रा का (एक सर्जक का) चित्रकार सलमान (दूसरे सर्जक) के प्रति आकर्षण अत्यत स्वाभाविक है। जैसे गोलियों की बौछार में पतंग उड़ाते बच्चे और सलमान के खरगोश-चित्र में फ्रेम से बाहर आते खरगोश हैं, उसी तरह हिंदू लड़की सुचित्रा का मुसलमान पुरुष सलमान से प्रेम भी फ्रेम से बाहर आने की कोशिश है।

"टूटा पड़ा है फ्रेम उनके सामने/और वह मुस्करा रही है/वे जानना चाहते है इस मुस्कराहट का रहस्य/वे फ्रेम को उसके गिर्द खड़ा करने का प्रयत्न करते ह बार-बार/उसकी मुस्कराहट से भरभरा जाता है फ्रेम बार-बार" (पृ० 54) और तब वह "महसूस करती है त्वचा के नीचे छिपी/खामोशी, एकांत और रुधिरधारा मे/दाखिल हुआ है सलमान/दाखिल न हो सका जहां कोई दूसरा आज तक" (पृ० 55)

सुचित्रा जब सलमान से पूछती है कि उसने लपटों में घिरी लड़की का चित्र क्यो बनाया तो उसका उत्तर है : "मुझे खुद नहीं मालूम/मैं एक तरह का चित्र

बनाना शुरू करता हूं—/नीले आसमान में उड़ते हुए परिंदे का/और उभरना शुरू हो जाता है दूसरा चित्र—/लड़की के लपटों मे घिरे होने का" (पृ० 59)

यह कविता कई स्तरों पर चलती है। एक स्तर पर यह सृजन कर्म की व्याख्या करती है, दूसरे स्तर पर स्त्री-पुरुष संबंधों की; तीसरे स्तर पर मनुष्य और मनुष्य के बीच रिश्तों की और चौथे स्तर पर सांप्रदायिकता की विभीषिका की, जो न केवल, मानव-विरोधी और सृजनशीलता-विरोधी है, बल्कि व्यवस्था के बधे-बंधाए फ्रेम की सुरक्षा करने वाली भी है।

सृजनात्मक भाषा का इस्तेमाल करके कवि तीनों कविताओं में कुछ अनूठे शब्द-चित्रों और भाव-चित्रों के साथ सार्थक बिंबों की एक सघन निरंतरता बनाये रखता है, जिससे कविताएं, खास कर अंतिम कविता, एक भास्वर पारदर्शिता और आस्वाद के एक नये धरातल का परिचय देती हैं। हिंदी की लंबी कविताओं के इतिहास में ये कविताएं अपना स्थान बनाती हैं।

नरेन्द्र मोहन की लंबी कविताएं सच की अभिव्यक्ति से जुड़ा कवि-कर्म

—डॉ० सादिक

आज के हिंदी साहित्य में डॉ० नरेन्द्र मोहन अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। वह एक संजीदा और विश्वस्त आलोचक, प्रतिष्ठित कवि और सफल नाटककार हैं। तीनों में से उन्हें किस विधा में बड़ा माना जाए, यह फैसला आसान नहीं क्योंकि इन सभी विधाओं में विद्यमान उनकी बुनियाद सृजन शक्ति तो एक ही है।

नरेन्द्र मोहन की कवि प्रतिभा छोटी कविता में भी अभिव्यक्त होती रही है, और लंबी कविता के माध्यम में भी। लंबी कविताओं पर काम करने वाले और इसे आज के कवि कर्म में एक जरूरी माध्यम के तौर पर रेखांकित करने वाले वे पहले कवि आलोचक हैं। अपनी लंबी सृजन-यात्रा में उन्होंने तीन लंबी कविताएं लिखी हैं—'एक अग्निकांड जगहें बदलता' 'एक अदद सपने के लिए' और 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा'। इन कविताओं पर लिखने के लिए कलम उठाते हुए मुझे बतोड़ ब्रेख्त याद आ रहा है। इसलिए नहीं कि नरेन्द्र मोहन भी नाटक और कविताएं लिखते है और इन क्षेत्रों में अपने इर्द-गिर्द की जिंदगी और उसकी मूल समस्याओं से जूझते-टकराते हैं बल्कि इसलिए कि ब्रेख्त ने अपने एक लेख में आतंक और अत्याचार से पीड़ित युग में लेखक की सच कहने की पाच मुश्किलों का उल्लेख करते हुए, उन पर काबू पाने के लिए रचनाकार के साहस, होशियारी और कला-कौशल पर विशेष बल दिया था। यहां इस उल्लेख से मेरा आशय यह है कि नरेन्द्र मोहन की तीन कविताओं में कवि ने सह्-कुशलता और फनकारी के साथ अपने युग के महत्त्वपूर्ण संकट के रूबरू खड़े होकर आंखो मे झाकने का प्रयास किया है। 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' कविता की कुछ पक्तियां हैं—

"बाहर आग लगी थी
और वह बदहवास खड़ा चौराहे पर

भागमभाग मारामारी में
खूनी रास्तों में, रास्ता टटोलता
उसकी बीवी—बच्चों को कत्ल कर दिया गया था
उसकी आंखें खौफनाक विह्वलता में डबडबा गई थीं।"

दूसरी कविता 'एक अदद सपने के लिए' का एक दृश्य इस प्रकार है—

"मैंने देखा—
उसका शरीर अकड़ रहा है
दहशत में वह कह रहा है मुझसे
नदी में तैरते हुए कहां से आ गए हैं
ये सांप···
ये सांप···ये सांप···
और मेरे नंगे बदन को डस रहे है ?"

और तीसरी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में गहराते हुए संकट का दृश्य इस प्रकार है—

ज्वालामुखी से क्या रिश्ता है मेरा
कहीं न कहीं, किसी न किसी कोने में
क्यों सरक आता ज्वालामुखी
मेरी कविताओं में
कभी लाल-लाल चकत्ते उभर आते
कभी गाढ़ी लहू की लकीर
कभी उड़ता हुआ जहाज आग की लपटों में टुकड़े-टुकड़े होता
कभी आग से झुलसे हुए बच्चे
आखरी सांसें गिनते।"

बीसवीं शताब्दी के नये दशक में कालांतर के साथ लिखी गई इन तीनों कविताओं में समान बात समकालीन सांप्रदायिकता और आतंक है जो न केवल उप-महाद्वीप बल्कि सर्वत्र मौजूद है और जिससे आज का इंसान हर जगह दो-चार दिखाई देता है। यही चीज तीनो कविताओं में गहरी समानता का आभास कराती है जबकि वस्तुस्थिति बिल्कुल ऐसी भी नहीं क्योंकि तीनों कविताओं में स्पष्ट रूप से तीन विभिन्न पीढ़ियां सांस लेती दिखाई देती हैं।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में देश की स्वतंत्रता और विभाजन से पूर्व की वह पीढ़ी है जिसने आजादी और मूल्यों के लिए सतत संघर्ष किया और अपने

लक्ष्य की पूर्ति के साथ घर और परिवार की तबाही व बरबादी की शिकार होकर अपने ही वतन में बेवतन हो गई। 'एक अदद सपने के लिए' में आजादी के दिन जन्म लेने वाले तीनों पात्र वर्तमान और अतीत की एक विचित्र दुखदायी कशम-कश में मुब्तिला नज़र आते हैं। यह पात्र वास्तव में एक ही अस्तित्व की तीन विभिन्न परतें है। पुस्तक की भूमिका मे स्वयं कवि ने भी स्वीकार किया है कि समरजीत और सतवंत एक तरह से मेरे ही प्रतिरूप हैं। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में पिछली दोनों पीढ़ियों के बाद की एक और पीढ़ी अपने दर्द के साथ मौजूद है जिसके पास इस दुनिया को हसीन से हसीनतर बनाने के सपने तो हैं लेकिन जब भी उन्हें साकार करने का प्रयास करती है तो अनायास ही कुछ अशुभ हो जाता है। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविता की ये पंक्तियां देखिए—

"मैं एक तरह का चित्र बनाना शुरू करता हूं—
नीले आसमान में उड़ते हुए परिंदों का
और उभरना शुरू हो जाता है दूसरा ही चित्र
लड़की के लपटों में घिरे होने का।"

लेकिन इसके पीछे मुकद्दर या नियति की अदृश्य अंधी शक्ति नहीं बल्कि आज के युग की क्रूर राजनीति कार्यरत नज़र आती हैं जिसे कवि न केवल खुद पहचानता है बल्कि दूसरों को भी दिखाने का प्रयास करता है।

अब, 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' के यूसुफ मौलवी का दर्द देखिए जो उस पीढी का प्रतिनिधित्व करता है जिसने देश की आजादी का सपना देखा था। उसे साकार करने का हर संभव प्रयत्न किया था। सपने के साकार होने के साथ ही विभाजन का जख्म खाया था और फिर अपने ही घर में बेघर होकर, अपनी सही पहचान खोकर इतिहास बाहर पड़ा। कविता का आरंभ उसी के बारे में किए गए साधारण प्रश्न से होता है कि यह आदमी कौन है पथराई हुई दहशतज़दा आखों से शून्य में ताकता निर्विकार सा उदास बैठा जो रोते-रोते हंसने लगता है, हसते-हंसते हकलाने लगता है, फिर एक चुप्पी में अस्त होते हुए तालियां बजाने लगता है—

और उसकी आंखों में
पुल टूटने लगते हैं
अग्निबाण परस्पर टकराते दिखते हैं
और वह भरी-पूरी आबादियों को और स्वयं को
लपटों से घिरा पाता है।
इस घिराव से बाहर आ सकने का

रास्ता तलाश करता हुआ
वह बूढ़ा हो गया है और गरीब
और चुप-चुप देखता रहता है
नक्शे का कभी एक हिस्सा
कभी दूसरा जलता
एक अग्निकांड
जगहें बदलता।

यूसुफ मौलवी 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' देखता है तो 'एक अदद सपने के लिए' का वाचक एक दहशतनाक चुप्पी में घिरा लंबी खौफ़नाक सड़क से सटा वर्षों से एक जलता हुआ मकान देख रहा है। उसी के साथ समरजीत और सतवंत भी हैं और अतीत अलिफ लैला के तसमेंनुमा पैरों वाले बूढ़े की तरह कंधों पर सवार उनकी गर्दनें कसता चला जा रहा है।···और फिर एकाएक सतवंत के हाथ में गुलाब की टहनी की जगह जादू की छड़ी दिखाई देती है—

इस छड़ी से निकलेगा नया समाज और नई व्यवस्था और मैंने देखा
छड़ी से गोलियां निकलनी शुरू हो गई हैं।

राजनीति का यह नया खेल यूसुफ की देखी हुई उस नौटंकी से बहुत भिन्न था जिसमें मां को तख्तपोश पर लिटाकर, उसे तलवार से दो हिस्सों में काटकर दिखाया गया था और जिसका मुख्य पात्र जादूगर राजा अकेले ही बहुत-सी भूमिकाएं निभाकर दर्शकों से तालियां पिटवाने में महारत रखता था लेकिन यह खेल तो कुछ और ही था—

हमने हतप्रभ हो देखा
जादू की छड़ी तांत्रिक छड़ी में बदल रही है
इन दिनों
और वह उसे घुमा रहा है
धर्मचक्र के एवज में
और घिसा रहा है
बलिवेदी के पत्थर पर
बीच चौराहे पर कत्ल करता है वह
और उतर जाता है जादुई सीढ़ियों से
तलघर में सुरक्षित।

इतनी क्रूर और भयावह स्थितियों के बीच घटाटोप अंधकार में कवि सोचता

है कि क्या मैं बेखबर और तटस्थ बना रहूं ? वह कलम छोड़कर उस अंधेरे के सामने देखने का साहस बटोरता है किंतु जो कुछ वह देखता-सुनता है अन्य लोगों को नहीं दिखा-सुना पाता। दृश्य के सामने गूंगा हो जाने का यह संकट अंतिम कविता में सुचित्रा का प्रश्न बन उभरता है।

"····लेकिन फ्रेम को तोड़कर बाहर आ रहे इन खरगोशों की
मासूमियत और सहम के बारे में
कब तक चुप रहेंगे आप ?"

अपने-अपने हालात, माहौल और परिवेश में बिंधी तीनों कविताएं संपूर्ण त्रासदी की फिज़ा से गुजरती हैं लेकिन त्रासदी बनती नहीं। हर कविता अंतिम छोर पर निराशाजनक स्थितियों से उबर आती है। घिसटकर चलता हुआ यूसुफ जलूस में शामिल उस नौजवान की पीठ थपथपाता है जिसकी आंखों में आग है। 37 वर्षों की दहशतनाक चुप्पी में घिर पात्र मिट्टी की जड़ों तक पहुंच प्रतीकों और मिथकों में ढलता, सपन को भाषा में ढालने की कोशिश करता नज़र आता है। सुचित्रा और सलमान भी देखते हैं—

चित्र में भूकंप
कांपने लगीं रेखाएं और रंग
फ्रेम को तोड़
बाहर आ गए खरगोश।

इस तरह तीनों लंबी कविताओं द्वारा नरेन्द्र मोहन ने अपनी ज़मीन की आवाज बुलंद कर कवि भूमिका निभाने का भरपूर साहस किया और मेरे नज़दीक बेईमानी, नफरत, मक्कारी, स्वार्थ, अन्याय, अत्याचार और आतंक भरे इस युग में इतना कर लेना भी किसी कारनामे से कम नहीं।

इतिहास की पुनर्रचना

—डॉ० मीनू गेरा

लंबी कविताएं अपने आकार में, ढांचे में, अपनी संरचना में और सबसे ज्यादा संवेदना और विचार के विशिष्ट समीकरण के साथ कर रखने की क्षमता मे चुनौती सी देती हैं। लंबी कविता को आधुनिक जीवन की विचार-प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। जैसे-जैसे विचार आधुनिक चिंतन-प्रणाली के केंद्र में आता गया वैसे-वैसे साहित्य गतिशील यथार्थ से जुड़ता गया। व्यक्ति को उसकी सापेक्ष स्थितियों में जांचने-परखने की प्रवृत्ति बलवती होती गई और बद-लते संदर्भों में उसकी मनोदशाओं को समझने का प्रयास गहरा होता गया। व्यक्ति अपने दुर्बल व सबल पक्षों के साथ अभिव्यक्त हुआ। युगीन तनाव के तत्त्व को काव्य के प्रबंध रूप में खपाना कठिन होता गया। संभवत: इसी रचनागत मजबूरी ने लंबी कविता के 'फार्म' को जन्म दिया। प्रसाद की 'प्रलय की छाया' पंत की 'परिवर्तन', निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में लंबी कविता के 'फार्म' को सजगतापूर्वक नहीं, सर्जनात्मक बाध्यता से प्रेरित होकर अपनाया गया। कवि की आत्मगत संवेदना को इतिहास में फैलाने और संक्रांत करने का प्रयत्न आगे चल-कर मुक्तिबोध की 'अंधेरे में', विजयदेव नारायण साही की 'अलविदा', सर्वेश्वर की 'कुआनो नदी', नागार्जुन की 'हरिजनगाथा', राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसग' आदि कविताओं में हुआ। इन कविताओं में दीर्घकालिक तनाव को उसके समस्त संदर्भों—सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि की सापेक्ष स्थिति में पह-चानने की कोशिश की गई। यथार्थ के गतिशील रूप को नाटकीय विधान में सयोजित करने वाली ये सशक्त कविताएं हैं। आख्यान से बिंब और बिंब से विचार की यात्रा में, लंबी कविता आंदोलन के रूप में नहीं, एक जरूरत के रूप में उभरी, इसमे संदेह नहीं।

प्रदीर्घ तनाव के इस रिश्ते को नरेन्द्र मोहन की लंबी कविताओं 'एक अग्नि-कांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए' और 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में भी बखूबी महसूस किया जा सकता है यहा टूटने की एक लंबी प्रक्रिया

है जो भारत विभाजन से लेकर आज तक के दमघोंटू वातावरण में घटित हो रही है और जिसमें पड़ा हुआ व्यक्ति राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी स्तरों पर टूट रहा है। इस बिखराव को समेटने की बेजोड़ कोशिश अनेक संदर्भों, संकेतों, प्रसंगों, कथात्मक अंशों, तथ्यों और उद्धरणों द्वारा इन कविताओं में की गई है। इनमें परिस्थितियों से जूझता एक विकल अंतस है, जो महज आत्मकथात्मक संदर्भों तक सीमित नहीं है वरन् उन निजी अनुभवों को व्यापक फलक से जोड़ता है। कहीं-कहीं असंबद्ध से दिखने वाले इस वर्णन, चित्रण में एक आंतरिक सूत्र सर्वत्र विद्यमान है जो कवि के मानवीय सरोकारों की तड़प को एक क्षण के लिए भी विस्मृत नहीं होने देता। वस्तुतः लंबी कविताओं के रचना-विधान के संदर्भ में इलियट ने जिस 'वाइडेस्ट पासिबिल वेरिएशंस ऑफ इंटेसिटी' की ओर संकेत किया है (जिसमें एक तनावपूर्ण अंश या परिच्छेद के बाद निहायत सीधा-सादा सपाट गद्यात्मक अंश भी रह सकता है, जो पूर्ववर्ती तनाव दशा के परिप्रेक्ष्य में सार्थक हो) उसका रचनात्मक साक्षात्कार इन कविताओं में मिलता है।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए' व 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' एक आक्रांत मनःस्थिति में रचित जरूर हैं—पर ये मनःस्थिति इन कविताओं में उत्तरोत्तर इतिहास में फैलती जाती है। एक भयावह अतीत और वर्तमान को ढोते व्यक्ति के दुःस्वप्न, उसके डर, उसकी अनिश्चितता व उसके छटपटाते अंतस की गहरी पीड़ा इन कविताओं में अनुभव की जा सकती है। कवि को खतरा है कि कहीं संकट के इस दृश्य के समक्ष वह गूंगा न हो जाए, 'मेरा संकट दृश्य का नहीं, दृश्य के सामने गूंगा हो जाने का है', जबकि 'घर की चौखट लहू से लथपथ हो, और मैं काले करता रहूं कागज और भरता रहूं डायरियां।' कवि की दृष्टि बहुत साफ है। वह मानव-मूल्यों के पक्ष में है, सांप्रदायिक और राजनीतिक घिनौनेपन के विरुद्ध है और इस लेखकीय दायित्व से वह क्षणभर के लिए भी विचलित नहीं होता। उसके लिए सृजन अर्थ की तलाश है 'अर्थ से परे जाता मन'। इसी कारण इन तीनों कविताओं में अपने ज्ञानात्मक संवेदन की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने जिन पात्रों का संयोजन किया है, वे आज की भयावह परिस्थितियों (जहां सांप्रदायिक आग भारत विभाजन से लेकर आज तक धधक रही है, जिसने हमारे राजनीतिक क्षेत्र को तो गंदला किया है, हमारे सामाजिक संबंधों को भी धुंधलाया है और हमारे मानवीय सरोकारों पर भी प्रश्नचिन्ह लगा दिया है) में टूटते ही नहीं 'टार्सेंड' भी होते हैं। 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में यूसुफ है जिसने भारत विभाजन से आज तक सपनों को टूटते देखा है। सपने जो उसके अपने भी हैं और देश के भी और इसी कारण वह हतप्रभ है, उसकी आंखों में दहशत स्थिर हो गई है। 'एक अदद सपने के लिए' में सतवंत है जिसने गुलाबों की खेती छोड़ न जाने क्यों गोलियां चलानी शुरू कर दी हैं या

खरगोश चित्र और नीला घोड़ा के सुचित्रा, सलमान हैं, जो सहते हैं, सांप्रदायिक दंश और देखते हैं राजनीतिक खेल में लहुलूहान होते मासूम जन। लेकिन ये पात्र इस स्थिति का अतिक्रमण भी कर जाते हैं। एक 'अग्निकांड जगहें बदलता' में यूसुफ इस घिराव से बाहर आ सकने का रास्ता तलाश करता हुआ अपने संघर्ष का हस्तांतरण कर देता है। वह 'घिसटता हुआ बढ़ रहा है, उस नौजवान की ओर, जिसकी आंखों में आग है, वह उसकी पीठ थपथपा रहा है' तो 'एक अदद सपने के लिए' में वाचक पहुंच रहा है 'मिट्टी की जड़ों तक, ढल रहा है प्रतीकों में, मिथकों में, ढाल रहा है सपनों को भाषा में।' वहीं 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में, 'फ्रेम को तोड़ बाहर आ गए हैं खरगोश...सुचित्रा और सलमान झांकते हैं एक दूसरे की आंखों में, कचरे को जलाती एक लपट दोनों तरफ।' यहां कवि की भविष्योन्मुखी दृष्टि कविताओं को आहत नहीं करती वरन् उसे गति-मयता प्रदान करती है। बदलाव के विचार को द्वंद्वात्मक स्थितियों में नियोजित करती हुई सृजनात्मक धरातल को रेखांकित करती है। लंबी कविता के 'ओपेन फार्म' का सशक्त उदाहरण ये लंबी कविताएं बनी हैं।

इन कविताओं के पात्र—यूसुफ, समरजीत, सतवंत, सुचित्रा, सलमान, परिस्थितियों के टकराव से निर्मित हुए हैं। वे दिवास्वप्न और दुःस्वप्न के बीच स्वयं को ठगा-सा महसूस करते हैं जहां भारत विभाजन से लेकर सन् '84 के उग्रवादियों द्वारा किए गए गोलीकांडों तक, सच है केवल अग्नि, गोलियां और जिसके कारण संपूर्ण सृजन प्रक्रिया लहुलूहान हो गई है। संभवतः इसी आतंक का ही परिणाम है कि 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' का युसुफ निर्विकार सा उदास बैठा रहता है, बड़बड़ाता रहता है, शून्य में कहीं ताकता एक टक। और 'एक अदद सपने के लिए' में समरजीत के पितामह गूंगे हो चुके हैं और 'तेज कदमों से घूमते रहते हैं, एक ही वात्याचक्र में।' लेकिन कवि जानता है कि केंद्र पर प्रहार करने से ही परिवर्तन की दिशा की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। वस्तुतः जिन पात्रों में संघर्ष का अभाव सा दिखता है, उनकी हरकतों की भाषा यथार्थ के विकृत और बदसूरत हो जाने को अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

'एक अग्निकांड जगहें बदलता' और 'एक अदद सपने के लिए' एक लंबे अनवरत क्षण में लिखी गई रचनाएं हैं। ये दोनों कविताएं अंतर्संबंधित हैं जहां विभाजन की त्रासदी पंजाब के दंगों तक पसर गई एक भयानक ज्वाला है जो आज हर जगह है, जिसके पाश में फंसा व्यक्ति तड़पता है एक अदद सपने के लिए। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविता में भी सांप्रदायिक दंश विद्यमान है लेकिन यहां पात्रों का संयोजन सामाजिक संबंधों को भी टटोलता है। सुचित्रा और सलमान संस्थागत संबंधों की निश्चित परिभाषा में स्वयं को आहत पाते हैं और फ्रेम को तोड़ना चाहते हैं। कवि के संग्रह 'संकट दृश्य का नहीं' में

इन तीनों लंबी कविताओं का संयोजन इस अंतर्वर्ती संबंध को एक क्रम में खोल देता है।

विवरण और नरेशन के इस स्वभावोक्तिपरक संयोजन को बड़ी सादगी से, ठंडे (सारहीन नहीं) लहजे में अभिव्यक्त किया गया है। इन कविताओं में आक्रोश कहीं नहीं है, एक आतंक की छाया है जो व्यक्ति के अतीत, वर्तमान और सहमे हुए भविष्य को आच्छादित किए है, जो परत-दर-परत नाटकीय विधान के अंतर्गत खुलती चली जाती है। इन कविताओं को छोटे-छोटे वाक्यों में सहज सीधी भाषा में संप्रेषित करने का प्रयास किया है।

संप्रेषण की इस क्रिया में प्रतीक युगल हैं जो व्यवस्था के तिलिस्म और आतंक को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। 'एक अदद सपने के लिए' कविता में किले और तलघर के प्रतीकों द्वारा व्यवस्था के छद्म को उद्घाटित किया गया है। व्यवस्था के इस बंद दायरे में व्यक्ति नामहीन संज्ञा हो गया है। यदि उसे आदमी समझा जाए तो व्यवस्था को उसकी भूख-प्यास की चिंता करनी होगी, उसके रहने की चिंता करनी होगी। इसीलिए जनता केवल वोट है। व्यवस्था के ठेकेदार 'लाशों को वोट में और वोट को लाशों में बदल रहे हैं'। कवि ने बड़े सशक्त ढंग से 'कंट्रास्ट' के द्वारा व्यवस्था के भौंड़े चेहरे को अनावृत कर दिया है। शहर और जंगल, गुलाब की टहनी और बंदूक की नली, इनका एक साथ संयोजन कर मानवीय अस्तित्व के लोप हो जाने की गाथा स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ जाती है: 'नयी व्यवस्था की राह तकते-तकते हमारी आंखें दुखने लगी हैं' लेकिन सामने नजर आता है तो व्यवस्था का तांत्रिक खेल, जो कभी धर्म की आड़ में तो कभी छद्म आधुनिकतावाद के सहारे केवल भर रहा है एक घटाटोप अंधेरा, जहां गुलाबों की खेती करने वाला संतवंत बंदूक की नली से बात करने लगा है। 'कैसे और कब झड़ गया उसके हाथ का गुलाब, कैसे और कब छूट गयी उसके हाथ की गुलाब टहनी, कैसे और कब गुलाब गंध बारूद गंध में बदल गयी है।' पात्रों के साथ सहानुभूति और संपृक्ति का भाव तो इन कविताओं में नजर आता ही है, व्यवस्था को ताड़ती आंख भी है और दुत्कारता व्यंग्य भी। 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में नेहरू युग की नौटंकी का संकेत युग के विसंगतिपूर्ण होते जाने का उद्घाटन करता है। 'अग्नि' का प्रतीक इन तीनों लंबी कविताओं में है। जहां 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' और 'एक अदद सपने के लिए' में यह अग्नि सांप्रदायिक हिंसा का प्रतीक है वहां 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में सामाजिक बंधनों के अराजक स्वरूप को भी खोल देता है। यही आग है जिसने भरे-पूरे पेड़ों को झुलसा दिया है।

'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविता में सलमान का ही 'मेटामार्फोसिज' हुआ है। वस्तुतः कविता में सलमान की ही स्वगत चेतना है जो विभिन्न धरा-

तलों पर अभिव्यक्ति पाती है। खरगोश-चित्र के खरगोशों को लीजिए। सृजन-प्रक्रिया के संदर्भ में वे मासूम जनता का प्रतीक हो जाते हैं जो राजनीतिक छलावे का शिकार हो, लहुलुहान हो चुके हैं। खरगोश चित्र का अल्हड़ लड़कों में रूपांतरण, उनका निरीह विश्वास और उसी को छलता क्रूर हिंसात्मक वर्तमान जिसके विषय में एक सचेतन व्यक्ति कब तक चुप रह सकता है। इसका दूसरा अर्थ खुलता है सुचित्रा के साथ, जो सामाजिक फ्रेम यानी पारिवारिक तयशुदा चौखटे से बाहर आ जाना चाहती है। इसका तीसरा अर्थ खुलता है, वास्तविक दुनिया का कला की दुनिया में रूपांतरण जिसमें खरगोश का फ्रेम से बाहर आ जाना यानी वर्तमान के संकटों के संदर्भ में एक निर्णायक भूमिका निभाना, जहाँ सुलगता रहता है कोई ज्वालामुखी शब्दों की भीतरी दुनिया में···जो सरक आता है···कविताओं में। देखा जाए तो यह सलमान की ही स्वगत चेतना है जो कभी मासूम जन, तो कभी सुचित्रा के रूप में दुहरे-तिहरे सामयिक बिंदुओं पर एक साथ सक्रिय दिखती है।

इन तीनों कविताओं से गुजरते हुए इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि अस्तित्व के गहरे संघर्ष से जुड़ा हुआ है और उसी के द्वारा प्रेरित होकर उसे कविता का रूप देने के लिए वह अपने भीतर प्रवेश करता है, अनुभूति के स्तर पर ही नहीं, बौद्धिक स्तर पर भी। इसी कारण ये लंबी कविताएं घटनाओं, प्रसंगों, विवरणों और प्रतीकों आदि द्वारा रूपायित होती हैं जिनके नीचे एक विचारात्मक सूत्र सदा विद्यमान रहता है। इन कविताओं में युसूफ, विष्णु, समरजीत और सतवत व सलमान और सुचित्रा स्पष्ट रूप से एक विशिष्ट योजना की ओर संकेत करते हैं। ध्यान देने की बात है कि जब कवि विचार को केंद्र में रखकर घटनाओं, दृश्यों का संयोजन करता है तो कभी-कभी दृश्य या वर्णन का संयोजन कवि के दृष्टि बिंदु को सोख लेता है, अर्थात् जितना ध्यान दृश्यों के संयोजन पर होता है उतना दृष्टिगत संघर्ष पर नहीं और इसकी गिरफ्त में कवि नरेन्द्र मोहन भी आ गए हैं। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविता में 'नीले घोड़े' के चित्र का स्पष्ट रूप से उभरकर न आना, कविता के सहज विकास को रोकता है। इसी कविता में लड़की का लपटों में घिरे होने का चित्र चाहे सामाजिक हैवानियत को चित्रित करता है लेकिन यह अनायास नहीं आया, इसका हस्तक्षेप कविता के अर्थ-वृत्तों को आहृत करता है।

वस्तुत: कविता का वस्तुतत्त्व कवि का मनस्तत्व ही माना गया है। लेकिन साहित्यकार अपने मन:स्तत्व का सृजनात्मक विवेक द्वारा संपादन संशोधन करता हुआ उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। ऐसे में आत्मस्वतंत्रवाद का सहारा लेना' गलत है 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' में 'पागल, हाँ टोबा टेकसिंह था पागल' का संकेत या 'आग का दरिया दहलीज फांदता अंदर घुस आया' या अमृता के

बोल आज आखो वारिस शाह नूं····' उदाहरण कविता को आत्मकथात्मक घेरे में बांध देते हैं। 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविता में और 'एक अदद सपने के लिए' में भी कवि की मानवीय सहानुभूति स्पष्ट नज़र आती है लेकिन वह कविता की जकड़न नहीं बनती वरन् दृश्यों को तानकर उसे तटस्थ रूप में अंकित करती है।

नरेन्द्र मोहन की इन लंबी कविताओं में अतीत और वर्तमान, इतिहास और स्मृति एक नाभिबिंदु पर टकराते हैं। आत्मीय स्मृतियां ऐतिहासिक स्मृतियों में फैलती और गुंथती जाती हैं। कवि का यह प्रश्न कि 'जानता हूं स्मृति इतिहास नहीं है पर इतिहास से बाहर भी कहां रखूं इसे' ऐतिहासिक दस्तावेज़ों पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है। यहां इतिहास घटनाओं के पुलिंदे के रूप में नहीं, बोध और चेतना के रूप में ग्रहण किया गया है। कह सकते हैं कि संपूर्ण ऐतिहासिक पुनर्रचना इन कविताओं में हुई है।

चतुर्थ खंड

नाट्य संरचना और रंग-बोध

क्रिया और 'प्रतिसंसार' की रचना

—डॉ० पवन कुमार मिश्र

नाट्य-लेखन एक विशिष्ट प्रकार का सर्जन है। विशिष्ट इसलिए कि नाटक का आधार क्रिया अथवा करना है। यह क्रिया ही कथ्य का निर्धारण करती है। कहानी में 'होना' प्रमुख है करना नहीं, काव्य में 'हुआ' प्रमुख है। अनुभूति 'हुआ' का कर्म है, करने का नहीं। नाटक 'साक्षात्' है। उसमें अदृश्य नहीं होता। इसी कारण नाटक की संरचना अपने आप में कई प्रक्रियाओं का संपुंजन है।

नरेन्द्र मोहन की नाट्य संरचना उसकी क्रियाशीलता में है। वह लिखता है और कई भूमिकाओं का एक साथ निर्वाह करता है। वह लिखता है तो पूरी सावधानी से लिखता है। उसके भीतर क्रिया-अक्रिया का द्वंद्व सतत बना रहता है। यही द्वंद्व उसे रचनात्मक उत्तेजना प्रदान करता है। रचनात्मक उत्तेजनाओं में क्रिया उसे विवश करती है। क्रिया की यह विवशता एक प्रतिसंसार का निर्माण करती है तथा इस प्रतिसंसार में कथ्य, पात्र और संवाद झिलमिलाने लगते हैं। इस झिलमिलाहट में कबीर, सींगधारी और राजा और निहंग कलंदर आकार ग्रहण करने लगते हैं। क्रिया का प्रतिसंसार सामान्य से विशिष्ट की ओर कदम बढ़ाने लगता है। यह विशिष्ट पुनः सामान्य की ओर लौटता है और एक वृत्त बन जाता है। इस वृत्त के भी कई छोटे-छोटे वृत्त निर्मित होते हैं जिनके केंद्र में सामान्य से रूपांतरित एक-एक पात्र की संरचना होती रहती है। यह पात्रों की संरचना 'क्रिया' और 'होने' के बीच का द्वंद्व निर्मित करती है और यही द्वंद्व संघर्ष को मुखर कर देता है। संघर्ष की यह मुखरता ही संवाद है।

नरेन्द्र मोहन की नाट्य संरचना 'संघर्ष-मुखरता' का प्रत्यक्षीकरण है। उसका वृत्त है, सामान्य से विशिष्ट और विशिष्ट से पुनः सामान्य। सर्वप्रथम 'कबीर' को लें।

कबीर का कथ्य सामान्य से विशेष बनकर पुनः सामान्य बन जाता है। नाटक का कथ्य लेखक का मूल चिंतन होता है, उसका सोच होता है। कथ्य के के लिए घटना पात्र संवाद आदि का संयोजन नाटक लेखक को करना होता है।

'कहै कबीर सुनो भाई साधो', 'सींगधारी' तथा 'कलंदर' का कथ्य तो एक ही है —सत्य का उद्‌घाटन। इस सत्य पर आवरण भिन्न-भिन्न हैं। कबीर के सत्य पर छुआछूत, जातिवाद, सांप्रदायिकता और शासन के दुराचारों, शोषण आदि का आवरण है। 'सींगधारी' पर आवरण है सत्ता का जो हर सच्चाई पर पर्दा डालकर झूठ का प्रचार कर अपना उल्लू सीधा करती है। 'कलंदर' का सच है—सत्य को दुरदुराना तथा सत्ता के द्वारा सच कहने वाले को समाप्त करना। इस सत्य पर दुहरे आचरण का, संप्रदायवाद का आवरण सत्ता-शासन द्वारा कस दिया गया है। इन आवरणों को चीरकर सत्य का उद्‌घाटन ही मूल कथ्य है। नरेन्द्र मोहन इसी सत्य के प्रस्तोता हैं। यह सत्य 'तब' का सत्य तो है ही 'अब' का सत्य भी है। नरेन्द्र मोहन की संपूर्ण नाट्य-कला इसी सत्य के प्रकटीकरण की क्रिया है।

इस क्रिया के लिए दो समांतर ताने-बाने 'कबीर' में बुने गए हैं। पहला है गायक-गायिका का जो कबीर का स्थूल परिचय देते हैं, जिस के द्वारा कबीर की मान्यताओं का प्रकाशन होता है। इन्हीं मान्यताओं को जन-समाज में गायक-गायिका प्रस्तुत करते हैं। इन मान्यताओं की टकराहट जन से होती है। उसकी यह टकराहट ही एक प्रतिसंसार की सर्जना करती है जिसमें आस्था-अनास्था का द्वन्द्व रेखांकित होता है। गायक-गायिका जन-सामान्य के समक्ष कबीर कथा का प्रारंभ करते हैं। वह भी कबीर के सत्य के साक्षात्कार से—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।"

नरेन्द्र मोहन अतीत के परिवेश और प्रासंगिक सोच को वर्तमान परिवेश और स्थिति से इंटरेक्ट होने देते हैं। इस टकराहट से ही अनाविल दृष्टि प्राप्त होती है जो समय की धुंध को चीरकर अनास्था के स्थान पर आस्था को स्थापित करती है, अक्रिया के स्थान पर क्रिया की रचना करती है। **कथ्य का क्रिया हो जाना ही नाटक की संरचना है।** इस संरचना के विविध आयाम होते हैं और नरेन्द्र मोहन अपने पहले नाटक से ही इस सिद्धांत से अवगत होकर उससे अपना सरोकार स्थापित कर लेते हैं। यह नरेन्द्र मोहन की नाट्य-कला का अपना वैशिष्ट्य है।

मैंने लिखा है कि नाटक के लिए दुहरा ताना-बाना है। एक है गायक-गायिका का और दूसरा है समाज के आमने-सामने सत्य का साक्षात्कार करते हुए और विद्रोह करते हुए कबीर का। ऐसा ही दुहरा ताना-बाना 'सींगधारी' का भी है। 'सींगधारी' का ताना-बाना अधिक समर्थ और प्रभावशाली है। एक लोक-कथा का प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न आवरण इस नाटक पर छाया हुआ है। इससे संरचना में जटिलता तो आई है पर संप्रेषण अधिक धारदार तथा ग्राह्य हो उठा है। नाटक सबके लिए है—वहां वर्ण, वर्ग जाति, आयु और लिंग का भेद नहीं होता है।

'सींगधारी' का कथ्य सहज रूप से सामाजिक के सामने बिंब-प्रतिबिंब की तरह प्रत्यक्ष होता है। 'सींगधारी' लोककथा का नायक है जो प्रतीक बन जाता है। युगों-युगों से चला आया यह नायक सारे आवरणों को चीरकर आधुनिक युग के शासक का मूर्तिमंत रूप बन जाता है। वह समकालिक ही नहीं सार्वकालिक हो उठता है। वर्तमान संदर्भ में वह प्रजातंत्र का नेता है, जो अपने स्वार्थ के दलदल में आपाद-मस्तक डूबा हुआ है। उसके हिंसक सींग रूप बदल-बदलकर जाति, संप्रदाय, आतंक, माफिया आदि के रूप में परिलक्षित होने लगते हैं। हिंसा और शोषण का चेहरा सब जगह एक जैसा होता है। प्रजा का उत्पीड़न और स्वार्थ का पोषण ही इन सींगों का पर्याय है।

'सींगधारी' की कथा इससे टकराने की कथा है। लोक-कथा के आधुनिक कथा में रूपांतरण के लिए नरेन्द्र मोहन ने छोटे-छोटे संवादों की योजना की है—देखिए यथा—

प्यारेलाल—एक समय एक राजा था···

आदमी एक—जैसे हमेशा होता है?

× × ×

प्यारेलाल—उसका एक मुख्य प्रायवेट नाई था।

आदमी एक—मुख्य निजी सचिव की तरह।"

राजा के नाई का मुख्य निजी सचिव में रूपांतर अतीत का वर्तमान हो जाता है और लोक-कथा आज की कथा बन जाती है। लोकरंजन के साथ इतिहास बोध का समन्वय हो जाता है और कथ्य के सहारे युग-सत्य की जटिलताएं प्रत्यक्ष होने लगती हैं। केंद्र में लोक-कथा ही है पर पात्र नए हो जाते हैं। दो दल हो जाते हैं। संघर्ष की भूमि पकने लगती है। एक दल है नेता, जसवंत, तरसेम आदि का; दूसरा दल है शिव, विमल, प्यारेलाल आदि का। नेता दल ईमानदार, सत्यान्वेषी को मारता है, आतंकित करता है, तोड़ने का प्रयास करता है। नेता सींगधारी है अन· मार डालना उसका अमोघ अस्त्र है। विमल मास्टर है। वह शिव से कहता है—"स्कूल बंद, काम ठप्प। जानते हो यही वह कत्लगाह है जहां दस लोगों की जानें गईं। लोग बौखलाए हुए हैं। इतिहास अपने को दोहराता है।" शिव कहता है—"अरे भाई, इतिहास यहां कहां से आ गया! खबर दर खबर तब कहीं तैयार होता है इतिहास।" × × ×

दोस्त इतना जान लो, ब्यौरे सच को पेश ही नहीं करते, उसके गवाह भी होते हैं।"

नेता और शिव का संघर्ष छद्मता और यथार्थ का संघर्ष है। कुत्सित और मदांध सत्ता का तथा आम जनता का संघर्ष है। सत्ता तो जनता के साथ छल करने गोली चलाने ८ और । को भड़काने में प्रवीण है और जनता

तो उनके लिए कीड़े-मकोड़े हैं, आंकड़ों की दुनिया है। प्यारेलाल का कथन देखिए —"···सुनो, सुनो, सुनो यही वह जगह मारे गए दस·· जिन्न की खुराक···जिन··जिन···जिन्न·· दस जर्ब दस बराबर हैं सौ। सौ जर्ब दस बराबर हैं एक हजार—एक हजार जर्ब दस बराबर हैं दस हजार—दस लाशें और दस हजार वोट—जादूगर, जादूगर, जादूगर—एक पल तैयार करता है—लंबा-चौड़ा रास्ता आपके लिए, दूसरे पल खंदक, खाई, खोह—आप तालियां बजाइए—बजाइए तालियां।"

सत्ता का कुचक्र आम आदमी को भयाक्रांत कर देता है। प्यारेलाल एक स्थान पर कहता है—"उस दिन दंगे में मेरी मां मर गई थी···। विमल कहता है—"मेरी आत्मा कुचल दी गई।" पर शिव कहता है—"यह डरे हुए आदमी का बयान है।" प्यारेलाल के सामने एक परिंदा तैरने लगता है—जंगल में पड़ा—खूंखार जानवरों से घिरा लहूलुहान। पूरा प्रतीक वर्तमान का स्पष्ट चित्र है।

इस लोक-कथा के ठीक विपरीत 'कलंदर' इतिहास कथा है। 'कलंदर' का इतिहास संघर्ष का इतिहास है। राजा जलालुद्दीन के दो चहरे हैं। ऊपर से निहायत मिठबोला, पर भीतर वह षड्यंत्रकारी घिनौना चेहरा। कथा-संरचना के लिए बुद्धू जैसे काल्पनिक पात्र का निर्माण नरेन्द्र मोहन की उर्वर और सर्जना शक्ति का प्रमाण है। एक बुद्धू नहीं अनेक हैं। अनेक के भीतर एक और एक के भीतर अनेक। 'कलंदर' के लिए नरेन्द्र मोहन ने निष्ठा के साथ इतिहास के पृष्ठों पर शोध की है। यह शोध ही नाटक के लिए आगामी दिशाएं प्रस्तुत करती हैं। हमीद और सीदी मौला जैसे पात्र निःस्वार्थ और जुझारू हैं—जिनके साथ छल, प्रपंच और प्रताड़ना सभी कुछ होते हैं। सीदी मौला की तो हत्या ही की जाती है झूठे इलजाम लगाकर। सीदी मौला को जब दरबार में खड़ा किया जाता है तब भी वह निडर और बेखौफ है। उसके संवाद मुक्तिबोध की कविता 'भूल गलती' को आमने-सामने खड़ा कर देते हैं। यथा—(जलालुद्दीन सख्ती से सीदी मौला की तरफ देखता है। सीदी मौला बेखौफ खड़ा है।)

जलालुद्दीन—हमें ताज्जुब है तुम्हारी तकरीरों में खुदा की जगह रियाया का जिक्र बहुत आने लगा है।

सीदी मौला—रियाया का दुख-दर्द दूर करना मेरे लिए इबादत से बढ़कर है।

जलालुद्दीन—(जोर से) क्या हमें रियाया की फिक्र नहीं?

सीदी मौला—रियाया का मतलब जानते हो सुलतान, एक ऐसा रोशन दीया जिससे छोटे-बड़े तमाम दीए जल उठते हैं। छोटी-बड़ी रोशनी का फर्क तब नहीं रह जाता। रियाया में रब का वास है सुलतान।

जलालुद्दीन—और यह जान लो रब का नुमाइंदा सुलतान है—रियाया पर

हुकूमत करने के लिए।

सीदी मौला—"'रब का नुमाइंदा वही हो सकता है जो उसके नूर में नहा चुका हो।

कलंदर नाटक है अर्द्ध ऐतिहासिक। पर यह अर्द्ध ऐतिहासिकता आधुनिक युग के तमाम प्रश्नों को अपने में समेटे हुए है। यह तमाम प्रश्न क्रिया का जो प्रतिसंसार रचते हैं वह नाटक का वास्तविक संसार है। अतीत को वर्तमान बनाने का संसार और यह नाट्य ससार नरेन्द्र मोहन का अपना है और विशिष्ट है।

नरेंद्र मोहन के नाटकों की भाषा—भाषा नहीं वाचिक अभिनय है। नाटक मे भाषा नहीं होती अभिनय होता है। भाषा को दृश्यता में परिवर्तित करने की ऊर्जा भाषा में समाई रहती है। अतः नाटक में संस्कृत के, उर्दू के या अन्य भाषा के शब्दों का महत्त्व नहीं होता है, नाटक मे भाषा की दृश्यता का महत्त्व होता है। इसलिए नाटक की भाषा का रचाव अन्य विधाओं की भाषा से नितात भिन्न होता है। नाटक की भाषा क्रिया की या करने की भाषा होती है। क्रिया की संपूर्णता ही रस है, तभी तो नाटक की भाषा रस की भाषा है। नाटक में रस के सभी अंग-उपांग सन्निहित होते हैं पर नाट्य रस न तो काव्य-रस है, न कथा-रस, वह तो क्रिया-रस है। यदि हम प्रसाद के नाटकों की भाषा को देखें तो यह बात स्पष्ट होती है कि प्रसाद के नाटकों की भाषा काव्य भाषा है, नाट्य भाषा नहीं। इसी कारण प्रसाद के नाटक पाठ्य नाटक हैं, दृश्य नाटक नहीं हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रसाद के नाटक काव्य हैं नाटक हैं ही नहीं, क्योंकि उनकी भाषा में क्रियात्मकता का अभाव है। प्रसाद जी घटना को काव्य में रूपांतरित करने में समर्थ है पर घटना को दृश्य बनाने में असमर्थ हैं। क्या कारण है कि प्रसाद के नाटक मंच-विमुख नाटक हैं? इसका प्रमुख कारण प्रसाद की मानसिक निर्मिति है। वे एक कवि हैं। कहानी या उपन्यास में भी वे कवि ही हैं। उनके कथा साहित्य में भी काव्य रस है, कथा रस नहीं। प्रसाद बार-बार नाटक लिखते हैं, अधिकतर वे इतिहास के पृष्ठों को नाटक में रूपांतरित करना चाहते हैं पर उनका कवि इतना प्रबल है कि वे नाटक को भी काव्य बना देते हैं। वे एक गहरे द्वंद्व के शिकार हैं। संस्कृत के बहुत से नाटक भी इस द्वंद्व के शिकार रहे हैं। कम-से-कम कालिदास तो हैं ही।

श्री नरेन्द्र मोहन को नाटक की भाषा का अपना मुहावरा प्राप्त हो गया है। इसके लिए नरेन्द्र मोहन ने मंच मे सीधा और सटीक संपर्क स्थापित किया और बार-बार यह कोशिश की कि उनकी नाट्य भाषा पर उनकी काव्य भाषा का असर न पड़े। मुझे प्रसन्नता है कि वे इसमें सफल रहे हैं। कबीर से कलंदर तक की उनकी भाषा क्रमशः वाचिक अभिनय के आकार ग्रहण करने की भाषा है। कबीर की भाषा गद्य-पद्य से संजी-संवरी भाषा है। कबीर के पद के साथ बहुत सहज रूप मे स्वनिर्मित दोहों का प्रयोग परिचय के रूप में किया गया है। ये दोहे

विवरण प्रधान हैं और पीठिका के रूप में रखे गए हैं। उसके पश्चात् छोटे-छोटे संवादों की रचना है जो कथा का पूर्वाभास है, और फिर कबीर के पांच दोहे 'गायक' द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। इस संरचना में एक उतार-चढ़ाव है जो भाषा की क्रियाशीलता है। यथा—

भीड़ में एक आदमी—सत की जोत जलाई?
गायिका —हां-हां जोत जलाई।
आदमी दो —कैसे मानें? कौन करेगा यकीन? कौन था वह?
गायक —तुम सब में है। सदियों पहले था।
आदमी दो —पहेलियां न बुझाओ। साफ-साफ बताओ।
गायिका —कचरे को लपट में बदल दिया था उसने।
भीड़ में कई लोग —किसने भाई किसने?
गायक —जाति जुलाहा, नाम कबीरा।
गायिका —नाम कबीरा, जाति-धाम नहीं था कोई।

इस संवाद-खंड में भाषा निरंतर वाचिक अभिनय की ओर बढ़ रही है। प्रारंभ में उत्सुकता भाव रखकर अंत में उत्सुकता का विवरण। यह क्रिया और कार्य दोनों हैं और अभिनेता तथा दर्शक दोनों में समान संचरण करते हैं। यह भाषा की गतिशीलता भी है और सार्थकता भी। स्वयं नरेन्द्र मोहन का भाषा के संदर्भ में निम्नलिखित विचार महत्त्वपूर्ण है—

"नाटक में संवेदना और विचार कथित नहीं होते, वे स्थितियों और चरित्रों का हिस्सा होते हैं। वर्णन, विवरण और शाब्दिकता नाटक को ले डूबते हैं।" × × × "ठीक है संवाद योजना नाटक नहीं है, पर संवादों के बिना भी नाटक नहीं है। दरअसल संवाद खिड़कियों की तरह है जो भीतरी दुनिया को बाहरी दुनिया से, अमूर्त और काल्पनिक-दुनिया को ठोस वस्तु जगत में, मनोदशाओं को सामाजिक दशाओं से जोड़ती हैं, जिनमें से हम दूर तक झांकते हैं चरित्रों के व्यवहारों में, उनके रहस्य लोकों में, उनकी प्रेरणाओं में, कल्पनाओं में और हम उनकी ऊपरी परतों को खोलते हुए कार्य-व्यापार से जुड़ जाते हैं। संवादों में अभिनय के विभिन्न रूप और आयाम (यहां तक कि नाटककार की अभिनेताओं संबंधी परिकल्पना जो वह चरित्रों का सृजन करते समय करता है।) भी लिए होते हैं। (सींगधारी, पृ० 11-12)

नाटक की भाषा जो संवादों में होती है वह आधी-अधूरी ही होती है क्योंकि इस संवाद-भाषा के साथ मंच की भाषा, वेशभूषा की भाषा, रूप सज्जा की भाषा, गति अभिनयन की भाषा, आंगिक भाषा, प्रकाश की भाषा आदि जुड़कर एक संपूर्ण नाट्य भाषा का स्वरूप ग्रहण करती है। अतएव यह अनिवार्य है कि नाटक-लेखक इन सभी भाषा प्रकारों का साक्षात्कार कर संवादों की भाषा का सिरजन करे।

यह साक्षात्कार जितना गहरा और पूर्ण होगा संवादों की भाषा उतनी ही सार्थक और मूर्त भाषा होगी। मुझे प्रसन्नता है कि नरेन्द्र मोहन ने भाषा के इस वैविध्य का साक्षात्कार कर लेने की कुशलता अर्जित कर ली है, इसी कारण उसके नाटकों की भाषा समर्थ भाषा है।

नरेन्द्र मोहन ने अपने नाटकों में दुहरे रचना शिल्प का प्रयोग किया है जो समानांतर रूमें में गतिशील होते रहते हैं। 'कहै कबीर' में गायक-गायिका तथा यथार्थ चरित्रों का सहज कार्यकलाप, 'सींगधारी' में लोक-कथा और उसके समानातर यथार्थ तथ्यात्मक जगत और 'कलदर' मे इतिहास कथा और दर्तमान स्थिति और वातावरण। यह शिल्प केवल शिल्प ही नहीं है अपितु यह एक ऐसी मूलभूत योजना है जिसके माध्यम से वह तथ्य से सत्य तक की यात्रा को अंजाम देता है। मेरा मंतव्य दुहरे कथानक से नहीं है। दुहरा कथानक तो पारसी रंगमंच नाटकों मे हुआ करता था। नरेंद्र मोहन के नाटक के दो धरातल होते हैं। ये धरातल (Levels) तभी समझ में आ सकते हैं जब नाटक लेखक के पास मंचीय दृष्टि होती है। वह यह जानता है कि नाटक एक विशिष्ट विधा है और उसका संयोजन अपने आप मे एक शास्त्रीय विधि-विधान है। इस विधि-विधान को हृदयंगम किए बिना नाटक का लिखा जाना असंभव है। इसके अभाव में यदि नाट्य-रचना की भी गई तो यह विकलांग होगी और मुझे यह लिखने में कतई संकोच नहीं है कि हिंदी के नाटकों की एक बड़ी संख्या विकलांग नाटकों की है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन के अभी तक तीन नाटक हिंदी संसार के सामने है। चौथा भी प्रकाशित हो चुका है। संरचना, कथ्य, भाषा, शिल्प और प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से ये सभी नाटक अपनी पहचान स्थापित कर चुके हैं। अब तक नरेन्द्र मोहन ने नाटक के स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया है। अब वह नाटक से रूबरू है और मुझे विश्वास है कि भविष्य, आशा और नवीन रंगों-रेखाओ तथा नए प्रयोगों से भरा हुआ है।

समसामयिकता और इतिहास-बोध से जुड़ा नाट्य-कर्म

—डॉ० गुरुचरण सिंह

समसामयिकता और शाश्वतता, समकालीनता और इतिहास-बोध नाट्य सृजन में गुंथे हुए हैं। विषय ऐतिहासिक हो या पौराणिक या समकालीन, उसे इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि वह जीवन के साथ जुड़कर, समसामयिक स्थितियो विसगतियों, विडंबनाओं, मूल्यों को हमारे सामने उघाड़कर रखे तथा स्थितियो पर विचार करने के लिए प्रेरित करे। नरेन्द्र मोहन का नाट्य-कर्म समसामयिकता और इतिहास-बोध के केंद्रीय सवालों से जुड़ा हुआ है।

नरेन्द्र मोहन के चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' (सन् 1988) तथा 'कलंदर' (सन् 1991) का संबंध आज से पाच छ. सौ साल पुराने इतिहास से है तथा 'सींगधारी' (सन् 1988) और 'नो मैंसलैंड' (सन् 1994) का संबंध हमारे अपने युग के साथ है। 'कहै कबीर…' में गायक-गायिका तथा 'कलंदर' में बुद्धू ऐसे चरित्र हैं जो नाटक की कथा को हमारे युग के साथ जोड़ते हैं। गायक-गायिका हमें बीसवीं शताब्दी से कबीर युग में ले जाते हैं अर्थात् दोनों पात्र वर्तमान समाज में दलितों-शोषितों निर्धनों पर हो रहे अत्याचारो तथा अन्याय को कबीर के युग के साथ जोड़ते हैं। वैसे ही 'कलंदर' का बुद्धू भी आम आदमी का प्रतिनिधित्व करता है जो हर युग में यातना झेलता है और विद्रोह करता है। इस तरह नाटककार ने इन दोनों नाटकों को समसामयिक जीवन की समस्याओं के साथ जोड़ा है।

'कहै कबीर सुनो भाई साधो' का कार्य-व्यापार दो स्तरों पर चलता है—गायक-गायिका और आज के बहुत सारे लोग तथा कबीर और उसके जीवन-चरित्र से जुड़े बहुत से लोग। नाटककार हमें वर्तमान स्थितियों के बीच से उठाकर कबीर के जीवन में ले जाता है जहां हम लगभग आज सी ही स्थितियों से उसे घिरा पाते है। 'कहै कबीर…' या 'कलंदर' के समाज, सत्ता, व्यवस्था तथा उनकी चालो के

कबीर अपने विद्रोही और क्रांतिकारी स्वर के कारण मध्यकालीन संत काव्य में सबसे अलग खड़े दिखते हैं। कबीर ने सत्ता का सामना अपनी कविता से किया है। सत्य और न्याय के लिए तथा शोषण और उत्पीड़न का विरोध करने के लिए उन्होंने अपनी कविता को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। इसलिए उनकी कविता आज भी उतनी ही सार्थक है, उतनी ही जीवन से जुडी हुई है, जितनी तब थी। नाटक 'कलदर' में कलंदरों का स्वर भी विद्रोही है। वे मस्तमौला, अक्खड़ और फक्कड़ फकीर थे। 'उनके रहन-सहन, कथनी-करनी में, सच के रास्ते पर बेखौफ़ चलने में, अंदाजे ज़िंदगी में अजब अपूर्वता थी। धर्म, संप्रदाय व्यवस्था जहा भी वे अन्याय, असत्य, अधर्म, अत्याचार देखते, विद्रोह के लिए तैयार हो जाते। कबीर ने अपने जीवन में भी ऐसा ही किया। बुद्धू का यह कथन कि "आप कलदर नही हैं तो क्या है?" इस ओर संकेत करता है कि अपनी प्रकृति में प्रत्येक व्यक्ति कलंदर की विशेषता लिए हुए है। वह विरोध तथा विद्रोह करता है और सत्य के लिए लड़ता भी है। 'कलंदर' सामाजिक रीति-रिवाजों और तौर-तरीको को नहीं मानते थे, पाखंडों, कर्मकाडों और घर-गृहस्थी के बंधनों से वे मुक्त रहना चाहते थे। कबीर ने घर-गृहस्थी को तो स्वीकारा, पर शेष वही विशेषताएं उनमें भी थीं।

ये दोनों नाटक हमें वर्तमान से इतिहास में और इतिहास से वर्तमान में बार-बार ले जाते हैं। धीरे-धीरे हम कबीर और कलंदरों की ज़िंदगी, बाणी उनके समय के समाज, धर्म, राजनीति को नाटकीय गतियों में ढलते हुए और जीवन से जुडते अनुभव करते हैं। कबीर तथा कलंदर निर्भीक थे। सच कहने से उन्हें कोई रोक नहीं सकता था। वे आम आदमी के जीवन में परिवर्तन लाना चाहते थे, एक मुक्त, निर्भीक समाज की स्थापना करना चाहते थे। अब देखना यह है कि इन नाटकों में कबीर तथा कलंदरों का क्या ऐसा व्यक्तित्व उभर पाया है? ऐसे व्यक्तित्व को उभारना सहज नहीं। उनके अंतर्जगत की अनुगूंज को अनुभव किए बिना नाटककार उस चरित्र के करीब नहीं पहुंच सकता। कबीर पर पहले भी कई नाटक लिखे जा चुके हैं। उनमें से कुछ नाटक चर्चित भी रहे हैं। इस दृष्टि से 'कलंदर' का विषय अछूता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कबीर पर एक नाटक और क्यों? जैसाकि पहले ही विचार किया गया है कि कबीर का व्यक्तित्व सघन और जटिल है। उसे अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखा और परखा जा सकता है। एक ओर साधु-संत-भक्त कबीर है जो ईश्वर की उपासना में डूबा है तो दूसरी ओर धर्म के ठेकेदारों से सीधी टक्कर लेता हुआ कबीर जो अंध-विश्वासों, पाखंडों, रूढ़ियों, परंपराओं, कर्मकांडों का खुलकर, तर्कपूर्ण विरोध करता है तो उसके साथ ही सत्ता और व्यवस्था की चालों को उघाड़कर समाज के सामने रखने का साहस भी वह करता है। इसलिए कबीर पर बहुत कुछ लिखे

जाने की संभावना और आवश्यकता अब भी है।

कबीर के जीवन में विद्रोह का विकास क्रमशः हुआ होगा। हमीद यदि कलंदर बनता है तो उसका भी इतिहास है। नाटककार उनके कारणों तथा मनोविज्ञान को भी हमारे सामने रखता है। कबीर पर किन लोगों के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा, किन घटनाओं, प्रसंगों ने उनके जीवन को नयी दिशा दी, पहले तो इसे जानना जरूरी है, फिर आवश्यकता है उसकी पुनर्व्याख्या की। नाटककार ने बिजली खां और बोधन के प्रभाव को स्वीकारा है। इसीलिए इन दो पात्रों की सृष्टि नाटक मे की गई है। गायिका और नर्तकी रमजनिया के चरित्र को भी लेखक ने महत्त्वपूर्ण माना है। लोगो ने उसे कबीर की रखैल भी माना है, पर नाटककार ने उसे कबीर की शिष्या के रूप में ही स्वीकार किया है जो कि कबीर के विराट व्यक्तित्व को देखते हुए स्वाभाविक भी लगता है। रखैल की कथा कबीर के विरोधियों के द्वारा प्रसारित की गई होगी। नाटककार ने इसे सत्ता की चाल के रूप में दिखाया है।

नाटक के दूसरे दृश्य में हम उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से परिचित होने लगते है—ठंड से ठिठुरते एक निर्धन को कबीर पूरा थान दे देते हैं। यह घटना उनके हृदय में व्याप्त प्राणी मात्र के प्रति दया और करुणा के भाव को स्पष्ट करती है तो इसी दृश्य में वे धर्म के ठेकेदारों, पाखंडी ब्राह्मणों की पोल खोलते हैं और बदले में उन ढोंगी ब्राह्मणों की प्रताड़ना का शिकार होते हैं, फिर भी अपनी बात पर डटे रहते हैं। पर कलंदर कबीर की तरह नही हैं। समाज में उनका आतंक है। वे कबीर की तरह अहिंसक नहीं, बल्कि तुरंत हिंसा पर उतर आने वाले जीव हैं। वे आतंक और भय द्वारा लोगों पर अपना प्रभाव छोड़ना चाहते है तो कबीर करुणा और प्यार से। आतंक कलंदरों की चरित्रगत विशेषता नही है, पर कुछ कलंदरों ने ऐसा मान लिया है। हमीद हिंसक नहीं है, फिर भी कलंदर है। कलंदर अन्याय के खिलाफ हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए एक छोटी-सी घटना का उल्लेख नाटककार ने किया है। एक आदमी को सिपाही पीट रहे थे। कलंदर उसे सिपाहियों के चंगुल से छुड़ाते हैं और सिपाहियों को भगा देते हैं। कबीर जब ब्राह्मणो से पिट रहे होते हैं तब बिजली खां और बोधन उन्हें छुड़ाते हैं तथा ब्राह्मणो को ललकारते हैं। इस तरह की कई समान स्थितियां इन दोनों नाटकों में देखने को मिलती हैं।

कबीर मगहर में हो रहे अत्याचारों तथा भूखमरी से चिंतित है तथा इसकी सीधी सूचना बोधन द्वारा सुलतान तक पहुंचाना चाहता है। पर वही बोधन सुलतान के अत्याचारों का शिकार होता है और उसे अपने जीवन का बलिदान देना पड़ता है। लोई और साहूकार के प्रसंग की तरफ भी नाटककार ने संकेत किया है। इस प्रसंग की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। इससे कबीर का बड़प्पन अवश्य

स्पष्ट होता है। घटना मार्मिक है, पर नाटककार न लोई के अंतर्द्वंद्व को उभार पाया है न कबीर की निर्द्वंद्वता को। इसके लिए लोई के एकालाप की आवश्यकता थी। एक स्त्री का पर पुरुष के समक्ष समर्पण बहुत बड़ी घटना है। कबीर के समय में किसी नारी का ऐसा सोचना बहुत बड़े पाप का भागीदार बनना था। इसे लेखक ने घटना के अनुरूप गंभीरता से नहीं लिया है। साहूकार में सहसा आया परिवर्तन स्वाभाविक हो सकता है, पर वहाँ भी उसके अंतर्द्वंद्व—तर्क-वितर्क को स्पष्ट करने की आवश्यकता थी।

दसवें दृश्य में सांप्रदायिक दंगों का वर्णन है। हिंदू-मुस्लिम एक-दूसरे को काट रहे हैं। जगह-जगह लूटमार, रक्तपात हो रहा है। सेना के अनुसार इसके पीछे कोतवाल का हाथ है। इस प्रकार के सांप्रदायिक दंगों का चित्रण 'सींगधारी' तथा 'नो मैंस लैंड' में भी हुआ है। यहाँ भी इन दंगों के पीछे सत्ता के हाथ का ही चित्रण हुआ है।

कोतवाल कबीर को पकड़ने से पहले उसकी ताकत को समझ लेना चाहता है। ग्यारहवें दृश्य में वह अपने सैनिकों से पूछता है कि उसके पीछे कितने लोग हैं। रमजनिया की बातें उसे चौंका देती हैं। उसे लगता है कि वह खतरनाक औरत है। सिकंदर लोदी को भी यही चिंता है। वह शेख तकी से पूछता है—"क्या यह सच है कि सच्चाईपसंद लोगों की एक बड़ी तादाद उसके साथ है।" शेख तकी के कबीर के साथ अच्छे संबंध हैं। इसलिए उसे ही कबीर को दरबार में लाने का आदेश दिया जाता है।

शेख तकी अपनी इच्छा के विरुद्ध कबीर को दरबार में लाने के लिए विवश है। 'कलंदर' में जलालुद्दीन खिलजी एक कदम और आगे है। वह सूफियों और कलंदरों का अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए उपयोग करना चाहता था इसलिए उसने दोनों को उलझाए रखा। सीदी मौला के बढ़ते प्रभाव को कम करने के लिए वह भी चालें चलता है और अंत में अबू बक्र तूसी द्वारा उसकी हत्या करवा देता है। मलिक कूची और सीदी मौला के संबंधों के बीच दरार पैदा करने के लिए वह मलिक कूची को हर तीसरे दिन सीदी मौला के खिलाफ ब्यान देने के लिए विवश कर देता है। इसी तरह 'सींगधारी' नाटक में नेता पत्रकार शिव को सच कहने से रोकने का प्रयास करता है, धमकाता और पुचकारता है। जब वह सत्य के मार्ग से नहीं हटता तो देशद्रोही ठहराया जाता है। यहां भी सत्य के मार्ग पर चलने वाले के खिलाफ सत्ता चाल चलती है। सत्ता इस प्रकार की चालें अपने विरोधियों को समाप्त करने के लिए हजारों सालों से चलती आ रही है। आज भी सत्ता इन्हीं हथकंडों को अपना रही है, भविष्य में भी अपनाएगी क्योंकि सत्ताधीश अच्छे-बुरे सभी साधनों से सत्ता में बने रहना चाहते हैं।

सीदी मौला की तरह कबीर भी सत्ताधीश के समक्ष निर्भीक खड़ा होता है।

उसे मौत का भय नहीं। कबीर हिंदू-मुस्लिम में भेद नहीं करते। सीदी मौला पूजा में रब का रूप देखते हैं। जलालुद्दीन खिलजी सीदी मौला को मौत की सजा नहीं दे सकता तो सिकंदर लोदी भी कबीर को फांसी की सजा नहीं सुना पाता। वे जानते हैं प्रजा भड़क उठेगी। जलालुद्दीन सीदी मौला का कत्ल करवाता है तो लोदी रमजनिया और कबीर के संबंधों को लोगों में फैला उसे बदनाम करना चाहता है।

'कहै कबीर...' नाटक में कबीर ब्राह्मणों, मुल्लाओं, कोतवाल तथा सिकंदर लोदी से सीधा टकराता है। वह निर्भय है। छोटे-छोटे प्रसंगों के माध्यम से धीरे-धीरे कबीर के व्यक्तित्व को नाटककार उभारता है।

कलंदरों के बारे में कोई खास जानकारी इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलती। जो कुछ लिखा भी गया है वह एकतरफा है। यह सामग्री युगबोध और इतिहास की पुनर्रचना के लिए पर्याप्त नहीं है। नाटककार ने कई छोटी-छोटी घटनाओं का सहारा लिया है। प्रसिद्ध कलंदरों के फ़ारसी में रचे गीतों का (पद्यानुवाद) इस्तेमाल नाटक में किया गया है जो कलंदरों के मिजाज और व्यवहार को समझने में सहायक हुआ है।

कलंदर हमीद और उसके पिता जलालुद्दीन का जिक्र चिश्ती सिलसिले के सूफी ग्रंथों में आता है। इन चरित्रों को उभारने के लिए नाटककार ने कल्पना का सहारा लिया है।

नाटक 'कलंदर' तेरहवीं सदी के इतिहास को हमारे सामने प्रस्तुत करता है—युसुफ, मजीद, सुलेमान, सईदा, शबनम, आदि काल्पनिक पात्र हैं। अमीर खुर्द, मलिक कूची इतिहाससम्मत पात्र हैं जिनमें नाटकीयता लाने के लिए कुछ परिवर्तन किये गए हैं। तुराब और बाहरी का जिक्र भी पुस्तकों में मिलता है। तुराब का स्वभाव क्रोधी है, वह किसी की भी जान ले सकता है। उसकी इस हिंसक प्रवृत्ति को नाटक में उसकी जिंदगी के प्रारंभिक दौर से जोड़ा गया है।

'कलंदर' का एक महत्वपूर्ण पात्र बुद्धू भी काल्पनिक है। इसे विदूषक और सूत्रधार के बीच कहीं रखा जा सकता है। नाटककार ने इस पात्र को नाटक का अभिन्न अंग बना दिया है। वह नाटक की अनेक गांठों को खोलता है। वह आम आदमी का प्रतिनिधित्व करता है जो हर युग में यातना झेलता और उसके खिलाफ विद्रोह के लिए तैयार होता है।

'कलंदर' में तुराब ऐसा चरित्र है जो हर बात पर हिंसा पर उतर आता है। तुराब के अंदर की इस हिंसा के मनोविज्ञान को समझने का प्रयास भी नाटककार ने किया है। तुराब नाटक में खुद कहता है—"दस साल का था मैं और जमींदार का कारिंदा मुझे कोड़ों से पीटता गया था। जमींदार और मौलवी दूर खड़े देखते रहे थे। कोई इंसान मुझे बचाने नहीं आया था।" जमींदार और मौलवी के प्रति हिंसा

का भाव तभी से उसके अंदर बद्धमूल हो गया।

हमीद, तुराब, अबू बक्र तूसी नाटक के ऐसे चरित्र हैं जिनकी तरफ नाटककार का विशेष ध्यान रहा है। इनके चरित्रों को उभारने के लिए उसने परिश्रम किया है। चरित्रगत विशेषताओं के मनोवैज्ञानिक कारण भी प्रस्तुत किए गए हैं। 'कलंदर' नाटक के सभी कलंदर सच्चे अर्थों में कलंदर नहीं हैं। कुछ कलंदर हत्यारे, कातिल और गुंडे हैं। तुराब, मलिक कूची आदि ऐसे ही कलंदर हैं।

'सींगधारी' का प्रारंभिक प्रारूप नुक्कड़ नाटक के रूप में था। इस नाटक के कई प्रारूप बने, मंचित हुए। इसलिए इस नाटक की रचना अपने आप में इतिहास को समेटे हुए है। पहले यह 'ऐन वक्त पर' शीर्षक से संचेतना' में प्रकाशित हुआ और 'सींगधारी' शीर्षक से 'दृश्यांतर' में। प्रस्तुत नाटक का रूप पहले प्रारूप से बिल्कुल भिन्न है। अब इसमें नुक्कड़ नाटक का कोई चिह्न नहीं है। चरित्रों के व्यवहार, उनमें चरित्रगत अतर संवादों के माध्यम से ही खुलते है। संवादों मे अभिनय के विभिन्न आयाम खुलते हैं।

'नेता सींगधारी' की पुनरावृत्ति नाटक की विषय-वस्तु को स्पष्ट कर देती है। नाटक में नेताओं के मुख से मुखौटा उतारने का प्रयास किया गया है। उनकी चालों का पर्दाफास किया गया है। उनके विकराल और घिनौने रूप को प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक की प्रारंभिक पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है। ऐसे नेताओं के 'सींगों से जकड़ी जनता लहूलुहान' है।

'कहै कबीर···' तथा 'कलंदर' की तरह इस नाटक में भी आम जनता सत्ता और व्यवस्था के दमन-चक्र की शिकार है। कबीर की तरह आज अन्याय और दमन के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला कोई नहीं है। इन भयावह स्थितियों मे सभी चुपचाप जी रहे हैं और उन्हे सह रहे हैं।

'सींगधारी' में देश में व्याप्त आतंक, मारकाट को विषय बनाया गया है। व्यापार ठप्प है, दिन दहाड़े, लोग एक-दूसरे को लूट रहे हैं, हत्या कर रहे हैं। जगह-जगह कर्फ्यू लगा है। कहीं गोली चल रही है तो कहीं बम फट रहा है। इधर-उधर से जो भी खबरें आ रही हैं वे और दहशत फैला रही हैं। ऐसी परिस्थितियों में भी नेता कहता है—"सभी लोगों को साथ लेकर चलना है।" 'सभी लोगों' में वोटों की नीति साफ नज़र आती है। नेता लोगों को नाराज़ नहीं कर सकता। वह लाशों को देखकर भी यही हिसाब लगाता है कि मरने वालों में उसकी कितनी वोटें थीं।

पत्रकार नेता की बात को न मानकर तथ्यों और ब्यौरों को मेहनत से जुटाकर पेश करना चाहता है जिससे सच्चाई सामने आ सके। पर सच का सामने आना नेता के हित में नहीं है, इसलिए वह उसे धमकाते हुए कहता है—"बच्ची है, कहीं फंस-फंसा जाएगा। जानते हो आए दिन मुठभेड़ें होती हैं। अभी कल पांच

आतंकवादियों का सफाया हो गया—पुलिस मुठभेड़ों में।"

सच कहने वाला, निर्भीकता से लिखने वाला व्यक्ति नेता की दृष्टि में किसी भी आतंकवादी से कम नहीं है। इसलिए ऐसा व्यक्ति कभी मुठभेड़ में मारा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति नेता के स्वार्थपूर्ण मार्ग में बाधक हैं। वही नेता 'शांति मार्च' की व्यवस्था में व्यस्त है। मुठभेड़ के साथ 'शांति-मार्च' का चित्रण नेता के दुहरे-तिहरे व्यक्तित्व को हमारे सामने उघाड़ता है। हम समझ जाते हैं कि नेता मुखौटाधारी है। पत्रकार शिव के अनुसार "एक साथ कितनी बातें करता है और कितनी आवाज़ें निकालता है—पुचकार, धमकी और डर की मिली-जुली आवाज़ें।"

'सींगधारी' में जगह-जगह गोली चलती है। लोगों के मरने, चीखने की आवाज़ें आती हैं। प्यारेलाल ने दस लोगों की लाशों को अपनी आंखों के सामने गिरते देखा है। वह उस सदमे से ग्रस्त है। लगता है वह अपना मानसिक संतुलन खो बैठा है। 'नो मैंस लैंड' के सभी पागल ऐसे ही सदमों का शिकार हैं। सांप्रदायिक दंगे दूसरे दृश्य में ही घटित होते हैं। देश विभाजन के पीछे भी इन्हीं सांप्रदायिक दंगों का हाथ रहा था।

नेता जानता है कि पत्रकार शिव जैसा व्यक्ति उसका कभी भी अहित कर सकता है, इसलिए शिव पर हमला होता है, पर प्यारेलाल उसे बचा लेता है। शिव कहता है—"गुंडों का राज, पुलिस तकती रही, बेहयाई से, ओह क्या दिन आ गए हैं।" पर वह नेता है। उसके हाथ में ताकत है। ताकत के बल से वह असंभव को संभव कर सकता है। शिव के सामने गोली चली जिससे एक बच्चा जख्मी हुआ। पर नेता सिद्ध कर देता है कि बच्चा है ही नहीं। हर स्थिति को ऐसे नेता अपने पक्ष में कैसे ढाल लेते हैं, नाटककार इसी ओर संकेत करता है। वर्तमान राजनीति पर नाटककार गहरा व्यंग्य करता है।

पूरे देश में हो रहे सांप्रदायिक दंगों के पीछे राजनीति का हाथ है। पत्रकार शिव कहता है—"पर जहां तक हाथ की बात है, वह नेता का ही है। इस हाथ को मैंने भिवंडी में देखा है, असम में देखा है और अब पंजाब में···।"

'सींगधारी' के अधिकांश पात्र डरे-सहमे हैं। उन्हें ऐसा महसूस होता है कि मौत उनका पीछा कर रही है। जसवंत, तरसेम से कहता है—"तू कुछ भी कर, कहीं भी जा, गोली पीछा करती रहेगी।"

'सींगधारी' राजा की कथा आज के राजनेताओं के सिर पर सींगों की कथा है जिसे नेता सुनना नहीं चाहते अर्थात् वास्तविकता, यथार्थ से मुंह मोड़े हुए हैं। यह राजनीति स्वार्थ की राजनीति है। इससे प्रजा का हित नहीं केवल निजी हितों को महत्त्व दिया जा रहा है। नेता अपने स्वार्थ के लिए लोगों को फांसी की सजा दिलवा सकता है, पुलिस मुठभेड़ में मरवा सकता है, जगह-जगह दंगे करवा सकता है। उसके खिलाफ जो भी बोलने का साहस करता है उसकी आवाज को कुचल दिया

जाता है। गांधी के विचारों को ओढ़कर राजनेता जगह-जगह हिंसा फैला रहे हैं।

नाटक के लेखन के साथ मंचन जुड़ा हुआ है। मंचन के साथ निर्देशक का जुड़ाव लेखक की अपेक्षा अधिक होता है। नाटककार जब नाट्यलेख तैयार करता है तो मंच की आवश्यकताओं और सीमाओं को भी ध्यान में रखता है। इसलिए नाटक के प्रारूप में मंचन के अभ्यास के साथ-साथ पर्याप्त परिवर्तन आता है। इसे नाटककार ने अपनी भूमिकाओं में स्वीकार भी किया है।

नाटक की शक्ति उसके संवाद और अभिनेताओ का अभिनय है। अच्छे अभिनेता अपनी अभिनय कुशलता द्वारा संवाद को मूर्त कर देते हैं। अनुभवहीन अभिनेता अच्छे-से-अच्छे संवाद को भी प्रभावहीन कर देते हैं। इसलिए नाटक के बार-बार मंचन के साथ ही उसकी कमियां या खूबियां उभरती हैं।

निर्देशक नाटक के मंचन के लिए किस शैली को अपनाता है, इस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। देवेंद्रराज अंकुर ने 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' के मचन के लिए नाट्यधर्मी शैली और यथार्थवादी शैली को अपनाया था। यह एक निर्देशक का दृष्टिकोण है। दूसरा निर्देशक किसी अन्य शैली का सहारा भी ले सकता है। उसकी इस स्वतंत्रता में लेखक बाधक नहीं बन सकता। पर जब हम नाटक को पढ़ते हैं और यह जानने की चेष्टा करते हैं कि मंचन के लिए लेखक किस प्रकार की शैली चाहता है तब हमें गायक-गायिका की उपस्थिति की ओर ध्यान देना चाहिए। ये दोनों पात्र लोकगीत शैली का सहारा लेते हुए नाटक की विभिन्न स्थितियों, घटनाओं को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। ऐसे दृश्य नरेन्द्र मोहन के कवि और कबीर के कवि के साथ एकाकार का एहसास भी कराते हैं।

निर्देशक की संवेदनशीलता, जागरूकता तथा विषय की समझ नाटक के सफल मंचन के लिए बहुत ज़रूरी है। यदि निर्देशक कबीर के विराट व्यक्तित्व, तत्कालीन परिस्थितियों या कलंदरों की अक्खड़ता, मौज-मस्ती से भरे जीवन, उनके रहन-सहन या आज की राजनीति तथा नेताओं की काइयां हरकतों से परिचित नहीं है या मंटो के साहित्य तथा उसकी प्रकृति से परिचित नहीं है तो वह नरेन्द्र मोहन के नाटकों का मंचन नहीं कर सकता। ऐसा निर्देशक नाटक की आत्मा की हत्या ही करेगा। पर निर्देशक का चयन सदा लेखक के अधिकार में नहीं हो सकता। कोई भी निर्देशक जब नाटक का मंचन करने की इच्छा व्यक्त करता है तो नाटककार के लिए वह प्रसन्नता का विषय होता है। उस समय वह शायद और बातों के बारे में नहीं सोचता। शायद इसी कारण मैं नरेन्द्र मोहन के नाटकों का प्रशंसक होकर भी उनके मंचन से संतुष्ट नहीं हूं।

नरेन्द्र मोहन ने लिखा भी है कि "नाटक का केंद्रीय विचार वह पुल है जो नाटककार को रंगकर्मी से और रंगकर्म को दर्शकों से जोड़ता है।" पर यदि मंचन से दर्शक प्रसन्न नहीं है निर्देशक से नाटककार सहमत नहीं है तो ऐसे मंचन क

सामने प्रश्नचिह्न लगेगा ही।

निर्देशक को नाट्यालेख के शब्दों के भीतर से दृश्यों को खोजने का प्रयत्न करना चाहिए और उन्हें 'बिंबों और गतियों मे ढालना चाहिए तभी सफल मचन सम्भव हो पाता है अर्थात् जितना परिश्रम नाटककार नाट्यालेख तैयार करने मे करता है उतना ही परिश्रम निर्देशक को भी करना चाहिए।

कहै कबीर''' का ढांचा घटनात्मक है। इसी घटनात्मकता के बीच से नाट-कीयता उभरती है। इसी नाटकीयता को निर्देशक को पकड़ना और समझना है। दृश्यों का छोटा होना केवल इस नाटक की ही नहीं 'सींगधारी' की भी कमजोरी है। बार-बार मंच-सज्जा संभव नहीं। यदि किसी अन्य शैली का जैसे कि मंच को कई हिस्सों में बांटकर नाटक खेलने का प्रयोग किया जाए तो उससे नाटक के प्रभाव में निश्चित रूप से कमी आएगी। छोटे दृश्यों के कारण न तो घटनाएं ठीक से उभर पाती हैं और न पात्र। पर 'कलंदर' और 'नो मैंस लैंड' में नाटककार ने छोटे दृश्यों की रचना से मुक्ति पा ली है। 'नो मैंस लैंड' के दृश्य चारों नाटको मे अधिक लंबे तथा घटना या प्रसंग को समेटे हुए हैं। इससे चरित्र भी ठीक तरह से उभर पाए हैं।

'कहै कबीर''' नाटक के कार्य-व्यापार के क्षेत्र-स्थल कई हैं। बाजार, कबीर का घर, गंगा का किनारा, कोतवाली, दरबार आदि। इसके लिए मंच-सज्जा किस तरह से की जाए, यह अलग-अलग निर्देशकों की योग्यता और उनकी शैली पर निर्भर करेगा। दृश्य छोटे होने के कारण दृश्य परिवर्तन, मंच पर आवश्यक उपकरणों का लाना और हटाना नाटक के मंचन के साथ जुड़ी अन्य समस्याएं है। इनका समाधान भी निर्देशक की कुशलता पर ही निर्भर करता है। निर्देशक अकुर ने जो पद्धति अपनाई थी उसमें अभिनेता ही वस्तुओं को मंच पर लाते और उन्हें हटाते हैं। यह हास्यास्पद भी लग सकता है और नाटक के साथ जुड़ भी सकता है।

नाटककार ने नाटकों में 'फ्लैश बैक' का प्रयोग भी किया है। नाटकीय हरकतों को फ्रीज करके वे हमें पीछे ले जाते हैं। ऐसा फिल्मों में तो संभव है, पर मच पर इसका पालन सहज नहीं क्योंकि कुछ समय पीछे जाने का मतलब है एक अलग स्थिति, वातावरण, कार्य-क्षेत्र में लेकर जाना। फिर उस स्थिति में पात्रो के परिधान और मूड में भी अंतर होगा। ऐसा अंतर भी मंच पर नहीं दिखाया जा सकता। छोटे दृश्यों के होते फ्लैश बैक निरंतरता को तोड़ देता है। सामान्य दर्शक स्थिति के अनुरूप खुद को तुरंत ढाल भी नहीं सकते क्योंकि स्थिति के अनुरूप मच मे बदलाव उन्हें नजर नहीं आता।

जहां नाटककार ने फेंटेसी का प्रयोग किया है, वह भी मंच पर संभव नही है पर फिल्मीकरण में संभव है। कलंदर में 'अचानक अबू बक्र तूसी के हाथो मे

जलती हुई मशाल आ जाती है। लोग हैरत से सलाखों को मोम की तरह पिघलते हुए और उन्हें कवच कुंडलों में ढलते देखते हैं।' इसे मंच पर किस तरह से प्रदर्शित किया जाएगा, इसका कोई संकेत नाटककार ने नहीं दिया है।

संगीत का प्रयोग मंचन के साथ जुड़ी एक अन्य समस्या है। किसी-न-किसी रूप में चारों नाटकों में संगीत का प्रयोग हुआ है। इसके लिए संगीत निर्देशक, पार्श्व गायक आदि का प्रबंध सीमित साधनों में संभव नहीं है। 'कहै कबीर···' में कबीर के कई पदों का प्रयोग हुआ है। गायक-गायिका चरित्रों की सज्ञा ही स्पष्ट करती है कि वे गाते हैं। यदि पदों का साधारण पाठ इन चरित्रों के द्वारा किया जाता है तो वह नाटक के प्रभाव को समाप्त कर देगा।

'कलंदर' का पहला दृश्य ही ढोलक की थाप पर गाते हुए कलंदरों के साथ होता है। दूसरे दृश्य का प्रारंभ कव्वाली के साथ होता है। छठे दृश्य में गजल स्वर, लय-ताल के साथ गाई जाती है। अतः संगीत की आवश्यकता यहां भी है। यह गायन मस्ती में झूमते-नाचते कलंदर जिनके सिर और भौंहें मुड़ी हुई हैं, दाढी सफाचट है, हाथों में लोहे के कड़े हैं, मजबूत शरीर, लाल आंखें, हाथों में चिमटा आदि उनके पूरे व्यक्तित्व को हमारे सामने स्पष्ट करते हैं। साथ ही संगीत घटनाओं, प्रसंगों, अभिनेताओं के हावों-भावों को भी उभारता है, उन्हें शक्ति देता है। 'कहै कबीर···' की रमजनिया का चरित्र एक अच्छी नर्तकी ही कर सकती है। उसमें अभिनेत्री और नर्तकी दोनों की योग्यता चाहिए। अतः जहां संगीत की माग है वहां उसे कोई और रूप देने से नाटक के प्रभाव में निश्चित रूप से कमी आएगी। स्थिति हास्यास्पद भी बन सकती है। इसलिए नरेन्द्र मोहन के नाटकों का मंचन सीमित साधनों में संभव नहीं। 'कहै कबीर···' और 'कलदर' में तो राजदरबार का भी दृश्य है। उसकी भव्यता ही वास्तविक प्रभाव डाल सकती है। इन नाटकों का सीमित साधनों से किया गया मंचन न तो नाटक के साथ न्याय होगा और न नाटककारों के साथ। इसे नरेन्द्र मोहन ने अपने चौथे नाटक—'नो मैंस लैंड' में समझा है। वहां मंच एक ही है—पागलखाना जो सीमित साधनों में संभव है।

मंचन के समय रोशनी के प्रयोग की तरफ नाटककार का विशेष ध्यान रहा है। नाटकों में उसने स्थान-स्थान पर रोशनी के प्रयोग संबंधी निर्देश भी दिए हैं। 'सींगधारी' में इधर प्रकाश धूमिल हो जाता है और तीन व्यक्तियों पर केंद्रित एक अन्य स्थान पर 'मंच के एक कोने से लाल रोशनी का गोला उभरता है, लोग जख्मी पड़े दिखते हैं। रोशनी बुझ जाती है।' लेखक ने यहां जान-बूझकर लाल रोशनी का प्रयोग किया है। घटनाओं के साथ रंगों की प्रकृति और उनके प्रभाव की जानकारी जरूरी है। लाल रंग के द्वारा स्थिति की भयावहता तो स्पष्ट होती ही है साथ ही लोगों में विद्रोह के स्वर को ——— चाहता है जिससे

वे स्थिति का सामना कर सकें।

नाटक की भाषा में और कविता की भाषा में स्पष्ट अंतर है। नरेन्द्र मोहन ने स्वीकार भी किया है—'नाटक के शब्दों में, वाक्यों और संवादों में कई-कई प्रसंग लिपटे रहते हैं। ये प्रसंग एक-दूसरे के साथ टकराते हैं, नाटकीयता लाते हैं तथा संदर्भों को, चरित्रों को उघाड़कर हमारे सामने लाते हैं। ये शब्द ही सामाजिक के मन-मस्तिष्क में अपनी अनुगूंज छोड़ जाते हैं। नाटक की भाषा जब अपनी सक्रिय उपस्थिति का एहसास नहीं कराती तो वह नाटकीय कार्य का हिस्सा नहीं बनती।

नरेन्द्र मोहन कविता से नाटक में आए हैं। उनकी लंबी और कुछ छोटी कविताओं में भी नाटक बीज रूप में उपस्थित है। उन्होंने अपनी कविताओं के अंशों का प्रयोग भी अपने नाटकों में किया है। इसलिए उनका कविता से नाटक में आना स्वाभाविक है। पर यदि कविता की भाषा नाटक पर हावी होती है तो नाटक के शब्दों के साथ जुड़ी हरकतों को समुचित ढंग से पैदा नहीं किया जा सकता क्योंकि नाटक की भाषा तथा कविता की भाषा में स्पष्ट अंतर है।

'सींगधारी' में नाटककार ने लिखा है कि वह कविता के शब्दों से नाटक के शब्दों की ओर बढ़ा है। पर जब हम उनके नाटकों की भाषा का विश्लेषण करते है तो ऐसा लगता है कि वे कविता के मोह को त्याग नहीं पाए हैं। कविता के शब्दों का नाटक में प्रयोग वर्जित नहीं है, बल्कि अनेक पद्य नाटक लिखे गए हैं और सफल रहे हैं। पर शब्दों का नाटकीय स्थिति में ढलना आवश्यक है। शब्दों के साथ जब हरकत (एक्शन) जुड़ जाता है तो वे शब्द नाटक के हो जाते हैं।

नाटक में वाक्य की संपूर्णता उसकी व्यंजना शक्ति पर निर्भर करती है। कुशल अभिनेता अपने हाव-भाव, क्रिया-कलापों द्वारा उसी वाक्य को बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करते हैं जो पढ़ते समय साधारण या प्रभावहीन लग सकता है। वास्तव में नाटक के सभी पक्ष भाषा का साथ देते हैं और उसे प्रभावपूर्ण बनाते हैं। कभी-कभी अभिनेता कुछ भी न बोलकर इतना कुछ अभिव्यक्त कर देता है जो शब्दों के माध्यम से ही संभव नहीं होता। यही कारण है कि नाटक की भाषा पर बात करने से पहले उसे मंचित होते देखना जरूरी है। नरेन्द्र मोहन के सभी नाटकों को मंचित होते देखने का मुझे अवसर मिला है। मंच पर आने के बाद नाटक की भाषा भावगत संवेदनाओं के साथ जुड़ जाती है। उस समय भाषा नाटककार की न रह-कर पात्रों की हो जाती है। पात्रों का स्थान लेते हैं अभिनेता। वे अपने हाव-भाव, शब्दों को हरकतों के साथ जोड़कर भाषा को नया रूप दे देते हैं। नाटक में पात्र होते हैं अतः भाषा पात्रों की होती है, इसीलिए प्रत्येक पात्र की अपनी भाषा होती है। पात्रों की प्रकृति के अनुरूप भाषा में अंतर होना आवश्यक है।

नरेन्द्र मोहन के पहले दोनों नाटकों में भाषागत विविधता कम है। पात्रानुकूल जो बदलाव भाषा में आना चाहिए वह कम स्थलों पर दिखाई देगा। शब्द के साथ

जुड़ी भाव-भंगिमा, टोन, उतार-चढ़ाव की ओर भी लेखक का ध्यान कम गया है। भाषा के प्रयोग संबंधी निर्देश उन्होंने कहीं-कहीं दिए हैं। यदि उन निर्देशों का पालन भी किया जाए तब भी भाषा प्रभावपूर्ण नहीं बन पाती। पर 'कलंदर' की भाषा माहौल को बुनती है। उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नाटककार ने खुलकर किया है। भाषा में पात्रानुकूल विविधता भी यहां दिखाई देती है। सुराब की भाषा आक्रोश और प्रतिशोध के भाव से भरी हुई है तो सीदी मौला की करुणा से। यहां भाषा पात्र की प्रकृति के अनुरूप खुद को ढाल रही है। 'नो मैंस लैंड' का संबंध पंजाब की भूमि के साथ है। इसलिए नाटक की भाषा पंजाबी के प्रभाव को लिए हुए है। ऐसा परिवेश बुनने के लिए जरूरी भी है। इस नाटक के अधिकांश पात्र पागल हैं। पागल किस तरह की हरकतें करते है—उसे समझकर ही उनके अनुरूप भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। फिर एक पागल को दूसरे पागल से अलगाने के लिए उसकी भाषा में अंतर रखना भी जरूरी है। यह नाटक भाषा प्रयोग की दृष्टि से नाटककार की परीक्षा लेता है जिसमें वे सफल रहे हैं।

जाहिर है कि नरेन्द्र मोहन के नाटकों में इतिहास-बोध और समकालीनता-बोध 'नाट्य' का हिस्सा बनते गए है। इतिहास और समसामयिकता को उन्होंने इस तरह अपने नाटकों में संबद्ध किया है कि रचना और देखना, सृजनात्मक शब्द और दृश्य एकाकार हो गए हैं।

तनाव को समन्वित करने का नाट्य-कर्म

—श्याम आनंद

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हिंदी नाट्य लेखन पर यह टिप्पणी कि अभी भी नाट्य-लेखन लेखकों की सूची का प्राथमिक और आवश्यक अंग नहीं बन पाया है, सचमुच बड़ी अखरने वाली है। मगर हम सच से बच-छिप नहीं सकते। अपनी याददाश्त में ऐसा एक भी रचनाकार नहीं है जिसने नाटक के साथ ही परिदृश्य पर अपनी उपस्थिति दर्ज की हो। छोटे या बड़े प्रत्येक नाटककार के पीछे एक कवि या कथाकार होने की पृष्ठभूमि होती है। सच है कि किसी कवि या कथाकार का नाटक लिखने में प्रवृत्त होना नाट्य माध्यम में केवल हाथ आज-माना नहीं होता। उसके पीछे कोई गहरी सर्जनात्मक मजबूरी होती है। जिसे वह कथा या कविता में कह नहीं पाता, उसे वह नाट्य माध्यम में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। नाटक की तरफ उसका निकल आना अभिव्यक्ति के नये और सही धरातल की खोज भी हो सकती है। डॉ० नरेन्द्र मोहन के नाटक की तरफ आने के पीछे ऐसी ही सर्जनात्मक मजबूरी कार्य करती रही है।

किसी भी अध्येता के लिए नाट्य कर्म या लेखन पर विचार करना एक अलग किस्म का होता है—कविता, कहानी या किसी अन्य रचनात्मक लेखन से पृथक। किसी नाटक के ड्राफ्ट पर किस ढंग से विचार किया जाए ? चूंकि हम नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षा या अध्ययन नहीं कर रहे होते हैं अतः किसी भी स्क्रिप्ट पर कुछ भी कहना अंतिम और निर्णीत नहीं होता। ऐसा इसीलिए होता है कि आज के नाटक की सार्थकता उसके सफल मंचन में है। नाटक का लिखा हुआ रूप या उसके मंचित स्वरूप में कुछ खास अंतर तो अनिवार्यतः होते ही है। कभी-कभी चौंका देने वाला फांक भी देखने में आता है। दूसरे, नाटक के समस्तिष्क (सहृदय शब्द का प्रयोग जान-बूझकर नहीं किया जा रहा है। प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक रामगोपाल बजाज आज के संदर्भ में इसी शब्द को सही भावव्यंजक मानते हैं।) और कविता-कहानी के समस्तिष्क में एक ठोस और स्थाई अंतर है। नाटक पर लिखने से पहले कोई भी समीक्षक या आलोचक अपने को मंत्र और

दर्शक-दीर्घा के बीच होकर उसका आस्वादन करता है। मतलब यह कि सामान्यत: कविता या कविता का आलोचक भी और पाठक भी एक पाठक होता है जबकि नाटक का कोई पाठक हो, यह अनिवार्य नहीं है। इस अंतर से इसकी समीक्षा सीधे प्रभावित होती है। नाटक के मूल पाठ पर लिखने वाले समीक्षक के साथ यह खतरा हमेशा बना रहता है कि वह कहीं भटक न जाए। सोचने की बात यहां यह भी है कि भटकने की ऐसी संभावना कहीं-न-कहीं नाटक में ही होती है, जिसे 'मिस अडरस्टेंडिंग' के कारण कुछ और समझ लिया जाता है। डॉ० नरेन्द्र मोहन नाटक में ऐसी भटकनों की छूट नहीं देते।

डॉ० नरेन्द्र मोहन के चार नाटक हैं। यानी अभिव्यक्ति की खास मजबूरी से इन्हें यहाँ निजात मिली है। अपने पहले नाटक "कहै कबीर सुनो भाई साधो" का लिखना अपनी रचनात्मक मजबूरी बताते हुए वे कहते हैं कि "कबीर की वाणी और व्यक्तित्व के बारे में मैंने जो महसूस किया उसे न उपन्यास का रूप दे सकता था, न कहानी का, न लंबी कविता का, न कविता का। उसे नाटक का रूप देना मेरे लिए सृजनात्मक मजबूरी बना।" अपने दूसरे नाटक 'सींगधारी' के आमुख में भी उन्होंने बड़ी बेबाकी से इसी रचनात्मक मजबूरी को स्वीकार किया है—" 'कविता से नाटक में आना मेरे लिए एक मजबूरी रही।" तो क्या यह मान लिया जाए कि नाटकों में उनका आना सिर्फ एक सही फॉर्म की तलाश था—और ऐसे में 'तलाश' और 'हाथ आजमाना' कोई दो चीज नहीं हैं। परंतु नहीं। नाटककार की उस सृजनात्मक मजबूरी को ठीक से समझना होगा। वह स्वयं लिखता है : "कबीर की जिंदगी, वाणी, उनके समय का समाज, धर्म और राजनीतिक परिवेश मेरे सामने नाटकीय गतियों में ढलने लगे तो किसी विधा को अपनाने न अपनाने का प्रश्न कहां उठता?" यहां एक चीज गौरतलब है कि 'कलंदर' में तो नहीं लेकिन 'नो मैंस लैंड' में डॉ० नरेन्द्र मोहन एक बार फिर अपने कथ्य से अनुभूति के उसी स्तर पर जुड़ जाने की घोषणा करते हैं जहां सब कुछ नाटकीय रंग में ढलने लगता है।

'कहै कबीर...' के लिखने की वजह को तलाशते हुए स्वयं नाटककार ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि "कबीर संबंधी अनेक नाटकों खास तौर पर भीष्म साहनी के नाटक 'कबिरा खड़ा बाजार में' के मौजूद रहते हुए मैंने यह नाटक क्यों लिखा?" लेकिन नाटककार इस प्रश्न का सम्यक् उत्तर दिए बिना आगे बढ़ जाते हैं।

अपनी ही रूढ़ियों से ग्रस्त समाज, उसकी पारिवेशिक विडंबनाओं की पोल जब ईमानदारी से खोलनी हो तो भला कबीर से अच्छा माध्यम कहां मिल सकता है? कबीर का पूरा जीवन झूठ और पाखंड के विरुद्ध बिल्कुल अरूमानी भाव से खड़ा मिलता है। आज जहां हम हर तरफ से अपनी ओर फासीवादी शिकजा

बढ़ता महसूस करते हैं, लोक कल्याणकारी तथ्य के नाम पर सत्ता को हथियाए लोगों की मनमानी झेल रहे हैं, तो ऐसे में इन सभी अनर्गल बातों का प्रतिरोध करने वाली शक्ति किसी ऐतिहासिक थाती का सहारा ढूंढ़ेगी। संभवतः यही वह कारण है कि डॉ० नरेन्द्र मोहन ने कबीर संबंधी ऐतिहासिक मिथक को नाटक के रूप में, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। कबीर ने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक पाखंडों पर बड़ी निर्भयता से प्रहार किया—यह एक सर्वमान्य तथ्य है। यह एक सामान्य बात है कि कबीर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण किसी कविता या कहानी में समा नहीं पाते। इसका मुख्य कारण है एक प्रवाहमय जीवन का कबीर के यहां होना। जिस तरह नदी के प्रवाह को हम काटकर, कोई विभाजक रेखा खींचकर यह नहीं कह सकते कि यह यहां से अलग है, इसी तरह कबीर के जीवन के साथ भी लगभग ऐसा ही है। इसीलिए कबीर पर या तो कोई महाकाव्य लिखा जा सकता है या उपन्यास या फिर नाटक।

'कहै कबीर....' जनमानस के कबीर के उस अक्खड़ और आक्रामक व्यक्तित्व की रूढ़ि को तोड़ता है। नाटक से कबीर की नितांत निश्छल छवि छलककर हमारे सामने आती है। नीरू और नीमा के प्यार भरे प्रतिरोध की तो बात ही दूर, लाठी और कोड़े की मार भी कभी कबीर की आंखों में क्रोध के लाल डोरे नहीं उभार सके। कबीर को उनकी क्रोधित छवि से, जैसा कि इनके दोहों और कवित्तों से ध्वनित होता है, मुक्त कर एक सरल व्यक्ति की छवि लोक मानस में प्रतिष्ठित करना इस नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है। हालांकि, नाटक के ऊपर स्वयं नाटककार का वक्तव्य ही पर्याप्त है—नाटक को समझने के लिए। फिर भी नाटक में कबीर के वचनों, उपदेशों की पुनर्व्याख्या तो नहीं, हां उनकी सप्रसंग प्रस्तुति ने उनकी अर्थवत्ता को कुछ और सार्थकता प्रदान की है।

प्रस्तुत नाटक में नाटकीय विडंबना और कार्य-व्यापार की तीव्रता और सघनता का सफल समायोजन हुआ। शुरू से लेकर अंत तक नाटकीय परिस्थिति की अनिश्चितता कायम रहती है और नाटकीय तनाव बिना स्खलित हुए शुरू से लेकर अंत तक मौजूद रहता है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन के चार नाटकों को स्पष्टतः दो भागों में बांटा जा सकता है। जहां 'कहै कबीर' और 'कलंदर' लगभग एक कोटि में आ सकते हैं, वहीं 'सींगधारी' और 'नो मैंस लैंड' दूसरी कोटि में। नरेन्द्र मोहन के दूसरे नाटक 'सींगधारी' में राजनीतिक व्यवस्था की विद्रूपता, उसकी तिकड़में चारों ओर व्याप्त भ्रष्टाचार व सत्ता के लिए लड़ी जा रहीं अंतहीन लड़ाइयों को रेखांकित किया गया है। लोक में प्रचलित 'राजा के सिर सींग' वाली कहावत का सफलतापूर्वक रचनात्मक उपयोग किया गया है। यह निर्विवाद है कि उस नाई ने जिसने बाल बनाते हुए राजा के सींग देखे थे, लाजिमी तौर पर इस बात को पचा न

सका। उसने भागते-भागते किसी पेड़ (से ही) जाकर कह दिया कि राजा के सिर सींग। अब यह सच इतना कड़वा था कि पेड़ की पत्तियां और टहनियां तक चिल्लाने लगीं—'राजा के सिर सींग, राजा के सिर सींग'।

नाटक के प्रारंभ में ही नाटककार ने बड़े साफ ढंग से कह दिया है कि आज के नेता सींगधारी हैं, जबकि चाहिए यह था कि किसी एक पात्र के माध्यम से यह सच उगलवाया जाता और भीड़ उससे तरह-तरह के सवाल करती—बिल्कुल प्रयुक्त लोक-कथा की तरह। तभी आलेख में कसाव शुरू से अंत तक रह पाता। हां, यह जरूर है कि नाटक में कथा का कथा में संयोजन उपयुक्त है जिससे नाटक की ध्वनिमूलक और चाक्षुष रोचकता शुरू से लेकर अंत तक कायम रहती है। स्थल-स्थल पर संवादों के बीच का गैप अधिक है जिससे संप्रेषण में कठिनाई आ सकती है। यथा—जब नाई राजा के सींग देख लेता है तब से लेकर राजा की धमकी उपरांत "नहीं, मैं किसी से न कहूंगा।" नाई के इस कथन तक संवादों के बीच का गैप बढ़ सकता था।

'सींगधारी और 'नो मैंस लैंड' को एक कोटि की रचना मानने के पीछे एक और तर्क है। ज्ञातव्य है कि 'सींगधारी' एक लोक-कथा के आस-पास रचा गया नाटक है। यह लोक-कथा समान ढंग से लगभग पूरे उत्तर भारत में प्रचलित है। मिथ का रचनात्मक उपयोग बिना यह आभास दिए कि कुछ भी आरोपित किया गया है—दोनों नाटकों में समान ढंग से किया गया है। याद रहे 'नो मैंस लैंड' में रचनाकार मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' के भी मिथक बनने का साक्षी स्वय को मानते उसी मिथक का एक जबर्दस्त रचनात्मक उपयोग किया है। वैसे 'सींगधारी' की लोक-कथा अपने में ही इतना कटु व्यंग्य है कि उसके वार से सामने वाला बिना तिलमिलाए नहीं रहता। अपने नाटक के लिए अभिव्यजना की शक्ति से लबरेज ऐसी कथाओं का चुनाव नाटककार की अपूर्व रचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। अपने हाथ में रखी हुई चीज को विभिन्न कोणों से देखने का काम हिंदी में अधूरा पड़ा है जिसे कभी भगवान सिंह या कभी नरेन्द्र मोहन जैसे लोग आगे बढ़ाते हैं।

तेरहवीं शताब्दी के अंतिम दौर की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में कलंदरों की कथा का नाटकीय संघटन 'कलंदर' में नाटककार ने किया है। कलंदर स्वतंत्र रूप से विचरने वाले मुसलमान दरवेश थे, जो न तो सामाजिक रीति-रिवाजों और तौर-तरीकों को मानते थे, और न ही किसी भी तरह की धार्मिक पाबंदियों की परवाह करते थे। हिंदू पूजा पद्धति की तो बात दूर, वे नमाज और शरीअत तक के कायल न थे। कलंदर की कथा के व्याज से नाटककार ने वर्तमान समाज के जन-जीवन में व्याप्त हिंसा, दूसरों को हड़प लेने की चाह व राजसत्ता का वह अकारण भय जिसके तहत उसे हर तरफ से अपनी

सत्ता के लिए चुनौती दिख रही होती है, को बड़ी गहराई से उकेरा है। इन परिस्थितियों को व्यापक सामाजिक संदर्भ में रहते हुए कलंदर के माध्यम से एक पूरे वर्ग का विद्रोह नाटक में व्याप्त है—एक हद तक इस मिथ को तोड़ते हुए कि कलंदर तो बस कलंदर है, कोई हमीद कैसे कलंदर बन सकता है। थोड़ी सूक्ष्मता से देखें तो यह 'हमीद' कहै कबीर'' के कबीर का एक अर्थ में परिवर्तित और संशोधित रूप है। हमीद की सृष्टि की प्रेरणा नाटककार को 'कबीर' लिखते हुए ही मिली होगी।

आंतरिक मनःस्थितियों की तरह ही बाह्य जीवन स्थितियों में अनवरत चलने वाले घात-प्रतिघात को अतिरिक्त नाटकीयपन से बचाते हुए भी स्पष्टतः व्यक्त करने की क्षमता डॉ० नरेन्द्र मोहन की शक्ति है। अनेक विसंगत स्थितियों के बीच नाटकीय तनाव को शुरू से अंत तक कायम रखना सफलता का निकष है। रहस्यात्मकता का झीना आवरण जो पूरे नाटक पर तना दिखता है, मीमांसा का कारण बनता है और रोचकता बनी रहती है। हमीद को यह महसूसना कि शबनम की नजर मुझे घूरती रहती है—दोहरे अर्थ की व्यंजना करता है। एक तो यह कि चूंकि शबनम जलालुद्दीन खिलजी की मुखबिर है और हमीद में कलंदर बनने के बीज मौजूद हैं। दूसरा यह कि वह उसकी विमाता है। हमीद का बाप बूढ़ा था और हमीद स्वयं नौजवान। एक जगह, तो खुद शबनम ताजुद्दीन से इसके बारे में कहती है—''जानते हो मुझे किस नजर से देखता है ?

....

''अब मैं क्या बयान करूं। तुममें जरा भी गैरत होती तो समझ जाते।''

उसी दृश्य में हमीद भी मजीद से कहता है—''···हालांकि मेरे लिए उसका रवैया ठीक नहीं रहा—वैसा नहीं जैसा मां का बेटे के लिए···ओह···मैं बुरे ख्वाबों से घिर गया हूं।''

शुरू में ही नाटक को मंचोपयोगी इसीलिए कहा गया है कि इसकी संरचना ऐसी है कि बहुत सुविधा के साथ कहीं भी इसे खेला जा सकता है। हिंदी रंग आंदोलन को गति देने के लिए 'कलंदर' जैसे नाटकों की आवश्यकता है जो बिना अधिक ताम-झाम के किसी भी प्रकार के मंच पर खेले जा सकें।

इस नाटक की भाषा और संवाद सटीक हैं। समय और स्थान की अन्विति की कोई समस्या इस नाटक में इसीलिए भी नहीं आई है, क्योंकि नाटक को नाटक के रूप में लिखा गया है, यथार्थ के अनुकरण के रूप में नहीं।

डॉ० नरेन्द्र मोहन की सशक्ततम नाट्य कृति है—'नो मैंस लैंड'। यह नाटक अपेक्षाकृत कुछ लंबी चर्चा की अपेक्षा करता है। जैसा कि कहा गया है 'नो मैंस लैंड' टोबा टेकसिंह कहानी की नाट्य प्रस्तुति या नाट्य रूपांतरण नहीं, बल्कि कहानी से आगे जाकर इसको नाट्य रंग में ढालने का प्रयास है। नाटककार ने

नाटक के बारे में लिखते हुए स्पष्ट कर दिया है कि नाटक में मंटो की दो अन्य कहानियां क्रमशः 'ठंडा गोश्त' और 'खोल दो' से भी संकेत-संदर्भ लिए गए हैं। 'नो मैंस लैंड' का अध्ययन कई अर्थों में वाकई बहुत दिलचस्प है। दिलचस्प इसीलिए कि एक प्रौढ़ रचनाकार के यहां अपनी रचनात्मक खुराक के लिए किसी और के यहां से रसद लेनी किन अर्थों में विशिष्ट होती है।

विभाजन की त्रासदी पर मंटो की बहुत सारी कहानियां हैं। क्या कारण है कि नाटककार को अपनी रचनात्मक रसद इन्हीं तीन कहानियों से मिली? इससे पहले यह जानना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि नाटककार मंटो से ही इतना प्रभावित क्यों है? पहला प्रश्न थोड़ा परेशान करने वाला इसलिए भी है कि 'टोबा टेकसिंह' जिस कथा-भूमि पर लिखी गई है उससे दूर—सर्वथा पृथक कथा-भूमि पर है 'खोल दो' और 'ठंडा गोश्त'। हां, जाहिर है कि तीनों कहानियों की पृष्ठभूमि विभाजन की त्रासदी है। मगर 'खोल दो' और 'ठंडा गोश्त' त्रासदी के कई सचों में से सिर्फ एक ही सच को उभारती हैं। और ये दोनों कहानियां कहीं से भी एक-दूसरे की पूरक भी नहीं हैं। दूसरे प्रश्न के मद में इतना तो सर्वज्ञात ही है कि सामाजिक कटु सच्चाइयों को उघारने में शायद मंटो की सी बेबाकी और ईमानदारी की कोई सानी नहीं। अपने को तटस्थ बनाने व यथार्थ की संपूर्ण जटिलता के लुभावने चक्कर में पड़कर हमारे यहां के प्रायः रचनाकार उतने निर्भय नहीं हो पाते कि लगे किसी ने सचमुच दहकते हुए नासूर को छेड़ दिया—घाव को नंगा कर दिया। आज स्थिति की जिस निर्मम आलोचना के कारण तसलीमा नसरीन चर्चित हुई—मंटो ने यह काम अपने तईं बहुत पहले कर दिखाया था। अर्थात् नाटककार जिस सच्चाई के लिए उत्सुक है वह मंटो के यहां ही संभव है। लेखक जो कुछ भी लिखता है—हवा में नहीं लिखता। लिखने की एक ठोस और अनिवार्य वजह मौजूद होती है। डॉ० नरेन्द्र मोहन जिस वर्ग से संबद्ध हैं उस वर्ग की जातीय मांग है विभाजन या हिंदू-मुस्लिम संबंध पर लिखना।

सीधे नाटक पर बात की जाए तो यह कहा जा सकता है कि 'टोबा टेकसिंह' कहानी जहां खत्म होती है, वहां से नाटक की शुरुआत होती है। 'टोबा टेकसिंह' कहानी का अतीव ही सूक्ष्म व प्रामाणिक विकास नाटक में दिखलाया गया है। उदाहरण के तौर पर दो स्थलों को देखा जा सकता है। पहला स्थल तो वह जहां यूरोपियन वार्ड के दोनों ऐंग्लो इंडियन पागल कहानी में सिर्फ इसकी चिंता कर रहे हैं कि अब हमारा क्या होगा। क्या उन्हें डबल रोटी के बजाय कड़ी इंडियन चपाती तो जहरमार नहीं करनी पड़ेगी। कहानी की यह अंदरूनी चिंता नाटक में सतह पर आ जाती है, और वह जोर-जोर से कहता है मैं यह चपाती नहीं खा सकता, मुझे ब्रेड दो। मैं हिज मैजेस्टी से बात करता हूं। दूसरा स्थल कहानी में बिशनसिंह के खड़े होने पर सिर्फ एक टिप्पणी है कि आज पंद्रह वर्षों से, जब

से यह आया है, इसी तरह खड़ा है, जिससे इसके पांव फूल गए हैं। नाटककार ने बिशनसिंह के ऐसे खड़े होने को बिशनसिंह की खूनी स्मृतियों से जोड़कर उसका इतना जबर्दस्त उपयोग किया है कि अचानक ही कहानी में बिशनसिंह की अतार्किक व समझ में न आने वाली हरकत को एक ठोस मनोवैज्ञानिक आधार मिल जाता है। बिशनसिंह अली के यह कहने पर कि "तू कब से यहां अड़ा खड़ा है···इस तरह गिर जाएगा···" कहता है "···देख लेना मैं नहीं गिरूंगा (आवाज बदलकर) मैं गिर ही नहीं सकता। एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ, दस—धांय-धांय-धांय-धांय—एक, दो, तीन, चार, पांच, मरे—पांच लटके रहे टहनियों से···एक, दो, तीन, चार···"

'नो मैंस लैंड' कथ्य के स्तर पर सचमुच अद्भुत व्यंजनकारी नाटक है। देखने से या पढ़ने से सामान्यतः ऐसा लगता है कि पागलों पर लिखे गए इस नाटक मे नाटककार ने पागलों की मनःस्थितियों, उनकी भंगिमाओं को बहुत ही बारीक व विश्वसनीय ढंग से चित्रित किया है। ऐसी उबा देने वाली स्थितियों का इतना धैर्यपूर्वक नाटकांकन नरेन्द्र मोहन जैसे कतिपय सशक्त कलाकार से ही सभव था। गहराई से देखने पर जो चौंकाने वाला सत्य सामने आता है वह यह कि नाटक के पागल पागल नहीं हैं। उनके आपसी संवाद इतने उपयुक्त, संगत व मार्मिक दिखते हैं कि हम सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि पागल बने ये लोग हैं कौन? इसी प्रश्न पर थोड़ा और गंभीरता से विचार करने के बाद पूर्व के उस प्रश्न का उत्तर भी मिल सकता है कि नरेन्द्र मोहन ने समान कथा-भूमि वाली दो कहानियों 'खोल दो' और 'ठंडा गोश्त' मे संकेत-संदर्भ क्यों लिए।

गहन मानवीय संवेदना के सूत्र नाटक के पागलों के बीच किस ढंग से सगुंफित हैं, यह शुरू से लेकर अंत तक देखा जा सकता है। नाटक के प्रारंभ मे ही अंधा पागल गायक व बिशनसिंह को एक दूसरे की आवाज से परस्पर पहचान लेना विस्मयकारी लगता तो अवश्य है पर ऐसा है नहीं। अपनी स्मृतियों में जीने वाले इन पागलो का अपना वर्तमान ही इन्हें कष्ट या दुःख देता है। समाज की यह हकीकत है कि अपने वर्तमान में मिसफिट बैठने वाले लोगों को वह पागल करार देता है। एक व्यक्ति का अतीत वह चाहे कितना ही शानदार क्यों न हो, उसके भविष्य को अनदेखे समाज को, वर्तमान पर वह भी आत्मगत वर्तमान पर बलाघात किए जाने का विरोध न जाने कितने टोबा टेकसिंह करते रहे हैं। दरअसल, पागल जैसे दिख रहे ये लोग पागल नहीं मिसफिट करार दिए गए लोग है, जिनमें कोई बिशनसिंह है तो कोई सुराजुद्दीन। वैयक्तिक, मानसिक परिवेश मे यह बाहरी सांकेतिक खलल स्थिति की पूरी विडंबनाओं को खोल के रख देता है। पृष्ठ 19 पर बिशनसिंह और अंधे पागल गायक के बीच की बातचीत और दफेदार—एक का हस्तक्षेप फिर दफेदार—दो की टिप्पणी बहुत ही व्यंजक है।

पाठक से (दर्शक की यहां बात नहीं की जा सकती) यह अनजान नहीं रहता कि यह पागलों के बहाने अपागलों के सोच के दिवालिएपन की कहानी है।

'नो मैंस लैंड' में आजादी को एक नए कोण से फोकस किया गया है। आजादी; कैसी आजादी, किसके लिए आजादी ? इन प्रश्नों के माध्यम से नाटककार ने मूल मे जाकर हमारी सभ्यता पर चोट की है। सहसा लगता है कि यह तो एक आदिम अप्रोच है कि God made land we made countries आदिम से लगने वाले इस अप्रोच के पीछे जिन मासूम तर्कों को गढ़ा गया है वह हमारे निरंतर हिंस्र व मनुष्य होकर भी मनुष्य से दूर होते जाने का साक्षी है। एक जगह कुछ 'पागल पात्र' इस तरह बात करते दिखते हैं—

रामकिशन —पहले स्यालकोट हिंदुस्तान में था। था न ?

एंग्लो इंडियन—हां, था।

रामकिशन—तो सुन, अब वह पाकिस्तान में है।

एंग्लो इंडियन —कैसे ?

रामकिशन—बस वैसे ही —यह अक्ल से परे की बात है।

—सचमुच सियासती दांव-पेंच में न पड़ने वाले व्यक्ति के लिए देखते-देखते किसी मुल्क का बंट जाना समझ के बाहर की ही बात होती है।

आजादी या आजादी के तराने गाने वालो को उनकी संपूर्णता में नाटककार ने उकेरा है। अपेक्षा से कम कीमत पर हासिल होने वाली आजादी पुनः अपना मूल्य कैसे उगाहती है और उसके तराने गाने वालो का ऐसे में क्या हश्र होता है—नाटक में बड़े ही सूक्ष्म ढंग से दिखाया गया है। 'नो मैंस लैंड' में बिशनसिंह की उपस्थिति उसकी खालिस उपस्थिति नहीं है। वह एक व्यक्ति की मौजूदगी है—अपने तमाम खट्टे-मीठेपन को लेकर जीता हुआ। आजादी के लिए मर-मिटने वाला एक शख्स जिसे हाशिए पर (पागलखाने में) डाल दिया जाता है। बिशनसिंह का हमेशा खड़ा रहना भी समाज की चिंताओं में मरे जा रहे एक व्यक्ति का 'रेस्टलैसनेस' है।

'ठंडा गोश्त' का पात्र ईशरसिंह जो नाटक में हीरा है, का चरित्रांकन नाटककार ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक तरीके से किया है। हर जगह लाश देखना व 'नगा होने' का मतलब 'लाश हो जाना' उसकी उसी 'साइके' को दिखाता है, जिसमें एक किया हुआ अपराध आदमी का जीवनभर पीछा करता है, एक अर्थ मे हीरा हमारी आज की भारतीय पीढ़ी है। इस पीढ़ी का कौनसा ऐसा व्यक्ति है जो कश्मीर या असम के अलगाव के सवाल पर 1947 के देश विभाजन की मानसिकता के स्तर पर भावुक नहीं हो जाता।

इन सारे अभिकथ्यों को डॉ० नरेन्द्र मोहन ने जिस फार्म में ढाला है वह बहुत ही सशक्त व उपयुक्त है। नाटक में उपरोक्त अर्थ अचानक ही खुलकर सामने

नहीं आ जाते। इसलिए एक अनिश्चय का सा वातावरण शुरू से लेकर अंत तक नाटक में व्याप्त दिखता है। नाटक में कई जगह केवल शेर ही इतने प्रभावशाली हैं कि पात्रों के कहने या करने को बहुत कुछ होता ही नहीं। यथा एक जगह सभी पागल 'तू पागल, मैं पागल, हम सब पागल', के नारे लगा रहे हैं तथा पृष्ठभूमि में हिंदुस्तान-पाकिस्तान की आवाजें आती हैं। नाटककार ने अपने कौशल से जगह-जगह न सिर्फ पात्रों का काम हल्का कर दिया है बल्कि निर्देशों से भरे इस नाटक को मंचित करने में निर्देशक के लिए करने को बहुत कुछ नहीं है।

नाटक में एक और बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। चल रहे दृश्य में से पिछली स्मृतियों वाले दृश्य को निकालने के लिए नाटककार ने दृश्य को फ्रीज़ करने की जो पद्धति अपनाई है वह अत्यधिक प्रभावशाली है। हालांकि उत्तरा बावकर द्वारा निर्देशित उमराव में स्मृतियों को मूर्त्त करने की जिस टेकनीक का इस्तेमाल किया गया है शायद वह इससे कठिन और अधिक आगे का प्रयोग था। बहरहाल, नाटक के साथ यह सुविधा तो होती ही है कि मंचन के लिए इसका कोई भी ड्राफ्ट अंतिम नहीं होता। निर्देशक लेखक की सहमति से कुछ भी जोड़-घटा सकता है।

नाटक में प्रयुक्त गीत इसके रंग महत्त्व को बढ़ाते हैं। नाटक की शुरुआत ही जिस कविताई धुन में होती है वह बहुत ही प्रभावकारी है। 'किसकी है हंसी' सचमुच नाटक में एक स्तर पर इसी हंसी की तलाश भी जारी रहती है। नेमिचंद्र जैन नाटक से जिस कवितापन की खोज करते हैं, शायद वह अतार्किक नाट्य-विधान व संवादों के बीच सघनता सब कुछ इस नाटक में सहज देखा जा सकता है।

कहा जा सकता है कि यह नाटक सफल और सार्थक दोनों एक साथ है।

नाटकों का रंग-धर्म

—लव कुमार लवलीन

नरेन्द्र मोहन का लेखन-कार्य यद्यपि बहुत पहले से ही चल रहा है किंतु एक नाटककार के रूप में वे हाल के वर्षों में उभरे हैं। इनके चार नाटक सींगधारी, कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलंदर और नो मैंस लैंड़ सामने आ चुके हैं। उनके चारों नाटक प्रकाशन से पूर्व ही चर्चित निर्देशकों के निर्देशन में मंचित किए गए हैं। नाटककार नरेन्द्र मोहन के नाटक मध्ययुगीन, स्वातंत्र्योत्तर और समकालीन परिवेश को स्पर्श करने वाले हैं। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक मध्य-कालीन परिवेश में कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को युगीन समाज पर घटित एवं उसकी उपयोगिता की सार्थकता को ध्वनित करता है। 'कलंदर' नाटक भी मध्यकालीन सामंतीय परिवेश की एक घटना को आधार बनाकर लिखा गया है किंतु आज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। कलंदर मूलतः स्वतंत्रता-पूर्वक घूमने वाले मुस्लिम दरवेश थे जिनका हठयोग में तो विश्वास था परंतु ईश्वर भक्ति में वे किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार करने वाले नहीं थे। अंतिम दो नाटक 'सींगधारी' और 'नो मैंस लैंड' युगीन परिवेश की रचना हैं जो क्रमशः वर्तमान राजनीति की भ्रष्टता और भारत विभाजन के समय हुए फसादों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही नो मैंस लैंड में उन शक्तियो की ओर ईशारा किया गया है जो मानव से उसके सपने और घर छीन लेती हैं और मानवीय संबंधों को तोड़कर उसे हैवान बना देती हैं। हालांकि इस नाटक की मूल चेतना सआदत हसन मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' है परंतु यह नाटक इस कहानी का अनुवाद नहीं बल्कि संदर्भ रूप में गृहीत है। दूसरी ओर, नरेन्द्र मोहन के नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' से पूर्व कबीर के व्यक्तित्व-कृतित्व एवं उनके परिवेश को आधार बनाकर मणि मधुकर का 'इकतारे की आंख' और भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बजार में', ये दोनों नाटक लिखे जा चुके हैं। मणि मधुकर की तुलना में भीष्म साहनी का नाटक अधिक सशक्त, सुगठित, रंगमंचीय दृष्टि से चुस्त, कसा हुआ, बहुस्तरीय और कबीर के जीवन

एवं परिवेश को तीव्रता से उभारने में सफल रहा है क्योंकि इसका फलक विस्तृत और अनेक स्तरीय है। मणि मधुकर के नाटक 'इकतारे की आंख' में सामाजिक अन्याय एवं विसंगतियों के विरोध में संघर्ष करने वाले कबीर का व्यक्तित्व भीष्म जी के नाटक में किंचित् विस्तार एवं संशोधन के साथ विकसित हुआ है जबकि इन दोनों नाटकों की अपेक्षा नरेन्द्र मोहन के नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' में कबीर का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों समान रूप से अभिव्यक्त होकर चरम तक पहुंचे हैं। इसलिए पूर्व चर्चित नाटकों का पूर्ण समाहार नरेन्द्र मोहन के इस नाटक में हुआ है क्योंकि यह कृति कबीर के जीवन के हर पहलू को सतुलित दृष्टि से दिखाती है। नाटककार ने अन्यत्र यह स्वीकार भी किया है कि भीष्म साहनी के नाटक 'कबिरा खड़ा बजार में' रचना के बाद भी उनकी भीतरी अनुगूंज और घेराव को टाल सकने की असमर्थता ने ही इस नाटक की रचना करवाई है। इस प्रकार नाटककार के चारों नाटकों का कथानक तीन कालखडो मे विभक्त है और इन्हीं कालखंडों से नाट्यवस्तु का चुनाव कर उन्होंने नाटक के ढाचे में तत्कालीन परिवेश को इस प्रकार सुनियोजित रूप से पिरोया जिससे दोनों युगों की परिस्थितियां एवं परिवेश का आभास हो जाता है और आज के सदर्भ में उपयोगिता भी स्पष्ट हो जाती है। इनके नाटक मंचित होकर प्रशंसित भी हुए हैं जिनके पीछे उनकी रंगमंचीय परिकल्पना, नाट्यरचना शैली और मचीय व्यवहारों की योजना को मूल कारण स्वीकार किया जा सकता है। स्पष्ट है, इनकी नाट्य-रचनाएं इसलिए प्रशंसित और मंचन की दृष्टि से सफल हो सकी हैं कि नाटक का विषय और नाट्य वस्तु कहीं सीधी तरह और कहीं अर्थ भेद से समकालीन परिस्थितियों से साक्षात्कार कराते हैं। नाट्य-रचना की शैली एवं शिल्प नए फार्म में ढले हुए हैं जो नए प्रयोग के संकेत हैं। आज मंच पर वही नाटक मंचित होकर ज्यादा सफल हो रहे हैं जो कथ्य के स्तर पर एकस्तरीय या बहुस्तरीय या कमजोर होने के बावजूद शैली और शिल्प के स्तर पर नए और प्रयोगोन्मुख होते हैं। एक ऐसे लचीले फार्म का प्रयोग, जिससे नाट्य वस्तु और नाट्यानुभूति सरलता से दर्शकों तक संप्रेषित हो जाए और नाटकीय संरचना मे कहीं परिवर्तन न हो, आज के नाटकों की अनिवार्यता बनती जा रही है। यानी, जो नाटक रंगमंचीय दृष्टि से सृजित हैं वही मंच पर सफल होते हैं। नाटककार नरेन्द्र मोहन के सभी नाटक इस स्तर पर बहुत सफल रहे है, यह बात नाटक की संरचना एवं रंगमंचीय परिकल्पनाओं को देखकर आसानी से कही जा सकती है। कोई भी नाटक मंच पर तभी सफल माना जाता है जब नाटक का कथ्य सत्य मचीय साक्ष्य से बिंबित होकर दर्शकों तक बिना किसी बाध्यता के संप्रेषित हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नरेन्द्र मोहन के नाटक मंचीय प्रस्तुति की दृष्टि से सफल हैं क्योंकि नाटक का कथ्य दृश्यत्व ग्रहण करता हुआ नाट्यानु

भूति का संप्रेषण करता है जबकि पात्रों का अभिनय भी रंगमंचीय दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

नाट्यालोचक डॉ० नर नारायण राय की यह स्थापना समर्थित है कि हर नाटक अपना रंगमंच साथ लेकर जन्मता है। (रंगशिल्पी मोहन राकेश, पृ०26)। अर्थ यह कि नाट्यालेख में उसका दृश्य रूप भी समाविष्ट है। नाटक को दृश्यकाव्य कहने का यही कारण है कि उसमें काव्यत्व और दृश्यत्व का सम्मिश्रण है। इसलिए एक साथ श्रव्य एवं दृश्य की समान अनुभूति देने के कारण नाटक, साहित्य की अन्य विधाओं से अलग है। दूसरी ओर, जो भी नाटक लिखा जाता है वह मंच पर प्रस्तुत होने के लिए ही। इस दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि उसमें काव्यत्व पक्ष प्रधान और दृश्यत्व पक्ष गौण न हो अर्थात् नाटक का दृश्य रूप अनिवार्य है और इसकी अवहेलना -नाटक को एकांगी बना देती है। नाटक दिखाने के लिए होता है, कहने के लिए नहीं और नाटक का अंतिम लक्ष्य भी मंच पर प्रस्तुत होना ही है। इसलिए एक नाटककार के लिए नाट्यालेख मे रंगयुक्तियों का संयोजन करना आवश्यक हो जाता है ताकि श्रव्य और दृश्य माध्यम का उचित संतुलन बना रहे और नाटक का कथ्यदृश्यत्व ग्रहण करता जाए। नाट्यवस्तु को दृश्य में ढालने की प्रक्रिया नाटककार के लिए अनिवार्य है। दूसरी ओर, नाटककार जब नाट्य-रचना कर रहा होता है तो उसके मन-मस्तिष्क पर उसी प्रकार नाटक की समस्त घटनाएं, अभिनय, क्रिया-व्यापार एवं रंगमंचीय परिकल्पना घटित होती है। उसी के अनुरूप नाटककार नाटकीय कथ्य एवं घट-नाओं को दृश्य रूप में ढालने के लिए मंचीय साक्ष्य का सहारा लेता है। नाटक के वातावरण के अनुसार दृश्यबंध, नाटकीय दृश्य सज्जा और दृश्य के अनुसार तदनु-रूप अभिनय निर्देश, रंग निर्देश, बिंब एवं रंगशिल्प की योजना भी करता है। इसलिए नाटक का पहला निर्देशक स्वयं नाटककार ही होता है जिसके मानस-पटल पर उस नाटक का मंचन होता है। यही नाटक का आंतरिक रंगमंच है। नाटक के ये सारे तत्त्व मिलकर ही किसी नाटक को पूर्ण दृश्यत्व प्रदान करते हैं। सारत. प्रत्येक नाटक अपना रंगमंच साथ लेकर सृजित होता है और नाटककार की मंचीय परिकल्पना भी कथ्य को दृश्यत्व देने में सहायक होती है।

इन तमाम बिंदुओं के आलोक में कहा जा सकता है कि नरेन्द्र मोहन के नाटकों में दृश्यत्व की प्रधानता और मंचीय साक्ष्य से बिंबित होते कथ्य सत्य के दृश्य रूप मे ढलते जाने के कारण पूरी तरह से अपनी रंगमंचीयता और रंगमंचीय सार्थकता साबित करते है। रंगमंचीयता की व्यावहारिक और सैद्धांतिक दृष्टि को सामने रखकर इन्होंने नाट्य-रचनाएं की हैं, इसलिए इनके नाटक रंगमंच से जुडते हैं। हालांकि दृश्यत्व के तत्त्व इनके आरंभिक दो नाटकों में कुछ कमजोर हैं पर तीसरे नाटक में वह क्रमश: प्रखर हो गया है। इसके पीछे नाटककार को

निर्देशकों के साथ की गई बैठकें, पूर्वाभ्यास के समय उत्पन्न कठिनाइयां और उन कठिनाइयों को निर्देशकीय सलाह से दूर की सहज प्रवृत्ति ही दृष्टिगत होती है। किंतु यहीं आकर नाटककार नरेन्द्र मोहन अपने नाटकों को रंगमंच के अनुसार ढालने की कोशिश से बंध जाते हैं। अगर नाटककारों ने अपने नाटक के अनुसार रंगमंच को ढाला होता तो निश्चय ही उसका स्वरूप कुछ और होता लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि निर्देशकीय सुझाव एवं परिकल्पना से नाटकों के भीतर मौजूद उसका आंतरिक रंगमंच खुलता है। इसलिए निर्देशकीय सलाह में नाटक में दृश्यत्व उभारने के लिए यथावसर परिवर्तन आवश्यक है। अगर ऐसा नहीं होता तो मोहन राकेश जैसे नाटककार को भी निर्देशक श्यामानंद जालान की सलाह से अपने नाट्यालेख में अपेक्षित सुधार नहीं करना पड़ता। रंगमंच नाटक से बाहर नहीं होता है और न हो सकता है। प्रत्येक नाटक का रंगमंच उसके अंदर होता है, आलेख की योजनाओं में दृश्यत्व छिपा होता है। रंगमंच को नाटक से बाहर तलाश कर नाट्य-रचना करनेवाले नाटककारों के नाटक दृश्यत्व के स्तर पर इसी कारण लड़खड़ा जाते हैं। नरेन्द्र मोहन इस दोष से बचे हैं और उन्होंने नाटक में दृश्यत्व की संभावनाओं को पहले से महसूस किया है। इसलिए कथ्य को दृश्यत्व प्रदान करने की प्रक्रिया में वे अपेक्षित सतर्कता का परिचय देते हैं। अभिनय निर्देश, रंग निर्देश एवं कहीं-कहीं दृश्य सज्जा के संकेतों का अभाव प्रायः इनके सभी नाटकों में देखा जा सकता है जिससे उनका रंगमंचीय सोच उजागर नहीं हो पाया है किंतु यह अभाव इनकी नाट्य-रचना की सीमा नहीं बनी है। इनसे नाटकीय अर्थ एवं नाट्यानुभूति का सम्प्रेषण चूंकि कहीं बाधित नहीं होता, इसलिए मंचीय प्रस्तुति की दृष्टि से इनकी सफलता असंदिग्ध है। प्रत्येक नाट्य-रचना को अंतिम परिणति मंच पर प्रस्तुत होकर रंगमंचीय सार्थकता पाना होता है और इसमें दो राय नहीं कि नाटककार नरेन्द्र मोहन की नाट्यरचनाएं रंगमंचीय हैं।

मंच वह स्थल है जहां नाटक अपना मूर्त स्वरूप ग्रहण करता है और दृश्य रूप में प्रस्तुत होता है। नाट्यालेख में दृश्यत्व की संभावनाएं अमूर्त रूप में होती हैं जो प्रस्तुति के समय दृश्यबंध, प्रतीक एवं उपकरण, अभिनय, क्रिया-व्यापार एवं संवाद आदि की सहायता से दृश्यत्व ग्रहण करती हैं। कथ्य को दृश्यत्व प्रदान करने के लिए अथवा कहें कि अपने नाटकों को रंगमंचीय बनाने के लिए नरेन्द्र मोहन ने उन सारे घटकों का सार्थक विधान किया है जो नाट्य-रचना के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत हैं। नरेन्द्र मोहन के प्रथम दो नाटक 'सींगधारी' और 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' दृश्यों की बहुलता और घटनाओं के बहुआयामी होने के कारण संरचनात्मक दृष्टि से जटिल हैं। कहै कबीर सुनो भाई साधो का ढांचा घटनात्मक है और संरचना की दृष्टि से यह पंद्रह दृश्यों में विभाजित है।

बीच-बीच में अंतराल द्वारा गायक-गायिका का प्रवेश भी है। सींगधारी नाटक आठ दृश्यों में विभक्त है और प्रत्येक दृश्य एक दूसरे से अलग किंतु घटनाओं की दृष्टि से परस्पर संबद्ध है। इस नाटक की मूल घटना नेता से संबंधित है और बाकी घटनाएं इसी एक घटना की पुष्टि करती हैं। सींगधारी नाटक में चार कथासूत्र और घटनाओं के कई आयाम हैं। शालू की त्रासदी फ्लैश बैक द्वारा प्रस्तुत की गई है और शेष तीन कथा प्रसंग जो क्रमश: सींगधारी राजा और नाई, सींगधारी नेता और शिव तथा भोला और संतों से संबंधित हैं, वह सीधी तरह मंच पर प्रस्तुत होते हैं। नाटक का कथ्य सींगधारी नेता और शिव की घटना से संबंधित है। शेष सभी घटनाएं इसका समर्थन करती हुई कथ्य संप्रेषण में सहायक हैं क्योंकि नाटक की तमाम घटनाओं का मूल उत्स यही घटना है और सभी घटनाएं इसी से संबंधित हैं। चार कथासूत्रों के चलते घटनाओं की बहुलता आ गई है यद्यपि वे प्रकारांतर से कथ्य को ही ध्वनित करते हैं। दूसरी ओर, नाटककार का 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक कबीर के जीवन एवं परिवेश को व्याख्यायित करता है और समकालीन, सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक जैसी युगीन समस्याओं से इसके मूल भाव को जोड़ता है। मध्यकालीन एवं समकालीन जीवन की विसंगतियों, धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता एवं सामाजिक भेदभाव को एक साथ रेखांकित करने वाला यह नाटक अपने युगीन संदर्भ में भी अपनी उतनी ही सार्थकता सिद्ध करता है। तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां इस तरह पाखंडियों एवं धर्म के ठेकेदारों से घिरी हुई थीं कि सारा समाज वर्ग भेद, असमानता, अस्पृश्यता एवं जाति-पांति के क्षुद्र विचारों से आक्रांत था। इन्हीं असमानताओं, मूल्यविहीन सामाजिकताओं के बीच कबीर का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने क्रांतिकारी व्यक्तित्व और सरस दोहों में इन विषमताओं को पिरोकर अपने मन के निश्छल उदगारों द्वारा इसका खुलेआम प्रतिकार किया। इसलिए नाटक की मूल घटना कबीर के व्यक्तित्व के आसपास ही घूमती है। समग्रत: इस नाटक में कबीर के परिवेश और उनके कृतिकार व्यक्तित्व को उभारा गया है। नाटक का कथ्य तत्कालीन सामाजिक भेदभाव, धार्मिक संकीर्णता एवं वर्ग को स्पष्ट करना है।

सींगधारी नाटक में कथावस्तु के दो आयाम हैं। राजनीति और नेता की कथा के साथ ही आनुषंगिक रूप से सींगधारी राजा और नाई की कथा भी कुछ दूर तक साथ चलती है। इसलिए इन कथासूत्रों से वर्तमान राजनीति और राजनेताओं की पाशविक प्रवृत्तियों को दृश्यत्व मिला है। नाटक का कथ्य समसामयिक राजनीतिक छल-कपट, प्रपंच, भ्रष्ट नेताओं के साथ मध्यवर्ग के लोगों की साझेदारी और राजनीति की इस अथाह खाई में डूबते आम आदमी की स्पष्ट व्याख्या है। नाटक के आरंभ का गीत इसी आशय की पुष्टि करता है जबकि बाद में आए

गीत भी दृश्य बिंब बनाने में सहायक हुए हैं। नेताओं की स्वार्थांधता, उसके भीतर छुपा उसका घिनौना एवं विकृत रूप, उनके इशारे पर आतंकवादियो का उपद्रव, लोगों की हत्याएं और निर्दोष नागरिकों को अपने जाल में फंसाकर उस पर झूठे आरोप लगाकर परेशान करने की साजिश इस नाटक का कथ्य है। पत्रकार शिव का इस सड़े माहौल एवं नेताओं के प्रति वितृष्णा का भाव स्वाभाविक है किंतु राजनीति के मजबूत शिकंजे से वह बच नहीं पाता। सींगधारी नाटक नेताओं के इसी मुखौटाधर्मी चरित्र को नंगा करता है। अपने इसी चरित्र के कारण नेता सींगधारी है, जो सत्ता से जुड़े ऐसे सभी नेताओं की चारित्रिक पहचान है। यह यथार्थ की विडंबना और त्रासदी है। नाट्य प्रस्तुति के बाद यह नाटक कई प्रश्न खड़े करता है। ऐसा क्यों होता है कि कोई यदि राजनेताओं का भीतरी चरित्र जान लेता है तो वह पुलिस की मुठभेड़ में गोली से मारा जाता है अथवा आतंकवादियों द्वारा मरवा दिया जाता है या शांति मार्ग में भगदड होने से कुचल कर मर जाता है। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक के कथ्य को रंग रचना के रूप में ढालने के लिए नाटककार ने तत्कालीन परिवेश और उसके अनुसार घटनाओं का संयोजन एवं पात्रों का चुनाव किया। नाटक के पात्र इतिहास के जीते-जागते पात्र हैं और वे नाटककार की दी हुई जिंदगी जीते हुए भी अपनी पारिवेशिक विसंगतियों से लड़ने वाले मस्तमौला एवं जुझारू पात्र हैं। कबीर और नाटक के अन्य सभी पात्र अपने परिवेश की जिंदगी जीते हैं। नाटककार की दी हुई जिंदगी जीने के लिए वे बाध्य नहीं हैं क्योंकि नाटक का परिवेश और घटना दोनों ही मध्ययुगीन हैं।

रंगमंचीय दृष्टि से ये दोनों नाटक बहुत सफल नहीं हैं। दोनों नाटकों मे घटनाओं की बहुलता और एकाधिक कथा प्रसंगों का साथ-साथ चलना नाटक के कथ्य को प्रभावित करता है। इन दोनों ही नाटकों में कुछ कमजोरियां समान हैं जो रंगमंचीय दृष्टि से घातक हैं। 'सींगधारी' नाटक में चार कथासूत्र और लगभग इतनी ही घटनाएं चित्रित है तो 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक में भी घटनाओं के कई आयाम हैं जिनसे कबीर के व्यक्तित्व को तो समर्थन मिलता है पर प्रभाव खंडित होता है। इस नाटक की समस्त घटनाएं बाजार, कबीर के घर, गंगा का किनारा और दरबार आदि जगहों में घटित होती हैं। सींगधारी नाटक मे भी दृश्यों का वैविध्य बना रहता है। बार-बार घटनाओं के परिवर्तन से दृश्यत्व बाधित हुआ है। दोनों नाटकों में आए प्रसंग अनावश्यक तो नहीं हैं किंतु कथानक के बिखराव एवं एकाधिक घटनाओं के कारण बार-बार दृश्य परिवर्तन से नाटकीय कसाव का ढीलापन आद्यंत महसूस होता है। इसलिए नाट्य प्रस्तुति में अपेक्षित सतर्कता की जरूरत है। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक पंद्रह दृश्यों में विभाजित होने और घटनाओं की बहुलता से परस्पर असंबद्ध हो जाते हैं क्योंकि एक

दृश्य की घटना बाजार में घटती है तो अगला दृश्य कबीर के घर में। फिर भी दोनों नाटकों में एक समान लयात्मकता है जिससे नाट्यानुभूति का संप्रेषण बाधित नहीं हुआ है किंतु दृश्यों को कम कर एकाधिक घटनाएं एक ही दृश्य में दिखाई जातीं तो नाटक का स्वरूप कुछ और होता एवं उसकी संरचना भी भिन्न होती। दोनों नाटकों की घटनाओं को दृश्यत्व देने के लिए नाटककार ने मंचीय निर्देश, दृश्य-सज्जा, अभिनय संकेत एवं मंचीय व्यवहारों का परिचय दिया है। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटक का कार्य-व्यापार दो स्तरों पर चलता है। पहला, गायक-गायिका और उनके साथ के लोगों की क्रिया और दूसरा, कबीर और उनके जीवन से जुड़े लोगों के कार्य-व्यापारों द्वारा। निर्देशकीय हस्तक्षेप के कारण इस नाटक में गायक-गायिका तीन बार सामने आते हैं जो नाटकीय कथ्य को साथ लेकर आगे बढ़ते हैं। इसलिए इस प्रकरण की योजना साभिप्राय है। इसी तरह सींगधारी नाटक में भी कई स्तरों पर कार्य-व्यापार संपादित होता है। दोनों नाटकों में ध्वनि प्रभाव, प्रकाश व्यवस्था, संगीत योजना, क्रिया-व्यापार एवं रंग-निर्देश अधिक प्रबल हैं जिनसे नाटक का दृश्यत्व पक्ष मजबूत हुआ है।

'सींगधारी' नाटक में चुनाव के लिए पार्टी का दफ्तर, साहूकार का घर, विमल का घर, अदालत आदि सभी दृश्यों में कहीं-न-कहीं कमरे की दीवारें अवश्य है। इसलिए बाक्स स्टेज इस नाटक का सहायक मंच विधान है जिससे घर, दफ्तर और अंतिम में अदालत का काम भी लिया जा सकता है। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' दृश्यबंध वाला नाटक है ही नहीं, केवल संबद्ध दृश्यों को प्रतीकोपकरणों द्वारा संकेतित किया जा सकता है। क्रिया-व्यापार द्वारा मंच पर जो प्रदर्शित होता है वह भी नाटक के कथ्य की पुष्टि करता है और दृश्यत्व में सहायक होता है। कोई भी प्रसंग अथवा दृश्य नाट्यवस्तु से बाहर नहीं। अतः प्रस्तुति के समय वही दृश्यमान होता है जो नाटक का आलेख कहता है। दृश्य-सज्जा के निर्देश यद्यपि दोनों नाटकों के मुख्य-मुख्य दृश्यों में दिए गए हैं फिर भी ध्वनि एवं संगीत का दृश्य एवं घटना के अनुसार इस तरह सार्थक उपयोग किया गया है कि अदृश्य भाव भी उससे बिंबित हो जाते हैं। घोड़े के टप-टप के ध्वनि प्रभाव से घोडे के दौड़ने का और अदालत में मिल मालिक, जमींदार और साहूकार की छायाएं एक वर्ग विशेष के लोगों का राजनीति, न्याय एवं शासन से मिलकर जन-जीवन में प्रवेश करने का संकेत है। ध्वनि-प्रभाव द्वारा इस नाटक में बहुत कुछ कहा गया है। अंधेरे में दूर कहीं गोली चलने की आवाज, चीखें, सन्नाटा, बूटों की आवाज और विद्रूपतापूर्वक हंसी की आवाज आदि जैसे ध्वनि-प्रभाव से आतंकवादियों द्वारा नेताओं के इशारे पर हत्या करने, जन-सामान्य में फली दहशत एवं अमानवीयता के भाव के साथ ही नेताओं की घटिया तथा घिनौनी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश होता है। कानून एवं राजनीति की सांठ-गांठ और समाप्तप्राय दूरी को जज और नेत

के बीच प्रकाश की कौंध से दर्शाया गया है। नाटकों में ध्वनि एवं प्रकाश के अलावा दृश्य-सज्जा एवं क्रिया-व्यापार के जो निर्देश हैं उससे कथ्य दृश्यत्व ग्रहण करता जाता है। दोनों नाटकों का संगीत पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं। एक ओर जहां दोहों की संगीतात्मक अभिव्यक्ति से कबीर का अक्खड़, जुझारू और क्रांतिकारी व्यक्तित्व उभरता है वही सींगधारी नाटक में गीतों द्वारा वर्तमान राजनीति का स्वरूप स्पष्ट होता है। कबीर के संवादों से जहां तत्कालीन विसंगतियां तीव्रता से व्यक्त होती हैं वहीं गायक-नायिका के पदों एवं कबीर के दोहों से उस समय का परिवेश एवं परिस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इसलिए रंगमंचीय दृष्टि से दोनों नाटकों के गीत एवं संवाद भी नाटकीय संरचना का अनिवार्य हिस्सा है जो दृश्यत्व को उभारते हैं। मंच पर दोनों ही नाटक इन्हीं मंचीय व्यवहारों, रंग निर्देशों, सवाद एवं ध्वनि-प्रकाश व्यवस्था के साथ ही क्रिया-व्यापारों द्वारा दृश्यत्व की ओर अग्रसर होता है।

शेष दोनों नाटक 'कलंदर' और 'नो मैंस लैंड' रंगमंचीय दृष्टि से बहुत सफल हैं। नो मैंस लैंड नाटककार नरेंद्र मोहन की प्रौढ़तम नाट्यकृति है और इसमें रंगमंचीय संभावनाए इतनी प्रखर हैं कि पूरा नाटक बकवास जैसा लगने के बावजूद सूक्ष्म रूप से नाट्यार्थ और नाट्य वस्तु को ध्वनित करता है। 'नो मैंस लैंड' भारत और पाकिस्तान के बीच की वह खाली और बंजर भूमि है जहां लोग नहीं रहते। 'कलंदर' नाटक मध्यकालीन भारतीय मुस्लिम परिवेश के कलंदरों के उत्थान-पतन और उनकी जीवनगाथा से संबंधित है। तत्कालीन परिस्थितियों में कलंदरो की दुर्गति और शासन द्वारा उन्हें प्रताड़ित किया जाना शर्मनाक घटना के रूप में प्रसिद्ध है। प्रत्यक्षतः यह नाटक तेरहवी शदी के दरवेशों का दस्तावेज है, इसलिए कथ्य की दृष्टि से यह नया और चौंकाने वाला प्रयोग है जो उसकी खस्ता हाल स्थिति और फकीरी जिंदगी के अलावा उनकी धर्म विरोधी सच्ची क्रांतिकारी भावना को स्पष्ट करता है। कलंदर मूलतः फकीर थे जो अपने स्वभाव की अक्खड़ता, मस्तमौला और क्रांतिकारी व्यक्तित्व के कारण, सच्ची राह पर निडर होकर चलने और हर स्थिति में विद्रोह करने के कारण ख्यात थे। कलंदरों की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के उदय और अस्त की कथा का नाटकीय संयोजन इस नाटक में प्रस्तुत है। कलंदरों को यदि आम आदमी का प्रतीक मान लें तो यह नाटक समकालीन जीवन की अंधी दौड़ की सूक्ष्म प्रस्तुति भी है। सच्चाई के समर्थक और अपने उसूलों के लिए लड़ने वाले उन कलदरो में आज के आदमी का रूप भी देखा जा सकता है। नाटक की भूमिका से नाट्य-रचना की जो पृष्ठभूमि उभरती है उससे नाट्य प्रस्तुति को वल मिलता है और नाटक की घटनाओं का पूर्वाभास भी।

'नो मैंस लैंड' नाटक मूलतः भारत विभाजन के समय हुई उन अमानवीय

घटनाओं की व्याख्या करता है जो अब इतिहास बन चुकी हैं। यह नाटक भारत विभाजन के बाद लाखों लोगों के साथ हुए हादसे को दृश्य रूप में दिखाता है। क्रूर राजनीतिक साजिशों के तहत आम लोगों के जीवन में हुई इस असामान्य हलचल ने उनके अस्तित्व को झकझोर दिया। दोनों देशों की सरकारों द्वारा लोगों का आपसी आदान-प्रदान और परस्पर कटे हुए मानवीय संबंध ने आम आदमी के व्यवहारों और मनोदशाओं को भीतर तक असंतुलित कर दिया। दोनों नाटकों को रंगमंचीय स्तर पर सफल बनाने के लिए आवश्यक मंचीय निर्देश एवं क्रिया-व्यापारों के संकेत द्रष्टव्य हैं। 'सींगधारी' और 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नाटकों की अपेक्षा इन दोनों नाटकों में नाटककार की रंगमंचीय परिकल्पना और मंचीय व्यवहारों के साथ दृश्य-सज्जा एवं दृश्यबंध की अधिक गहरी पहचान मिलती है। नाटकों की घटनाएं मंचीय साक्ष्य से दृश्यत्व ग्रहण करती है। संरचनात्मक दृष्टि से दोनों नाटक क्रमशः दस दृश्यों एवं पांच दृश्यों में विभक्त हैं और प्रत्येक दृश्य की घटनाएं एक-दूसरे से संबद्ध हैं। कलंदर नाटक में कलंदरों की कथनी और करनी (संवाद और क्रिया) दोनों में अद्‌भुत सामंजस्य है जबकि 'नो मैंस लैंड' में संवादों का दृश्यत्व से कोई संबंध दृष्टिगत नहीं होता है क्योंकि पात्रों का एकालाप, परस्पर असंबद्ध उलजुलूल संवादों से यह नाटक भरा पड़ा है किंतु सूक्ष्म रूप से इन्हीं संवादों में कहीं-कहीं नाटक का कथ्य भी व्यंजित हो जाता है। इसलिए यह नाटक विसंगत नाट्य की अनुभूति देने के कारण एब्सर्ड नाटक जैसी रचना है। इस नाटक के दृश्य में मंच के मध्य एक पेड़ की उपस्थिति आवश्यक है जिसके आसपास पागल अपनी हरकतों और भावों से नाटकीय त्रासदी को प्रकट करते है। नाटक के दृश्यबंध से दृश्यत्व को बल मिला है। ध्वनि एवं संगीत की योजना दोनों नाटकों में है और प्रकाश एवं दृश्य सज्जा के कहीं-कहीं निर्देश भी। इस प्रकार चारों नाटकों की दृश्यत्व प्रक्रिया को देखते हुए कहा जा सकता है कि नरेन्द्र मोहन के सभी नाटक रंगमंचीय दृष्टि से सफल हैं। उनके सभी नाटकों में दृश्यों एवं घटनाओं की बहुलता देखी जा सकती है और ध्वनि एवं संगीत की अनिवार्यता भी इनके नाटकों को रंगमंचीयता से जोड़ती है। नाटककार के मंचीय निर्देशों तथा रंगमंचीय कौशल एवं परिकल्पनाओं से नाटक का कथ्य सत्य दृश्यत्व ग्रहण करता है और यही नाटक की अंतिम परिणति भी है। रंगमंचीय दृष्टि से नरेन्द्र मोहन के सभी नाटक सफल हैं और इनकी सफलता नाटकों के आंतरिक रंगमंच, नाटकीय रंग युक्तियों और रंगधर्मिता में निहित है।

नाटक की प्रस्तुति को सफल बनाने, नाटक के अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने और नाटकीय कार्य-व्यापार संपादित करने में पात्रों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। नाटक में ऐसे बहुत से अमूर्त भाव होते हैं जिन्हें अभिनेता अपने अभिनय द्वारा ही प्रकट कर सकता है। नाटक के कथ्य को दृश्यत्व प्रदान कर चरम तक ले जाने में,

नाटकीय घटनाओं की दृश्य अभिव्यक्ति करने और नाटकीय सूक्ष्म अर्थों को खोलने मे पात्रों का अभिनय बहुत सहायक होता है। इसी कारण नाटक की रंगमंचीय सफलता या असफलता का अधिकांश श्रेय अभिनेताओं को चला जाता है। नरेन्द्र मोहन के चारों नाटकों में पात्रों की अभिनय क्षमता की एक तरह से परीक्षा हो जाती है। नाटक की संरचना जटिल होने और नाटक का अर्थ कई स्तरों पर चलने के कारण अभिनय द्वारा ही नाटक का कथ्य स्पष्ट होता है। मंचीय क्रिया-व्यापार और कार्य-व्यापार का सबसे आवश्यक तत्त्व अभिनय ही है। नाटककार शब्दो के द्वारा अपनी नाट्य-रचना करता है और पात्र नाटककार द्वारा लिखित संवादो और रंग निर्देशों को अपने अभिनय द्वारा अक्षरश: प्रस्तुत करता है। वह नाटककार द्वारा सृजित पात्र की भूमिका कर उन्हीं संवादों और रंग संकेतों को मूर्त रूप देकर जीवंत बनाता है। अभिनेता सिर्फ अभिनय ही नहीं करता अपितु उसे अपनी योग्यतानुसार अभिनीत भी करता है। इसलिए अभिनेता मंच का वह क्रियाशील पात्र होता है जो नाटककार के दिए रंग निर्देशों का पालन करते हुए दृश्य एवं श्रव्य माध्यमों से नाटक में जान डालता है। नाटक के पात्र अपनी आंगिक एवं वाचिक चेष्टाओं, वेश-भूषा, भाव, मुद्रा और लय का ऐसा संयोजन करते हैं जिससे नाट्य-वस्तु, नाटकीय घटना एवं कथ्य मंच पर दृश्यता ग्रहण करती है। इसलिए रंगमच पर पात्रों का अभिनय नाटकीय सफलता की कुंजी है। नरेन्द्र मोहन के सभी नाटको को अद्यांत देखने के बाद स्पष्ट होता है कि पात्रों की भीड़ इनके नाटकों की प्रधान युक्ति है। सींगधारी नाटक में तेईस पात्रो की भूमिका रखी गई है जो घटना-नुसार एकाधिक चरित्रों का निर्वाह भी करते हैं। इस नाटक के मूल पात्र नेता, पत्रकार शिव और प्यारेलाल हैं जिसमें प्यारेलाल की भूमिका आद्यंत है। अभि-नय की दृष्टि से सींगधारी नाटक के नेता और पत्रकार शिव की भूमिका नाट्यार्थ से संबंधित होने के कारण कुछ अहम् हो जाती है। नेता का स्वभाव, उसकी हसी, बोलने का ढग और सांत्वना भरे शब्दो में पुचकारने का अंदाज नेता की भूमिका मे आए अभिनेता के लिए आवश्यक है जबकि सामाजिक विसंगतियों और नेता के प्रति वितृष्णा का भाव लिए समाज के बारे में चिंतित शिव का अभिनय भी अपनी विद्रोहात्मक अभिव्यक्ति के कारण गंभीर हो जाता है। नाटक के शेष पात्रो के अभिनय के लिए आवश्यक अभिनय संकेत रंग निर्देश एवं क्रिया-व्यापार संबधी निर्देश दिए गए हैं। निर्देशों के अनुसार अभिनय सफल है, अत: नाटक की सफ-लता भी तय है।

'कहे कबीर सुनो भाई साधो' कबीर के व्यक्तित्व एवं परिवेश से संबंधित है। सारी नाटकीय घटना, कथ्य और क्रिया-व्यापार कबीर के आसपास ही घूमते हैं। स्पष्ट है, नाटक में कबीर का व्यक्तित्व प्रधान होगा। कबीर की भूमिका कर रहे अभिनेता के लिए कबीर की तरह विद्रोही, अक्खड़, क्रांतिकारी एवं मस्तमौला

व्यक्तित्व, समाज की हर बुराई के प्रति विरोध करने की उत्कंठा और अन्याय एवं विसंगतियों को देखकर अनायास ही मुंह से दोहे निकल जाने की स्वतः स्फूर्त एवं सहज प्रवृत्ति का गुण अपेक्षित है। कहीं भी अभिनय की गलती नाटकीय कथ्य एवं कबीर के व्यक्तित्व को प्रभावित कर सकती है। अतः कबीर की भूमिका की सफलता उनके व्यक्तित्व के पूर्ण अंगीकार में निहित है। इस नाटक में चौतीस पात्रों को भूमिका दी गई है जिसे हल्के वेश परिवर्तन द्वारा सोलह पात्रों की मदद से मंचित किया जा सकता है। इतने पात्रों की भूमिकाओं से अभिनय का अवसर निकाल पाना कुछ कठिन सा है। कबीर और लोई की भूमिका कर रहे पात्र किसी दूसरी भूमिका में नहीं उतरते। सभी पात्रों के अभिनय के लिए अभिनय संकेत दिए गए हैं। क्रोध एवं दुख, चेहरे पर निर्द्वंद्वता एवं अंतर्द्वंद्व, दहशत के भाव आदि जैसे आंतरिक भाव की परिणति पात्र अपने अभिनय से कर सकते हैं। इसके अलावा कई और अमूर्त भावों के संकेत हैं जो अभिनय द्वारा ही व्यक्त हो सकते हैं जिनमें कोतवाल का हंसते-हंसते अचानक गंभीर हो जाना, सिकंदर लोदी की आवाज में स्वाभाविक कठोरता, दहशत से बिजली खां के मुंह से बोल न फूटना, नीरू और नीमा की बेचैनी, मुद्राओं से बातचीत का अंदाज और लोई के जेहन में कुछ कौंधना जो उसकी भाव मुद्रा से झलकने लगता है, इत्यादि जैसे अभिनय संकेत नाटक के अभिनय पक्ष को मजबूत आधार देते हैं। ऐसे अभिनय सहज भी है और पात्रों के लिए स्वाभाविक एवं अपेक्षित भी। अभिनय पक्ष को सबल बनाने के लिए क्रिया-व्यापार की योजना नाटककार की अन्य युक्ति है जिससे भाव एवं अभिनय पुष्ट हुआ है। संपूर्ण नाटक में एकाध दृश्यों को छोड़कर बोधन और बिजली खां हमेशा कबीर के साथ सत्संग में रहते हैं। अतः कबीर के प्रभाव से उनके व्यक्तित्व एवं अभिनय में वैसा ही स्वाभाविक गुण आवश्यक है। इसलिए रंगमंचीयता एवं अभिनय की दृष्टि से यह नाटक प्रभावी एवं सफल है।

'कलंदर' नाटक चूंकि तेरहवीं शताब्दी के एक खास किस्म के फकीरों के जीवन से संबंधित है, अतः अभिनय में उनकी तरह का मस्तमौलापन, फक्कड़, अक्खड़ मिजाज, क्रांतिकारी, विद्रोही एवं जिंदगी जीने का एक अलग अंदाज का अंश आना आवश्यक है। इस नाटक का केंद्रीय पात्र हमीद है जिसमें कलंदरों जैसी विद्रोही प्रवृत्ति, सच्चाई के लिए मर मिटने का जोश, दबंग तथा शांत व्यक्तित्व का पूर्ण समाहार है। अन्य कई पात्रों में बुद्धू, संवेदी मौला, तुराब और अबू बक्र तूसी का अभिनय भी नाटक में महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है। इस नाटक में बुद्धू न सूत्रधार है और न विदूषक ही। अतः उसका अभिनय इन दोनों चरित्रों के मध्य विकसित हुआ है जो नाटकीय अर्थों को खोलने में सहायक है। नाटक में कुल चौबीस पात्रों की भूमिका दी गई है किंतु मंच पर यह नाटक सत्रह पात्रों द्वारा भी मंचित हो सकता है। प्रत्येक कलंदर की भूमिका कर रहे पात्र की वेश-भूषा एवं

अभिनय में फकीरी अंदाज, संवाद बोलने में उर्दू फारसी के शब्दों का सही उच्चारण और कार्य-व्यापार संपादित करने में एक अद्‌भुत लगनशीलता अपेक्षित है। मीदी मौला और हमीद का चरित्र इस नाटक में विशिष्ट है और अन्य पात्रों का अभिनय भी भूमिका के अनुसार कम महत्त्वपूर्ण नहीं। अभिनय की दृष्टि से नाटक का प्रत्येक पात्र सफल भूमिका कर सकता है क्योंकि अभिनय की जटिलताएं नहीं हैं।

'नो मैंस लैंड' नाटक पागलखाने से शुरू होकर वहीं विस्तार पाता है। बिशनसिंह, भजनसिंह, सिराजुद्दीन और हीरा जैसे पात्रों का अभिनय जरूर जटिल है किंतु अभिनेता अपने प्रयासों से भूमिका के अनुरूप अभिनय को ढाल सकते हैं। पूरे नाटक में पागलों का वातावरण प्रबल है। अभिनय कर रहे पात्रों के लिए उसी के अनुरूप कार्य संपादित करना, बोलते-बोलते बहक जाना और पागलों जैसी हरकतें करना, ऊटपटांग बातें करना और कार्य करते-करते पेड़ पर चढ़ जाना—यानी, पागलों की सारी हरकतें जरूरी हो जाती हैं क्योंकि पागलपन के इसी अभिनय से नाटक का अर्थ और कथ्य व्यंजना के स्तर पर संप्रेषित होता है और कथ्य के अनुरूप वातावरण का निर्माण हो पाता है। पागलों के असंबद्ध आलापों और हरकतों से ही नाट्यार्थ खुलता है और नाटकीय घटनाएं आगे बढ़ती हैं। पागलों की भाषा मूलतः हरकतों की भाषा होती है। अतः उसका अभिनय उसकी हरकतों में निहित है। नाटक में बीस पात्रों की भूमिका दी गई है जो मंच पर भी इतने ही पात्रों से प्रस्तुत होता है। इस नाटक में संवाद अधिकांशतः सपाट कथन बनकर रह गए हैं जिनके बीच से अभिनय को उभारने के लिए अतिरिक्त सतर्कता की अपेक्षा है। अभिनय की सतर्कता एवं ताजगी नाटकों के अभिनेताओं और नाट्य प्रस्तुति दोनों के लिए आवश्यक है।

नरेन्द्र मोहन रंगमंचीय दृष्टि से एक प्रयोगधर्मी नाटककार के रूप में सामने आते हैं जिनकी शक्ति शैली और शिल्प विधान में है किंतु विस्तृत रंग-निर्देश न देने की उन्होंने सतर्कता बरती है। इसके पीछे मुख्य रूप से उनकी दृष्टि निर्देशक और अभिनेता को स्वतंत्र छोड़ देने की रही है। नाटककार ने निर्देशक और अभिनेता को नाटकीय संरचना में बांधा नहीं है अपितु उन्हें नाट्य प्रस्तुति में प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से छूट दे रखी है। इसलिए नाटक में इन दोनों की भागीदारी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। नाटकों में जो निर्देश द्रष्टव्य हैं वे वस्तुतः दृश्य-सज्जा, कहीं अभिनय संबंधी और कहीं वेश भूषा संबंधी ही, ताकि प्रस्तुति के समय दृश्य निर्माण एवं भाव संप्रेषण में मुश्किल न हो। बाकी, नाटक की सारी जिम्मेदारी निर्देशक पर छोड़कर नाटककार ने अपने को दायित्वमुक्त कर पृथक ही रखा है। नाटकीय सफलता के लिए यह आवश्यक है कि नाटक पर नाटककार का व्यक्तित्व हावी न हो और न निर्देशक का। आरंभ के दोनों नाटकों में श्रव्यता की प्रधानता

देखी जा सकती है किंतु बाद के दोनों नाटकों में श्रव्य और दृश्य, दोनों को समान अभिव्यक्ति मिली है। ध्वनि, संगीत एवं प्रकाश के प्रयोग इनके नाटकों में बहुत प्रभावी रहे हैं। पात्रों के रूप एवं वेशविन्यासादि के निर्धारण में गहरे रंगमंचीय कौशल का परिचय 'कलंदर' नाटक से मिलता है। नाटक की मंचीय परिकल्पना दृश्य विधान में स्पष्ट होती है। दृश्यों के मुताबिक दृश्यबंध के निर्माण के लिए निर्देशक स्वतंत्र हैं। इसलिए इनके नाटकों की प्रस्तुति में निर्देशक प्रधान है। संवाद-योजना मंचीय व्यावहारिकता लिए हुए है। इस दृष्टि से नाटककार नरेन्द्र मोहन के सभी नाटक सफल हैं क्योंकि भाषिक कठिनाइयों और जटिल संवादों से नाटक की प्रस्तुति पर प्रभाव पड़ता है लेकिन चर्चित नाटक इन सीमाओं से बचे हैं। भाषा और संवाद योजना क्रमशः परिवेश और हरकतों के अनुसार नाट्यार्थ के दृश्य बिंब गढ़ते चलते हैं। अभिनय के अवसर संवादों के बीच से उभरते हैं।

रंगमंचीयता की दृष्टि से नरेन्द्र मोहन के नाटक गहरी संवेदना उत्पन्न करते है। रंगमंच की व्यावहारिक एवं व्यापक अवधारणा के अंतर्गत नाट्यालेख से नाट्य प्रस्तुति तक की सारी प्रक्रिया आ जाती है और इन सारी प्रक्रियाओं से गुजरते हुए नाटककार के सभी नाटक रंगमंचीय सार्थकता पाते हैं। नरेन्द्र मोहन ने अपने नाटकों के लिए जिस मंच की कल्पना की है वह मुक्ताकाशी भी है और मंच पर प्रस्तुत होने वाला भी, किंतु इस परिकल्पना में दृश्यों की बहुलता उनकी बाधा है। गहरे रंगानुभव से जुड़े होने के कारण नाटककार की रंगमंच विषयक धारणा अधिक स्पष्ट है। सभी नाटकों के पूर्वाभ्यास से प्रदर्शन तक निर्देशकों के साथ स्वयं नाटककार भी उसके साक्षी रहे हैं फिर भी नाटकों में कहीं न कहीं रंगमंचीय कमजोरियां रह गई हैं। 'कलंदर' नाटक में इसका उदाहरण द्रष्टव्य है जब अबू बक्र तूसी अचानक अपनी शक्तियों का साक्षात् प्रदर्शन करता है। यह दृश्य अत्यधिक नाटकीय हो जाने के कारण कुछ असामान्य सा लगता है। पूर्वाभ्यास के दौरान क्या ऐसी असामान्य मंचीय क्रिया सहजता से संपादित हो गई अथवा, बिना किसी व्यवधान के क्या मंच पर ऐसा दृश्य दिखाया जाना संभव है ? 'सींगधारी' और 'नो मैंस लैंड' में भी कहीं-कहीं अति नाटकीयता का पुट आ गया है।

नरेन्द्र मोहन मूलतः कवि रहे हैं। उनके सभी नाटकों में कविता की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखी जा सकती है। कवि अंतर्मुखी होता है और नाटककार अपने भीतर से बाहर आता है। अनुभूति के धरातल पर ये दोनों प्रक्रियाएं परस्पर विरोधी हैं। इस विरोधाभास से होकर गुजरते हुए मंचीय दृष्टि से सफल नाटकों की रचना कर लेना, वास्तव में नरेन्द्र मोहन को प्रशंसा का अधिकारी बना देता है। यह सही है कि इनके अलग-अलग नाटकों में अलग-अलग सीमाएं भी हैं, पर उन सीमाओं को प्रस्तुति के धरातल पर पार किया जा सकता है, यह बात उनके नाटकों के सफल मंचनों से साबित हो चुकी है।

पंचम खंड

आलोचना-दृष्टि एवं समग्र मूल्यांकन दृष्टि

नरेन्द्र मोहन के आलोचकीय सरोकार

—डॉ० हरदयाल

नरेन्द्र मोहन की पहली प्रकाशित पुस्तक है 'आधुनिक हिंदी काव्य में अप्रस्तुत-विधान' (1972)। यह डॉ० रमेश कुंतल मेघ के निर्देशन में लिखा गया उनका पी-एच० डी० का शोधप्रबंध है। इस शोधप्रबंध के संदर्भ में उन्होंने जिन लोगों के प्रति अपना आभार व्यक्त किया है, उनमें से एक डॉ० इन्द्रनाथ मदान हैं। इन तथ्यों का उल्लेख हम विशेष प्रयोजन से कर रहे हैं। इन तथ्यों से एक बात यह स्पष्ट होती है कि आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने भी उसी प्रकार चरण-निक्षेप किया जिस प्रकार कोई भी अध्यापक करता है, लेकिन इस शोध-प्रबंध का अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति अनुभव करेगा कि नरेन्द्र मोहन एक या दो शोधप्रबंध लिखकर ही चुक जाने वाले और शोध को बहुत बड़ी उप-लब्धि मानकर अहं में फूलकर कुप्पा हो जाने वाले अध्यापक नहीं हैं, अपितु उससे कुछ अधिक हैं। उन्होंने अपने शोधप्रबंध में शोध के अनुशासन का पालन किया है ; अप्रस्तुत विधान का व्यवस्थित अध्ययन भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर किया है ; साथ ही उन्होंने अपनी भावी आलोचकीय प्रतिभा का परिचय भी दिया है। क्या इसी कारण कि उन्होंने शुरुआत तो की अकादमिक और शास्त्रीय आलोचना से और 1991 में 'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' की घोषणा कर दी। इस घोषणा की आवश्यकता संभवत: उन्हें इसलिए पड़ी कि वे केवल आलोचक ही नहीं, रचनाकार भी हैं। कविता और नाटक के क्षेत्र में उन्होंने अपनी पहचान बनाई है। उनके साहित्यिक विकास का निकट से अध्ययन करने वाले पाएंगे कि उनके रचनाकार और आलोचक के बीच द्वंद्वात्मकता बराबर बनी रही है। उन्होंने बराबर इस बात पर बल दिया है कि रचना के विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए बाह्य अथवा शास्त्रीय मानदंडों को आरोपित न किया जाए बल्कि रचना की राह से गुजरकर उसी में से मानदंड निर्मित किए जाएं। उनकी दृष्टि में आलोचना की अपेक्षा रचना अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है कि "आलोचना भी विभिन्न उपायों और दृष्टिकोणों से जिंदगी के अर्थ की

तलाश करती है रचना में। जिंदा रहने के, रचना में छिपे तरीके को, तरीके के पीछे छिपे मनुष्य को, उसके एहसास को विवेकपूर्ण ढंग से आलोचना खोलती ही नहीं है, जांचती-परखती भी है। रचना है, इसलिए आलोचना भी है।" (समकालीन कविता के बारे में, पृ० 22) उनकी इस स्थापना से असहमति की अधिक गुंजाइश नहीं है; लेकिन इतना तो इससे स्पष्ट ही है कि यह दृष्टि आलोचक की न होकर रचनाकार की है। दूसरी बात यह कि शास्त्र की अपेक्षा रचना को अधिक महत्त्व देना, उसकी राह से गुजरने की बात करने का अर्थ यह भी है कि उन पर डॉ० मदान जैसे आलोचकों का प्रभाव है; क्योंकि जब उनके आलोचकीय संस्कार बन रहे थे, उस समय वे उनके निकट संपर्क में आए। इस प्रभाव का प्रमाण उनका यह कथन भी है—"प्रश्न यह है कि समसामयिक रचना में अभिव्यक्त हो रही समकालीन चुनौतियों का सामना आलोचना कैसे करे? उसका एक सीधा-सा जवाब, जो डॉ० इन्द्रनाथ मदान अपने ढंग से देते रहे; वह यह कि रचना की राह से गुजरकर यह सामना किया जा सकता है। रचना के आधार को मजबूती से ग्रहण करने पर ही उस रचना की भीतरी दुनिया से हमारा साक्षात्कार हो सकेगा और तभी आलोचनात्मक धरातल पर उसका सामना भी। दूसरा जवाब जो पहले जवाब से जोड़कर दिया जा सकता है, वह यह कि रचना से गुजरते हुए हमें जो हासिल होता है, उसे ऐतिहासिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखें।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई, पृ० 23)

डॉ० नरेन्द्र मोहन की दृष्टि में आलोचक का कर्तव्य-कर्म क्या है, यह उनके उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है। उन्होंने आलोचक के कर्तव्य-कर्म पर अन्यत्र भी प्रकाश डाला है। आज की हिंदी आलोचना के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—"आलोचक के लिए समकालीन बोध से संपन्न होना जरूरी है तो उसके लिए यह भी जरूरी है कि वह समकालीनता को एक जीवंत परंपरा के रूप में और एक बड़े परिप्रेक्ष्य में देखे और समझे। अपनी साहित्यिक परंपरा और साहित्यिक इतिहास में अवगाहन के बिना आलोचना चमत्कृत कर सकती है पर वह रहेगी एकांगी ही। पैरवी करना, वह चाहे समकालीन प्रवृत्तियों की हो, आलोचक का काम नहीं है। उसका काम है, उन प्रवृत्तियों को पहचानना और पड़तालना; और यह तभी संभव है जब वह एक बड़े फलक पर अपनी आलोचना-वृत्ति को सक्रिय होता हुआ दिखाए; जैसे रामचंद्र शुक्ल ने दिखाया है।" (दृश्यान्तर, पृ० 223) अपनी इस धारणा के कारण नरेन्द्र मोहन गुटपरस्त और बाड़ेबादी आलोचना के विरोधी हैं। उन्होंने 'अपनी-भेड़ों और अपने-अपने चरागाहों' वाली आलोचना की एकाधिक बार आलोचना की है। इस समय हिंदी आलोचना में इस प्रकार की आलोचना के शिरोमणि आलोचक डॉ० नामवर सिंह हैं। इसलिए वे डॉ० नरेन्द्र मोहन के कटाक्ष का

विषय बने हैं। अपने एक लेख में उन पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखा है—"मुक्तिबोध ने इस छद्म और बनावटी कविता की कलई खोली और उसे गतिशील यथार्थ की वास्तविकता से जोड़ा। डॉ० नामवर सिंह, मुख्य रूप से मुक्तिबोध की धारणाओं की बदौलत आलोचक के तौर पर प्रतिष्ठित हो गए; वह दीगर बात है कि अंग्रेजी के नये समीक्षकों और रूपवादियों के तनाव, विसंगति, विडंबना आदि धारणाओं के बल पर कविता के प्रतिमान गढ़ लिए गए; कविता की दुरुहता और छद्म को भी अनुभूति की जटिलता की आड़ में खपाने लग गए और कवियों के कभी एक वर्ग, कभी दूसरे वर्ग को उठाने-गिराने में लग गए।" (दृश्यान्तर; पृ० 219-20)

डॉ० नरेन्द्र मोहन न दक्षिणपंथी आलोचना को पूर्ण मानते हैं न वामपंथी आलोचना को। "इधर की आलोचना में दो विरोधी प्रवृत्तियां दिखती हैं। एक ओर है सौंदर्यवादी-कलावादी-रूपवादी आलोचक, जो रचना की स्वायत्तता का राग अलापते हैं और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को समझना ही नहीं चाहते। दूसरी ओर मार्क्सवादी-प्रगतिवादी आचोचक है,'जिन्हें कला के समाजशास्त्रीय मूल्यों के अतिरिक्त और कुछ दिखता ही नहीं; और वे आसानी से फार्मूलों में उलझकर रचना को नजरअंदाज कर जाते हैं। इन दोनों आलोचना-प्रवृत्तियों की अपनी-अपनी असंगतियां और अंतर्विरोध हैं। मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी समीक्षा के अंतर्विरोधों को पूरी तार्किकता से अपने निबंधों में उघाड़कर रखा है। क्या अब समय नहीं आ गया है कि हम अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण और औजारों को समकालीन रचनाओं की भट्ठी में तपाकर निकालें और फिर उनकी सार्थकता और प्रासंगिकता को पड़तालें।" (दृश्यान्तर, पृ० 222)

आलोचना की इन अवधारणाओं और स्थापनाओं के संदर्भ मे अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि डॉ० नरेन्द्र मोहन ने अपनी व्यावहारिक आलोचना में इनका कहां तक निर्वाह किया है?

यहां यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि नरेन्द्र मोहन मूलतः व्यावहारिक आलोचक हैं। यदि उन्होंने कतिपय सैद्धांतिक स्थापनाएं की हैं तो प्रासंगिक रूप से। शोधप्रबंध को छोड़कर उन्होंने अपनी प्रायः संपूर्ण आलोचना फुटकर लेखों और पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में लिखी है। उनके लेखों और समीक्षाओं का विषय समकालीन कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना है। इन विधाओं में से सबसे अधिक उन्होंने कविता पर लिखा है और सबसे कम नाटक और आलोचना पर। इसलिए पहले नाटक और आलोचना की बात कर लेना उचित होगा। नाटक की आलोचना को लेकर उनका एक लेख है 'समकालीन नाटक और रंग-मंच · कुछ जरूरी पहलू'। इस लेख से स्पष्ट है कि नाटयालोचन को लेकर उनका

वही दृष्टिकोण है जो आजकल हिंदी के तथाकथित नाट्यालोचकों में प्रचलित है अर्थात् नाटक के आलेख से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है नाटक की प्रस्तुति। इस बात को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि नाटक के लिए रंगमंच अनिवार्य है। डॉ० नरेन्द्र मोहन ने इस स्थापना को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"यह बात शुरू में ही समझ लेनी होगी कि नाटक को रंगमंच से और रंगमंच को नाटक से जुदा नहीं किया जा सकता। जब ऐसा करने की कोशिश की जाती है तो न नाटक रह जाता है न रंगमंच। यह इस माध्यम की जरूरी मांग है। जो नाटककार इस मांग के अर्थ को समझे बिना यानी रंगमंचीय अपेक्षाओं को पूरा किए बिना नाट्यलेखन में प्रवृत्त होता है वह चाहे कितना अचूक 'साहित्यिक' नाटक लिख ले, सही अर्थों में उसकी कृति 'नाटक' नहीं होगी।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई, पृ० 138) नाटक मंचन के उद्देश्य से लिखा जाता है, इससे कौन इनकार करेगा, लेकिन यह मानना कि जब तक नाटक रंगमंच पर सफल न हो तब तक वह नाटक ही नहीं होगा, यह भी एकांगी दृष्टि है। अगर कोई नाटक रंगमंच पर सफल नहीं होता तो यह संभव है कि यह नाटक की असफलता न होकर रंगमंच की असफलता हो। हमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए कि अनेक नाटक रंगमंच पर तो अत्यधिक सफल होते हैं, किंतु जिनका रचनात्मक मूल्य नगण्य होता है। हिंदी के पारसी रंगमंच पर सफल होने वाले अनेकों नाटक इस बात का प्रमाण हैं। ऐसे नाटक रंगमंच की पत्रकारिता होते हैं। नाटक के बिना रंगमंच की स्थिति संभव नहीं है, जबकि नाटक रंगमंच के बिना भी संभव है। जब कोई नाटककार नाटक लिखता है तब उसकी दृष्टि हमेशा अपने समकालीन रंगमंच पर होती है। वह उसी को दृष्टि में रखकर नाटक लिखता है चाहे वह उस रंगमंच से प्रत्यक्षतः न जुड़ा हो। जो लोग इस बात को नहीं समझते वही यह कहने का साहस करते हैं कि जयशंकर प्रसाद के नाटकों में रंगमंच समाहित नहीं है। "रंगमंच उनके नाटकों की संरचना का हिस्सा नहीं है। उनके नाटकों की भाषा में क्रियात्मकता का अभाव है। उनके सामने कोई रंगमंच नहीं था, जो था यानी पारसी थियेटर कंपनियाँ, उनका उन्होंने विरोध किया। उनके नाटकों में, इसीलिए रंगमंच से जुड़ने और टकराने का प्रमाण नहीं मिलता।" (वही, पृ० 139-40) यह बिना सोचे-समझे लिखी गई बात है। प्रसाद जी के नाटकों में रंगमंच समाहित है। यह रंगमंच है पारसी थियेटर कंपनियों का रंगमंच। उस समय पूरे देश में वही रंगमंच छाया हुआ था। आज का यथार्थवादी रंगमंच तब कहीं नहीं था। उस रंगमंच का विरोध करते हुए भी उन्होंने उसी रंगमंच को ध्यान में रखकर अपने नाटक लिखे। इसलिए जब उससे भिन्न मंच पर उनके नाटकों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है तब असफलता निश्चित है। उनके नाटक रंगमंच पर सफल हो सकते हैं, यह 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' की प्रस्तुतियों ने सिद्ध कर

दिया है। प्रसाद जी के नाटकों की भाषा में जितनी सूक्ष्म नाटकीय गति है, उतनी हिंदी के कम ही नाटकों की भाषा में होगी। अब यह अलग बात है कि किसी की पकड़ में वह न आए। प्रसादजी अपने समय के रंगमंच के प्रति बहुत सचेत थे। उनका 'रंगमंच' शीर्षक निबंध इस बात का प्रमाण है। इस निबंध में उनका यह कथन समकालीन रंगमंच के प्रति उनकी सजगता और उसके साथ उनकी टकराहट को ही प्रमाणित करता है—"हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं सा हो गया। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है।" (अभिषेक-सं० रत्नशंकर प्रसाद पृ० 221) ऐसी स्थिति में यदि उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि "रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएं। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है।" (वही, पृ० 224) स्पष्ट है कि जैसे डॉ० नरेन्द्र मोहन ने जमकर नाटक लिखे हैं उसी प्रकार उन्हें नाट्यालोचन में भी जमकर काम करना होगा, तभी बात बनेगी।

आलोचना के संबंध में 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आज की हिंदी आलोचना', 'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' जैसे कुछ ही लेख लिखे हैं, जिनसे हिंदी आलोचना का उनका मूल्यांकन और उनकी अपनी आलोचनात्मक प्रवृत्ति सामने आती है। उनका आलोचना का आदर्श क्या है, इसकी ओर हम इस लेख के आरंभ में ही संकेत कर चुके हैं। यहां दो-एक बातों की चर्चा करना काफी होगा। औरों की तरह वे भी आचार्य शुक्ल को हिंदी का श्रेष्ठ आलोचक मानते हैं। उनकी आलोचना की कतिपय त्रुटियों और सीमाओं का उल्लेख करते हुए भी वे अनेकत्र उनसे सहमत हैं। सहमति का एक बिंदु उनके इस कथन में विद्यमान है—"हां, इस बात पर भी ध्यान रहना चाहिए कि शुक्लजी ने कबीर से जुड़ी तांत्रिक साधनाओं, रहस्यवाद और सिद्धांतवाद का, रीतिकाव्य से जुड़े चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य का, और छायावाद से जुड़ी अमूर्तता का विरोध किया था, जिससे आज भी कौन असहमत होगा? विचारधारा के आधार को आलोचना में प्रमुखता से ग्रहण करने वाले आलोचकों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए और इसे अपने विश्लेषण का मुद्दा बनाना चाहिए कि शुक्लजी ने कबीर की कविता के सिद्धांत-निरूपण-पक्ष का खंडन इसलिए किया था कि उसमें महज सिद्धांत-कथन था, यथार्थ के जीवंत चित्र और सघन अनुभव-बिंब नहीं थे। जो रचनाकार कविता में या अन्य किसी विधा में किसी सिद्धांत या विचारधारा का उल्था करते हैं और जो ऐसे रचनाकारों की पीठ ठोंकते हैं, उन्हें शुक्लजी के कबीर-संबंधी

मूल्यांकन पर विचार करना चाहिए। शुक्लजी ने कबीर के विचारवाद का, सिद्धांतवाद का खंडन किया है, उनके उस पक्ष का नहीं, जहां वे विचारों को कविता में ढालते हैं और उनके ज़रिये सामाजिक चेतना को अग्रसर करते हैं।" (दृश्यान्तर; पृ० 221)

डॉ० नरेन्द्र मोहन के संदर्भ में शुक्लजी के साथ उनकी सहमति का अर्थ स्पष्ट है। वे विचार के विरोधी नहीं हैं, विचारवाद के विरोधी है, यह बात उनके 'विचार कविता'-संबंधी विचारों से भी स्पष्ट है और शास्त्रीय आलोचना से विदाई-संबंधी स्थापनाओं से भी। 'विचार कविता' में वे उस विचार के पक्षधर रहे हैं जो यथार्थ जीवन के अनुभव में से आता है, जिसमें खुलापन होता है और जो किसी 'वाद' में बंधकर निर्जीव, जड़ और बांझ नहीं हो जाता। जब वे शास्त्रीय आलोचना से विदाई की बात करते हैं तब वे शास्त्र का विरोध नहीं करते हैं अपितु शास्त्र की जड़ता का विरोध करते हैं। इस विरोध के पीछे उनका तर्क यह है कि "रचना को शास्त्र के सुपुर्द कर देने या उसको मुखापेक्षी बनाने से आलोचना अपनी रचनाधर्मी सक्रियता और गत्यात्मकता खो बैठती है, जिससे न रचना को लाभ पहुंचता है न आलोचना को। समकालीन रचनाकारों और आलोचकों ने रचना और आलोचना में एक अर्थपूर्ण संबंध स्थापित करते हुए शास्त्र की रूढ़ियों का खंडन किया है।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई, पृ० 14)

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने कविता और कहानी-उपन्यास पर जमकर लिखा है। इन विधाओं पर लिखते समय उनकी दृष्टि समसामयिक परिदृश्य पर ही केंद्रित रही है। कविता के संदर्भ में समसामयिक कविता के कथ्य और शिल्प दोनों पर उन्होंने विचार किया है। 'विचार कविता' और 'लंबी कविता'-संबंधी उनकी स्थापनाएं विशेष महत्त्व की हैं। वे कविता में विचार और अनुभव दोनों को आवश्यक मानते हैं—"यह सही है कि अनुभव के आधार के बिना कविता संभव नहीं, पर यह भी सही है कि विचार के आधार के बिना कविता बड़ी और सार्थक नहीं बन सकती।" (समकालीन कविता के बारे में; पृ० 16) उनके अनुसार समकालीन कविता का केंद्रीय सरोकार विद्रोह और संघर्ष रहे हैं—"यहां यह स्पष्ट कर दूं कि कविता के सरोकारों के सिलसिले में यह बातचीत पिछले बीस वर्षों की कविता के संदर्भ में कर रहा हूं। इस दौर में वैयक्तिक धरातल पर आत्मबोध तथा निषेध तथा सामाजिक-राजनीतिक चेतना से उत्पन्न विसंगति, विडंबना और कभी-कभी निर्णय के स्वर उभरते रहे हैं, लेकिन केंद्रीय सरोकार विद्रोह और संघर्ष का है। विसंगति, विडंबना, आत्मद्वंद्व और निर्णय इसी से बिंधे पड़े हैं। आत्मसंघर्ष से होकर सामाजिक-राजनीतिक धरातलों तक संघर्षशील चेतना का विस्तार तथा विद्रोह के विभिन्न पक्ष और आयाम समकालीन कविता

के मुख्य मुद्दे बने हुए है।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई; पृ० 72)

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने अनेक समकालीन कवियों, काव्य-रचनाओं और कविताओं पर टिप्पणियां की हैं। यहां उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता और अवसर नहीं है। नोट करने की बात यह है कि इन टिप्पणियों के द्वारा उनकी काव्य-अभिरुचि और काव्य-संस्कार उभरकर सामने आए हैं। यह तब विशेष रूप से उभरे हैं जब उन्होंने तुलनात्मक आलोचना का सहारा लिया है। उदाहरणस्वरूप अज्ञेय और श्रीकांत वर्मा की इस तुलना को देखा जा सकता है—"जिस वर्ष (सन् 1967) में अज्ञेय का कविता-संग्रह 'कितनी नावों में कितनी बार' प्रकाशित हुआ था, उसी वर्ष श्रीकांत वर्मा का कविता-संग्रह 'मायादर्पण' भी आया था। दोनों कविता-संग्रहों को पढ़ने से लगता है कि अज्ञेय जहां इतने वर्षों के अंतराल के बाद भी 'तारसप्तक' के प्रकाशन-वर्ष में पांव जमाए खड़े हैं वहां श्रीकांत वर्मा 25 वर्षों की कविता-यात्रा के बाद के अगले पड़ाव को सूचित करते हैं। 'अज्ञेय' की कविताएं जहां सनातन-भावबोध की मुद्रा में हैं वहां श्रीकांत वर्मा की कविताएं समकालीनता-बोध को व्यक्त करती हैं। 'अज्ञेय' के काव्य में वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर एक औपचारिक भंगिमा है, श्रीकांत वर्मा के काव्य में यह भंगिमा नितांत अनौपचारिक है। 'अज्ञेय' के काव्य में क्लासिकल किस्म की अद्भुत संश्लिष्टता है, पर श्रीकांत वर्मा की कविता की बुनावट में एक जबर्दस्त रचनात्मक लापरवाही है। 'अज्ञेय' की भाषा विशेष, गढ़ी हुई और कुछेक स्थलों पर विचारात्मक है, पर श्रीकांत की भाषा एक साथ त्रिवधर्मी और सपाट है। वास्तव में अज्ञेय औरश्रीकांत वर्मा की रचना-दृष्टि में मौलिक भिन्नता है।" (समकालीन कविता के बारे में; पृ० 60)

'नयी कविता' और उसके बाद के काल की कविता को लेकर कुछ मुद्दे चर्चा के केंद्र में रहे हैं। नरेन्द्र मोहन ने अपनी आलोचना में प्रायः उन सभी मुद्दों पर विचार किया है। इन्हीं में से एक मुद्दा कविता की रचना-प्रक्रिया का है। इसके सबध मे उन्होने अपने एक लेख में लिखा है—"लेकिन इससे यह आशय नहीं है कि पूरी कविता एक क्षण, एक मूड, एक मनःस्थिति का फैलाव होती है। इसे मानने का अर्थ यह होगा कि हम एक बार फिर अंतःप्रेरणा के सिद्धांत के शिकार हो जाएं। कविता में सृजन क्षण की भूमिका को माना जा सकता है, पर उस तक कविता को सीमित नहीं किया जा सकता। सृजन-क्षण के बाद कविता आगे बढती है, फैलती है। मूल अनुभव के साथ और अनेक अनुभव जुड़ते हैं, बनते-टूटते हैं और आगे बढ़ने की यह प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। कविता क्षण का उबाल या फैलाव नहीं है। रचना-प्रक्रिया के पड़ावों और क्षणों से वाकिफ लोग जानते हैं कि यह एक प्रारंभिक बिंदु है, जो कवि-मानसिकता में से आकार ग्रहण करता है और आहिस्ता-आहिस्ता अन्य संदर्भों में जुड़ता हुआ, प्रतीकों और बिंबों को ग्रहण

करता हुआ अन्य भावों-विचारों से टकराता है, सामाजिक स्थितियों और समस्याओं से जूझता हुआ आगे बढ़ता है और परिपक्व अवस्था में पहुंचता है।" (समकालीन कविता के बारे में; पृ० 20-21) जो लोग नरेन्द्र मोहन की कविता से परिचित हैं और जिन्होंने उसका विश्लेषण करके उसे समझने की कोशिश की है, वे इस बात से सहमत होंगे कि कविता की जिस रचना-प्रक्रिया की चर्चा उन्होंने की है, वह उनकी अपनी काव्य-रचना-प्रक्रिया है। और यह स्वाभाविक और अनिवार्य है; क्योंकि प्रत्येक कवि के लिए अपनी रचना-प्रक्रिया को एक सीमा तक जानना सहज है। जब वह उसका सामान्यीकरण करता है तब उसके आलोचक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने जितनी आलोचना कविता को लेकर लिखी है लगभग उतनी ही कथा-साहित्य को लेकर भी। कथा-साहित्य में उपन्यास की अपेक्षा कहानी पर उनका ध्यान अधिक केंद्रित रहा है। यदि उनकी 'समकालीन कहानी की पहचान' और 'आधुनिकता के संदर्भ में हिंदी कहानी' में संगृहीत लेखों पर दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि उनकी आलोचना के केंद्र में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी है। उससे पूर्व की कहानी की उन्होंने यदि चर्चा की है तो प्रासंगिक रूप में ही। जैसे, हिंदी कहानी में आधुनिकता की शुरुआत कब से हुई, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पूस की रात' और 'कफन' का नाम लेते हुए लिखा है—"इन कहानियों में प्रेमचंद ने भारतीय सामाजिक ढांचे और वर्गीय स्थिति को निर्ममतापूर्वक उघाड़ा है और एक तटस्थ, अभावुक नजरिये द्वारा चीजों, स्थितियों और समस्याओं को देखने की क्षमता का प्रमाण दिया है। इन कहानियों में सामाजिक स्थितियों के यथार्थ का साक्षात्कार हमें स्थितियों के पीछे की स्थितियों तक ले जाता है। इन कहानियों में नैतिक सूत्रों के सहारे अंत की संभावनाओं को अवरुद्ध नहीं किया गया है। इस वस्तु और संरचना दोनों दृष्टियों से इन कहानियों में आधुनिकता-बोध की शुरुआत हुई है।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई; पृ० 84-85) प्रेमचंद की तीन कहानियों के संबंध में यह कथन निष्कर्षात्मक एवं प्रवृत्तिमूलक है। जब नरेन्द्र मोहन किसी विशेष कहानी या उपन्यास अथवा कहानीकार अथवा उपन्यासकार पर बात करते हैं तब उनकी दृष्टि प्रायः प्रवृत्तिमूलक रहती है, किसी कहानी, उपन्यास अथवा उनके रचनाकार की वैयक्तिक विशिष्टता को रेखांकित करने की नहीं। इसका सुपरिणाम यह हुआ है कि पूरा संदर्भित परिदृश्य हमारे सामने आ जाता है, किंतु इसका एक दुष्परिणाम भी सामने आया है और वह है नाम-परिगणना का। नाम-परिगणना के अनेक उदाहरण उनमें हमें आसानी से मिल जाते हैं। एक उदाहरण 'शास्त्रीय-आलोचना से विदाई' के पृष्ठ 83 पर विद्यमान है।

कथा-साहित्य की आलोचना में नरेन्द्र मोहन ने कहानी और उपन्यास दोनों

की वस्तु की चर्चा की है, किंतु उनका ध्यान वस्तु मे अधिक इनके शिल्प पर—विशेषत: इनकी सरचना पर केंद्रित है। उनकी यह स्थापना इसी का प्रमाण है—"कहानीकार का सोचा हुआ आशय या अभिप्राय कहानी का आशय या अभिप्राय कैसे बनता है या बनते-बनते रह जाता है, इसका उत्तर कहानी के रचना-विधान मे ही निहित है। इसलिए यह जरूरी है कि रचना-विधान में घटित हो रहे परिवर्तनों की जांच-परख की जाए और उनसे निष्पन्न और पुष्ट होने वाले अर्थों, आशयों और अभिप्रायों के आधार पर कहानी की विकास-यात्रा, उसकी वर्तमान दशा और दिशा को समझा जाए।" (समकालीन कहानी की पहचान; पृ० 13) व्याहवारिक आलोचना में वे रचना विशेष को संरचना या रचना-विधान पर विशेष बल देते हैं। कृष्ण बलदेव वैद के उपन्यास 'उसका बचपन' का विवेचन करते हुए उन्होने लिखा है—"लेखक की संरचना-संबंधी समझ का सबूत यह है कि यहा वस्तु, चरित्र या संवेदना इकहरी नहीं है। वस्तु अंतर्वस्तु बनती गई है। चरित्र और संवेदना की अभिव्यक्ति कई अर्थों-आशयों से भरी हुई है। स्थिति के प्रति उसका रवैया न भावुक है न अतिनाटकीय। उसने कलात्मक निर्ममता से स्थितियों को चुना, पकड़ा और उभारा है; इन्हें सामने रख दिया है, बिना कुछ कहे स्थितियों के यथार्थ का एहसास उपजाया है। तमाम स्थितियों को बच्चे के फाकस में रखकर देखने मात्र से संरचना बदल गयी है।...समानांतर शिल्प की इस पद्धति से जटिल संवेदना को संप्रेष्य बनाया है जिससे औपन्यासिक गठन की प्रचलित रूढ़ियां टूटी हैं और संरचना में बदलाव आया है।...इस उपन्यास की सरचना के विधायक तत्त्व बिंब, प्रतीक और साम्य-विधान हैं। लेखक ने इनका प्रयोग उपन्यास की समग्र वस्तु और संवेदना को झलकाने के लिए किया है। इससे उपन्यास में संरचनात्मक पहलुओं की सघन और कौशलपूर्ण बुनाई संभव हो सकी है, जो अन्यथा न हो पाती।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई; पृ० 104-5)

कहानी के रचना-विधान के संदर्भ में नरेन्द्र मोहन ने ब्यौरों के महत्त्व को अनेक बार रेखांकित किया है। उनका कहना है कि ब्यौरों का जितना महत्त्व आज है, उतना पहले नहीं था—"समकालीन कहानी के रचना-विधान में ब्यौरो का महत्त्व असंदिग्ध है। इनके जरिये लेखक कहानी के वातावरण का निर्माण करता है। यों तो कहानी के माहौल को बनाने में ब्यौरों का हमेशा हाथ रहा है, पर समकालीन कहानी में चूंकि माहौल द्वारा ही बहुत कुछ कहने का प्रयत्न रहता है, इसलिए ब्यौरों के सर्जनात्मक और सार्थक उपयोग का प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। ब्यौरों का जैसा सर्जनात्मक उपयोग कहानियों में (और संपूर्ण कथा-साहित्य में भी) संभव है वैसा कविता में नहीं। भाषा की वर्णनात्मक शक्ति के बल पर घटनाओं, प्रसंगों और स्थितियों के विवरण देने की, असंगतियों और अतर्विरोधों को खोलने जैसी विधागत क्षमता कहानी में है वैसी कविता में यहा

तक कि लंबी कविताओं में भी नहीं है।" (समकालीन कहानी की पहचान, पृ० 16) समकालीन कथा-साहित्य के संदर्भ में ब्यौरों के महत्त्व का यह रेखांकन अयथार्थ नहीं है।

समकालीन कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं की आलोचना करते समय नरेन्द्र मोहन ने प्रायः समकालीनता, आधुनिकता, विद्रोह, संघर्ष, यथार्थ, रूमानियत, प्रामाणिक अनुभव आदि अवधारणाओं का उपयोग बार-बार किया है और इनके संदर्भ में समकालीन साहित्य को परखा है। यहां इन सभी अवधारणाओं की चर्चा तो संभव नहीं है, लेकिन सर्वाधिक उपयोग में लाई गई समकालीनता और आधुनिकता-संबंधी नरेन्द्र मोहन की स्थापनाओं की ओर संकेत कर देना उचित होगा। समकालीनता की धारणा कालबद्ध है। नरेन्द्र मोहन भी ऐसा ही मानते हैं; लेकिन समकालीनता की कालावधि कितनी मानी जाए? 'समकालीन' विशेषण का उपयोग करते हुए उन्होंने कविता, कहानी और उपन्यास की जो चर्चा की है, उसके आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके लिए संपूर्ण स्वतंत्र्योत्तर साहित्य समकालीन है। यह निष्कर्ष घुणाक्षर न्याय से निकाला गया है। इसे नरेन्द्र मोहन ने कहीं दो टूक ढंग से परिभाषित नहीं किया है।

आधुनिकता के प्रति डॉ० नरेन्द्र मोहन का विशेष आग्रह है। वे आधुनिकता को एक मूल्य मानते हैं। वे आधुनिकता को समकालीनता का पर्याय नहीं मानते। उनकी स्थापना है कि आधुनिक बोध से संयुक्त हर रचना समकालीन संदर्भो मे अनिवार्यतः जुड़ी रहती है, किंतु इसके बावजूद "आधुनिक लेखक समकालीनता का अतिक्रमण करता है और उसकी नयी व्याख्या करता है।" इस प्रकार आधुनिकता कालनिरपेक्ष दृष्टि है और नहीं भी है। यदि आधुनिकता को हम समकालीनता का अतिक्रमण करने वाला मूल्य मानेंगे तो उसे कालनिरपेक्ष मानना पड़ेगा और ऐसा नहीं मानेंगे तो काल-सापेक्ष। नरेन्द्र मोहन उसे काल-सापेक्ष मानते मालूम पड़ते हैं। उन्होंने लिखा है—"आधुनिकता मेरे लिए न शास्त्र है न संप्रदाय, न दर्शन है न रीति, न प्रतिमान है न परिपाटी। इसे आधुनिक युग की खास मानसिकता, खास दृष्टि कह सकते हैं। खास इस माने मे कि वह समकालीन मानसिकता और दृष्टिकोण से अलग है; क्योंकि इसके मूल मे वैज्ञानिकता, टैक्नोलॉजी और औद्योगीकरण की संस्कृति है। इसलिए आधुनिकता आधुनिक जिंदगी के दबावों, आधुनिक आदमी की सोच और चिंतन, उसके अस्तित्व, उसकी द्वंद्वपूर्ण, प्रश्नाकुल और संघर्षशील मानसिकता से बना एक दृष्टिकोण है, जिसे आधुनिक मनुष्य ने अपनी सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक चक्रों को समझते हुए और उनमे से गुजरते हुए अर्जित किया है।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई; पृ० 79) इस उद्धरण से स्पष्ट है कि नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को निर्भ्रांत रूप से

नहीं कर पाए हैं। पिछले लगभग तीस-चालीस साल की बहस ने यह सिद्ध किया कि आधुनिकता प्रभु की मूर्ति है। उसके प्रति जिसकी जैसी भावना रही है उसने उसे उसी रूप में देखा है। और अब तो उत्तर-आधुनिकता की बात की जाने लगी है।

आधुनिकता के संदर्भ में ही नरेन्द्र मोहन ने यह भी लिखा है कि "आधुनिकता को आप अस्तित्ववाद से जोड़ें या मार्क्सवाद से, या दोनों से—इसके मूल में विद्रोह है—विद्रोह पुराने रीति-रिवाजों, मान्यताओं और मूल्यों के प्रति ही नहीं, संस्थाओं, व्यवस्थाओं और संगठनों के प्रति भी।" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई, पृ० 40) सामान्यतः आधुनिकता को दक्षिणपंथी विचारधारा से जोड़ा जाता है, किंतु नरेन्द्र मोहन को वाम-विचारधारा से जोड़ने से भी कोई आपत्ति नहीं है। दरअसल, उनके पूरे आलोचनात्मक साहित्य का अध्ययन करने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि नरेन्द्र मोहन में विचारधारागत आग्रह नहीं है। उन्हें मार्क्सवाद भी स्वीकार्य और अस्तित्ववाद भी। आलोचना में उनकी मुख्य चिंता यह है कि रचना यथार्थ जीवन से संबद्ध हो और रचना में उसका प्रतिफलन नीरध्र हो। अज्ञेय की स्वातंत्र्य की धारणा के संबंध मे उनका कहना है कि "यहां इतना स्पष्ट कर दूं कि जब हम यह कहते हैं कि स्वातंत्र्य की उनकी धारणा व्यक्ति-केंद्रित है तो हम उनके कथा-साहित्य की केंद्रीय प्रवृत्ति को रेखांकित कर रहे हैं, किसी तरह का मूल्य निर्णय नहीं दे रहे। उनकी स्वातंत्र्य-प्रवृत्ति ऐसी न होकर वैसी क्यों हुई, यह हमारी चिंता का उतना बड़ा सरोकार नहीं है जितना यह कि इस स्वातंत्र्य-कामना का कलात्मक प्रतिफलन कैसा है? वह कितना संश्लिष्ट या दरारों-भरा है?" (शास्त्रीय आलोचना से विदाई, पृ० 121-22)

इतने विवेचन के बाद प्रश्न उठता है कि नरेन्द्र मोहन अपनी आलोचना में वस्तु-विवेचन को अधिक महत्त्व देते हैं अथवा कला विवेचन को। 1975 में भी उनकी पुस्तक 'आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ' की समीक्षा लिखते हुए मैंने यह प्रश्न उठाया था और तब मुझे लगा था कि "उनका विकास कलावादी समीक्षक रूप में होगा।" इस पुस्तक के 'मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि' लेख में उनकी स्थापना (पृ० 148) और अज्ञेय की स्वतंत्रता की धारणा के संबंध में उनकी ऊपर उद्धृत स्थापना इसी निष्कर्ष की पोषक हैं। वे रचना में वस्तु की अपेक्षा उसकी कलात्मक परिणति को मुख्य मानते हैं। यदि उनके शोधप्रबंध को छोड़ दिया जाए तो हम पाएंगे कि इस कलात्मक परिणति की परीक्षा के लिए उन्होंने जिन प्रतिमानों को उपयोग में लिया है उनका भारतीय काव्यशास्त्र से संबध नहीं है। बिंब, प्रतीक, संरचना, तनाव, बुनावट, आवयविक अन्विति, सन्निधि विसंगति आदि अवधारणाएं और प्रतिमान पश्चिमी

से—विशेषत: 'नयी आलोचना' से—गृहीत हैं। नरेन्द्र मोहन ने प्रारंभ से लेकर अब तक की सभी विधाओं की अपनी आलोचना में इनका बराबर प्रयोग किया है। अत: कोई चाहे तो उन्हें हिंदी का 'नया समीक्षक' कह सकता है। प्रगीत और लंबी कविता के संदर्भ में यह बात 'नया समीक्षक' ही लिख सकता है—"प्रगीत में आवयविक गठन का विशेष ध्यान रखा जाता है जबकि लंबी कविता में स्थितियों और संदर्भों का टकरावपूर्ण संयोजन रहते आवयविक अन्विति आवश्यक है। प्रगीत में अन्विति सीधी-सपाट सतह पर झलकती दिख जाती है—एक क्रम में, एक तर्क में, एक निष्कर्ष में ढली और परिणत हुई, जबकि लंबी कविता अपने रचना-विधान में क्रम और निष्कर्ष का प्राय: अतिक्रमण कर जाती है। दूसरे, प्रगीत की संरचना मुख्यत: भावमूलक या भावनाप्रधान होती है, जबकि लंबी कविता की संरचना में विचार या वैचारिक अनुभूति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है।" (दृश्यान्तर पृ० 59)

कभी-कभी नरेन्द्र मोहन की आलोचना जो अत्यंत सूक्ष्म, जटिल और अमूर्त प्रतीत होती है, उसका कारण उनका संरचना के विवेचन और वस्तु की नीरंध्र कलात्मक परिणति के प्रति आग्रह है। आज जबकि आलोचना के नाम पर किसी कथाकृति के कथासार को प्रस्तुत कर दिया जाता है अथवा कविता के कथ्य का सारांश प्रस्तुत कर दिया जाता है, तब नरेन्द्र मोहन की कला-विवेचक आलोचना का वैशिष्ट्य और महत्त्व स्वत: स्पष्ट है।

आलोचना-कर्म और अज्ञेय का मूल्यांकन

—डॉ० देवराज

डॉ० नरेन्द्र मोहन की चार पुस्तकें, जिनमें एक श्री देवेन्द्र इस्सर के सहयोग से संपादित है, मेरे सामने हैं। उनमें एक कविता-संग्रह है, 'संकट दृश्य का नहीं' जिसमें तीन लंबी कविताएं संकलित हैं। दूसरी पुस्तक है 'कविता की वैचारिक भूमिका' और तीसरी 'समकालीन कविता के बारे में'। संपादित पुस्तक का टाइटिल है, 'संघर्ष परिवर्तन और साहित्य'। इनके अतिरिक्त 'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' पुस्तक देखी-पढ़ी है—सरसरी दृष्टि से। सच यह है कि आज के व्यस्त जीवन में, और इस युग में जब नये प्रकाशनों की भीड़ जैसी लगी रहती है, किसी पुस्तक को बहुत मनोयोग से पढ़ना कठिन ही होता है। और यह सच है कि बिना वैसे पढ़े किसी रचना या पुस्तक का रहस्य ठीक-ठीक मन-चित्त में नहीं धंस पाता। इसके बावजूद आज के लेखक को जहां-तहां से रचना, रचनाकार अथवा विषय पर टिप्पणी करने की मांग या आदेश-पत्र आ जाता है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन के समीक्षक व्यक्तित्व पर टिप्पणी करने से पहले मैं उनके कवि व्यक्तित्व पर कुछ कहना चाहूंगा। 'संकट दृश्य का नहीं' में उनकी केवल तीन लंबी कविताएं संकलित हैं जिनका विषय किसी न किसी रूप और ढंग से नितांत विक्षुब्ध वर्तमान युग के परिदृश्य को शब्द-चित्रों में उतारना है। एक मित्र लेखक से यह जानकारी प्राप्त करके कि डॉ० नरेन्द्र मोहन ने लंबी कविताओं के बारे में पूरी पुस्तक लिखी है, मन में यह आशंका हुई कि उनकी नजर में उक्त कविता-संग्रह पर की गई टिप्पणी अनर्गल या हल्की न लगे। इसलिए उनके बारे में सिर्फ दो बातें कहकर मैं उनके एक आलोचनात्मक लेख पर अपनी प्रतिक्रिया दूंगा। 'संकट दृश्य का नहीं' की क्रमबद्ध लंबी तीन कविताएं वर्तमान में उलझे, आकुल-व्याकुल यथार्थ को प्रतिबिंबित करने का प्रयास हैं। इन कविताओं की, मेरी दृष्टि में, सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें शुरू से अंत तक संवेदना और अभिव्यक्ति का सटीक स्तर निर्वाह किया गया है। उनमें संवेदना और अभिव्यक्ति की 'वक्रोक्ति जीवित' के प्रणेता की संम्मत 'शब्दार्थ की' 'परस्परस्पर्धी

चारुता' है। इसका एक अर्थ यह है कि उक्त रचनाओं का कवि समृद्ध संवेदना या अनुभव के साथ विकसित आत्मालोचन की क्षमता भी रखता है।

अब हम डॉ० नरेन्द्र मोहन की आलोचना-प्रक्रिया का जायजा लेने की कोशिश करें। यहां हम केवल उनके एक लघु समीक्षा लेख 'दर्शन के विचार का कविता के विचार में रूपांतरण' पर टिप्पणी करेंगे। लेख का विषय अज्ञेय के दो संग्रह हैं—'कितनी नावों में कितनी बार' और 'महावृक्ष के नीचे'। विचाराधीन लेख या टिप्पणी का उद्दिष्ट है अज्ञेय के संदर्भ में विचार या विचारों के काव्यात्मक प्रकाशन का स्वरूप या प्रक्रिया का विश्लेषण-विवेचन। लेख छोटा है, पर उसमें जो मुद्दे या प्रश्न उठाए गए हैं वे वजनी हैं। कवि अज्ञेय का मूल्यांकन सरल नहीं है, वह काफी सोचना-समझना मांगता है। पहला प्रश्न जो मन में आता है वह यह कि अज्ञेय की कविता पूरी-पूरी समझ में न आने पर भी हमारी संवेदना या रस-बुद्धि को आकृष्ट क्यों करती है? दूसरा प्रश्न होगा: उनकी अनेक रचनाओं को पढ़ लेने के कुछ काल बाद हमारी चेतना के पटल पर किस तरह की कितनी छाप रह जाती है? उक्त दोनों प्रश्नों का समन्वित उत्तर ही उनकी कविता के मूल्यांकन की सही, सक्षम कसौटी का संकेत दे सकता है। हमारा अनुमान है कि कविता दो कारणों से स्मरणीय बनती है—'एक, जब वह किसी बुद्धिगम्य प्रसंग, वस्तुस्थिति या दृश्य वस्तु से जुड़ी होती है, और दूसरे, जब उसमें या उसके द्वारा एक सुसंगत दृष्टि अथवा रागविद्ध विचार बोध का क्रमबद्ध या विकासमान स्फुटन हो। ऐसा स्फुटन या उद्‌घाटन कवि की अनेक छोटी-बड़ी प्रगीत रचनाओं के माध्यम से हो सकता है, या फिर उसकी प्रसंग-विशेष से संबंधित एक या कई लंबी रचनाओं के माध्यम से। उदाहरण के लिए तरह-तरह की भंगिमाओं का आश्रय लेते हुए कवि अपने सामाजिक-राजनीतिक वातावरण में फैले छद्म के विविध रूपों को प्रकाशित कर सकता है, या फिर दुर्योधन-शकुनि के पांडवों से संबंधित द्यूत प्रसंगों को लेकर। इस कोटि की रचनाओं में एक प्रकार का क्रम या सिलसिला मिल जाता है जो रचनाओं को स्मरणीय बनाता है। स्फुट रचनाओं में ऐसा सिलसिला सूर के बाल-वर्णन एवं वंशी-वादन के प्रसगों में पाया जाता है, और तुलसी की 'विनय पत्रिका' में। कालिदास का 'मेघदूत' अपनी समग्रता में मेघ से संबंधित चित्र-शृंखला को प्रस्तुत करते हुए पाठकों के बोध एवं रस-चेतना में ऐक्य स्थापित करता है। इस कोटि की एकता रचना-विशेष को स्मरणीय बनाती है। प्राय: वैसे ऐक्य का रहस्य अनुभव, विचार अथवा दोनों की समन्वित एकता में निहित होता है। हम कहना चाह रहे हैं कि अज्ञेय के काव्य में इस तरह की स्मरणीय एकता का अनुभव प्राय: नहीं होता। उनकी 'चक्रांतिशिला' जैसी प्रगीत-शृंखला में भी वैसी एकता को पकड़ना कठिन जान पड़ता है। फिर भी यदि अज्ञेय की समस्त रचनाएं एक रचनाकार के

व्यक्तित्व से नि:सृत जान पड़ती हैं तो इसका कारण मुख्यत: उनके द्वारा चुनी गई और प्रयुक्त पदावली एवं उसकी निजी-निराली संयोजन-शैली में खोजना चाहिए।

यह डॉ० नरेन्द्र मोहन की आलोचना प्रतिभा का प्रमाण है कि वे अज्ञेय काव्य के कथ्य वस्तु की इस केंद्रगत कमजोरी को पकड़ सके हैं। अज्ञेय की दो पंक्तियां उद्धृत करके लिखते हैं : 'कवि ने इन शब्दों को कोई नया अर्थ-संदर्भ नहीं दिया है। (समकालीन कविता के बारे में, 1994, पृ० 53), आलोचक का दूसरा वक्तव्य यह है कि अज्ञेय का कविता-वृत्त उनके 'निज', 'अहं' की सीमाओं में आबद्ध है। इस पर वे रहस्य का जाल तानते हैं। एकांत मन की गुफाओं का रहस्य-जाल जिस पर वे व्यक्ति और समाज, मम और ममेतर का सैद्धांतिक खोल ओढ़ते और मानवता के साथ जुड़े होने का 'भ्रम' पैदा करने की कोशिश करते हैं। इस टिप्पणी का अभिप्रेत स्पष्ट करना-समझना सहज नहीं जान पड़ता। 'जानबूझ कर कोशिश करना' में जो अभियोग की गंध है वह थोड़ी अनुदार जान पड़ती है। वास्तव में रचना के क्षणों में वैसी सचेत कोशिश कारगर नहीं हो सकती। सचेत प्रयत्न से कवि पद या शब्द विशेष को नियोजित करने या बदलने में सफल हो सकता है, किंतु अपनी दृष्टि और अनुभव में दूरगामी बदलाव का छद्म अनुष्ठित करना प्राय: संभव नहीं होता। जिसे हमारा आलोचक भ्रम पैदा करने की कोशिश कह रहा है वह वास्तव में कवि की शैली की व्यापक विशेषता है। उस विशेषता का हम अपने ढंग से मूल्यांकन कर सकते हैं, पर उसे छद्म नहीं कह सकते। तथ्य यह है कि अज्ञेय निजी दृष्टि और चिंतन में उद्भूत अर्थ-संदर्भ प्राय: खड़ा नहीं करते, जैसा कि हमने कहा, इसी वजह से उनके अनेक अर्थ-संदर्भ समन्वित होने का प्रभाव नहीं छोड़ते। अपनी एक सुचिंतित और भावित जीवन-दृष्टि के अभाव या कमी से उत्पन्न कमजोरी से निपटने का अज्ञेय का अपना ढंग है। यह ढंग है—अपने और युग के सांस्कृतिक परिवेश में जहां दिखते-तैरते विविध दृष्टियों को प्रकट करने वाले सुशिक्षित लोगों के लिए परिचित विचारों या विचार-सूत्रों में से किसी एक को पकड़कर अपनी रचना के लिए उपयुक्त संदर्भ देना। इस प्रक्रिया में अज्ञेय को अपनी विस्तृत, बहुमुखी अध्ययनशीलता का लाभ मिलता है। उन्हें जो विचार-सूत्र आकर्षित करते हैं उनमें मुख्य हैं—लोकतंत्र के युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का महत्त्व। इस महत्त्व को अज्ञेय विविध रूपों में प्रकट एवं रेखांकित करते हैं। व्यक्ति का विचारशील स्वतंत्र व्यक्तित्व जो उसे भीड़ से अलग दर्शित करता है, अज्ञेय को प्रिय एवं महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। यहां वे अस्तित्ववादी सार्त्र से हाथ मिलाते दीख पड़ते हैं। ध्यातव्य है कि सार्त्र के दर्शन में स्वतंत्रता का प्रत्यय एक लंबी वैचारिक साधना से कमाया हुआ सत्य है, अज्ञेय ने उस सत्य को कमोबेश एक अच्छे- समझदार अनुयायी की भांति आत्मसात किया

है। वास्तव में अज्ञेय के जीवन दर्शन में व्यक्ति की स्वतंत्रता एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है। इस महत्त्व को वे तरह-तरह से रेखांकित करते हैं। सार्त्र ने बाद के वर्षों मे, मुख्यत: काल मार्क्स के प्रभाव में, अपने व्यक्तिवाद को परिसीमित किया, वैसा परिसीमन अज्ञेय के परिपक्व वय के चिंतन में आया इसका कोई पक्का प्रमाण नहीं है। वे प्राय: अंत तक यह मानते रहे कि—

अच्छी कुंठा-रहित इकाई
सांचे-ढले समाज से

अज्ञेय काव्य में दूसरा विचार जो जहां-तहां गंध की भांति संकेतित और अनुभव का विषय हो पाता है वह वेदांतीय एकत्ववाद का रहस्यात्मक पक्ष है। जीवन-दर्शन के रूप में वह कहां तक अज्ञेय का कमाया हुआ सत्य जैसा बन सका है इस बारे में मतभेद की गुंजायश है।

श्री नरेन्द्र मोहन ने दो-तीन दूसरी महत्त्वपूर्ण बातें अपने लघु लेख में कही है, जैसे यह कि अज्ञेय के काव्य में संश्लिष्टता एक महत्त्वपूर्ण गुण है (पृष्ठ 54) और यह कि वे "काव्यानुभूति को संवेग से स्फीत होने से भी बचाना चाहते हैं।" अज्ञेय की बौद्धिकता पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं "·· इस सबके बावजूद उनकी कविता में बौद्धिकता का उपयोग रचना में बहुत दूर तक, गहरे में प्रतिफलित हुआ नहीं दिखता। अज्ञेय के लिए यह बौद्धिकता कविता के साथ एक किस्म की अनुशासनात्मक कार्रवाई ही है जो काव्यात्मक अन्विति को बेशक प्रभावित करती है। उसकी सक्रिय रचनात्मक अनुपस्थिति का अभाव कविता में साफ दिखाई देता है।" (पृष्ठ 55) इस वक्तव्य के उत्तरार्द्ध से हम अंशत: ही सहमत है। हमारा विचार है कि अज्ञेय की फुटकर रचनाओं की अपेक्षा उनकी रचनाओ की समग्रता पर उक्त अभियोग अधिक लागू होता है। हमें लगता है कि विचार-सूत्रो के ग्रहण और प्रकाशन में अज्ञेय न्यूनाधिक एक्लेक्टिक हैं। उन्हें चमक वाले नये दिखने वाले विचार या विचार-सूत्र प्रिय हैं, इस तरह के विचार वे विभिन्न स्रोतो से लेते हैं और उनके सन्निवेश से अपनी रचना को खास तरह की दीप्ति देते है। वे बड़ी रचनाएं प्रस्तुत नहीं कर पाते इसका एक कारण यह है कि वैसी रचना जिस कोटि का वैचारिक विकास-क्रम और संगति मांगती है उसका निर्वाह कठिन काम है, वहां क्रमबद्ध क्रमसंगति का स्थान उपरोक्त 'दीप्ति' से नहीं चलता। यहा चलते-चलते यह कह दिया जाए कि अज्ञेय काव्य में दीप्ति नामक तत्त्व के स्रोत दूर तक विशिष्ट पदावली या शब्दों के नियोजन में निहित रहते हैं—खासकर विशेषणों और क्रिया पदों के चयन और नियोजन में। इस दृष्टि से अज्ञेय महत्त्वपूर्ण शब्दशिल्पी कहलाने के हकदार हैं। किंतु इस तरह का शब्द-शिल्प उस कला से निम्नतर कोटि का समझा जाना चाहिए जो भाव-बोध के तर्कसंगत विकास

एवं तदनुरूप शब्द प्रयोग से आता है। वैसा शब्द-प्रयोग सूर-तुलसी जैसे महाकवियों और बिहारीलाल जैसे श्रेष्ठ कवियों की भी व्यापक विशेषता है। शब्द-शिल्पी अज्ञेय की शक्ति प्राय: ऐसे शब्दों या पदों के चयन में प्रकट होती है जो गति अथवा ऊर्जा का संकेत करते हैं। कहीं-कहीं अज्ञेय अपेक्षाकृत अपरिचित या कम परिचित शब्दों के (जो किसी के बोली के देशज शब्द भी हो सकते हैं, जैसे 'बावरा अहेरी' में 'धुस्सों वाली' विशेषण) रचना में नवीनता लाते हैं, और कभी अप्रत्याशित रूप में जटिल या कठिन संस्कृत शब्द या शब्द संयोजन के द्वारा—जैसे उसी कविता में पुष्पिताग्र कर्णिकार के प्रयोग से। विचार सूत्रों का जहां-तहां से ग्रहण भी उनकी रचना को आकर्षक नवीनता देता है। उनकी ये दोनों विशेषताएं उनकी रचना को अपने ढंग से व्यक्तित्व-संपन्न बनाती हैं। सतर्क शब्दों या बिंबों की योजना द्वारा अज्ञेय दृष्ट यथार्थ का यथावत् सही चित्र खड़ा कराने की कोशिश करते हैं जो उनके विशेषत: प्रकृति काव्य की खासियत है।

यों अज्ञेय के विस्तृत काव्य में अनेक विषयों पर छिट-पुट रचनाएं पाई जाती हैं जिनका उल्लेख उक्त लघु लेख के पृष्ठ 53 पर हुआ है। अज्ञेय की 'नाव' कविता पर टिप्पणी करते हुए डॉ० नरेन्द्र मोहन ने बड़ी मार्मिक बात कही है कि "अंतिम पंक्ति तक आते-आते अज्ञेय की बौद्धिकता चुकने लगती है और वह एक कौशलपूर्ण काव्य-युक्ति बनने लगती है।" (पृष्ठ 56)

अंत में हम श्री नरेन्द्र मोहन के काव्य संबंधी चिंतन पर संक्षिप्त टिप्पणी करना चाहेंगे। विचाराधीन पुस्तक के तीसरे खंड में दो निबंध चिंतनपरक हैं। पढने पर लगता है कि काव्य और उसकी ऐतिहासिक स्थिति, विशेषत: इधर की कविता की स्थिति पर डॉ० नरेन्द्र मोहन बहुत कुछ सोचते रहे हैं। कविता का मुहावरा पिछले कई दशकों में बार-बार बदलता रहा है, उसके स्वरूप और कारणों को समझने-समझाने की उक्त निबंधों में बार-बार कोशिश की गई है। लेखक को राज्य-तंत्र, पार्टी, विचार या किसी अभिरुचि की तानाशाही पसंद नहीं है—"बड़ बोली मुद्रायें और चालू अराजक मुहावरे जब कविता पर हावी होते हैं तो समझना चाहिए कि कविता अंतिम सांसें गिन रही है।" (पृ० 127) लेखक का सुझाव है कि हर कविता पीढ़ी को और हर कवि को पूरी सतर्कता से सबसे पहले जिद और आग्रह से मुक्त होना होता है। प्रश्न है, कविता की एक पीढ़ी या शैली की जीवन-अवधि कितनी होती या होनी चाहिए? क्या यह जरूरी समझा जाए कि हर दशक में, या हर दूसरे या तीसरे दशक में कविता की भाषा, मुहावरा बदलना चाहिए? हम नहीं समझते कि इतनी जल्दी किसी लेखक या कवि को एक जीवन-दृष्टि को छोड़ते हुए एकाएक दूसरी दृष्टि को अपना लेना चाहिए। हमारे विचार में किसी भी जीवन-दृष्टि को पूर्णता व पूर्ण परिपक्वता में काशित करने के लिए कवि विशेष को लंबी साधना की अपेक्षा होती है।

हमारे विक्षुब्ध युग के किसी भी लेखक या कवि को किसी एक विचारधारा के प्रति वैसा आत्म-समर्पण नहीं कर देना चाहिए जैसा कथित प्रगतिवादियों और उनके प्रशंसक समीक्षकों ने मार्क्सवाद के प्रति किया, वैसा समर्पण या आत्म-समर्पण कच्ची, अपरिपक्व चेतना-बुद्धि का लक्षण है। दूसरे यह समझना भी भूल है कि सोवियत रूस के विघटन का अर्थ मार्क्सवादी विचारधारा का पूर्णतया अप्रासंगिक हो जाना है। यही बात गांधीवादी विचारधारा पर लागू होती है, और अद्वैतवेदांत जैसे पुराने दर्शन की परंपरा पर भी। कहना न होगा कि इस कोटि की परंपराएं किसी देश और विश्व की भी कीमती धरोहर का निर्माण करती हैं। हमें यह देखकर प्रसन्नता है कि अपने दूसरे निबंध 'आज के कवि/बौद्धिक का संकट' में हमारे कवि-आलोचक ने परंपरा के महत्त्व को रेखांकित करने की कोशिश की है। हमारा निवेदन है कि जो अपने देश की महत्त्वपूर्ण परंपरा, और दूसरे सभ्य देशों व जातियों की वैसी परंपराओं से गहरा परिचय रखता है वह उस भांति 'पूरी तरह खंडित और आत्म-विभाजित' (पृ० 136) महसूस नहीं करता जैसा कि कल तक मार्क्सवाद को एक मात्र सच समझकर चलने वाले उसके अनुयायी कर रहे हैं। एक क्लासिक श्रेणी की विचारधारा होने के नाते मार्क्सवादी चिंतन आज विश्व की सांस्कृतिक विरासत का अंग बन चुका है। जहां तक गांधीवाद का सवाल है वह एक ओर हमारी समृद्धि नैतिक-आध्यात्मिक परंपरा का अंग है, वहां विश्व की सांस्कृतिक संपदा का भी। हम संकेत कर रहे हैं कि श्री नरेन्द्र मोहन के उक्त दो निबंधों में सुचिंतित संबंध सूत्र स्थापित नहीं हो सके हैं। एक लेखक को वयस्क और परिपक्व होने में दो-तीन दशक लग जाते हैं। यदि हम वैसे वयस्क लेखक को भी मन में रखें तो प्रत्येक दशक में कथित नयी पीढ़ी में उतने आकस्मिक परिवर्तन की मांग नहीं करेंगे। हमारा विचार और सुझाव है कि डॉ० नरेन्द्र मोहन उक्त दो निबंधों में पल्लवित विचार-सरणियों में सामंजस्य बिठाने का सुचिंतित प्रयत्न करें। पृष्ठ 133 पर हमारे आलोचक ने युवा कवि और उनकी कविता की अग्रगति में सहायक हो सकने वाले छह-सात सूत्रों की परि-कल्पना की है। हमारी समझ में उक्त सूत्रों का समाहार विश्व इतिहास की कति-पय बड़ी परंपराओं के आलोक में युगीन समस्याओं को देखने की ईमानदार और गहरी कोशिश में निहित है।

नरेन्द्र मोहन का आलोचना-कर्म

—डॉ० यश गुलाटी

पिछले तीन दशकों से नरेन्द्र मोहन साहित्यिक कर्म के दोनों क्षेत्रों—रचना और आलोचना में सक्रिय रहे हैं। इस दीर्घावधि में यों तो उन्होंने कहानी, नाटक, उपन्यास विधाओं से जुड़ी हुई कृतियों की अपनी समीक्षाओं के अंतर्गत संदर्भों, सरोकारों और रचना-विधान की नवीनता के रूप में प्रतिफलित होने वाले उनके स्वरूपगत बदलावों तथा उनके आस्वाद और मूल्यांकन के निकर्षों में आ रहे परिवर्तनों पर भी विचार किया है किंतु उनका आलोचना-कर्म मुख्यतया कविता पर ही केंद्रित रहा है। अपनी आलोचना-यात्रा के दौरान वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पौर्वात्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर आधारित आलोचना नये सृजन के मूल्यांकन के लिए अक्षम है। परंपरागत शास्त्रीय मानदंडों की अनुपयुक्तता संबधी उनकी यह मान्यता नई नहीं है। छायावादी युग से लेकर आज तक इसकी चर्चा होती रही है किंतु नरेन्द्र मोहन संभवत: पहले रचनाकार-आलोचक हैं जिन्होंने शास्त्रवादी समीक्षा के नकार और निषेध को पुख्ता तार्किक आधार प्रदान करते हुए अपनी दृष्टि को असंतुलित और एकांगी होने से बचाने की भरपूर कोशिश की है।

'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' नामक अपनी पुस्तक में शास्त्रीय आलोचना को शास्त्र में बंद, शास्त्रीय रूढ़ियों का अंधानुसरण करने वाली आलोचना के रूप मे परिभाषित करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे शास्त्रीय सिद्धांतो के आत्यंतिक विरोधी नहीं है वरन् वे तो पुराने सिद्धांतों का सहारा लेने और अपने समय और साहित्य के संदर्भ में उन्हें जांच-परखकर, ठोक-पीटकर आज़माने के पक्षधर हैं। उनके मतानुसार इससे शास्त्र रचना में खुलेगा और रचना शास्त्र मे। दरअसल, नरेन्द्र मोहन शास्त्रीय सिद्धांतों का नही, वरन् उनको 'रत्ती-तोला फर्क किए बगैर सार्वकालिक और सर्वाश्लेषी मानदंड के तौर पर समकालीन साहित्य पर लागू कर देने की प्रवृत्ति' का विरोध करते हैं

की पहचान की जरूरत पर बल देते हैं किंतु साथ ही वे समकालीनता को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में देखना और समझना भी आवश्यक मानते हैं। उनका विश्वास है कि आस्वाद और मूल्यांकन के विविध धरातलों को आत्मसात् कर सकने वाली आलोचना-दृष्टि परंपरा और इतिहास के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। वस्तुतः समकालीन संदर्भों और कृतियों को परंपरा के जीवंत तत्त्वों और अंशों की संगति में ही बेहतर समझा जा सकता है।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि नरेन्द्र मोहन के उपर्युक्त वक्तव्य से समकालीन बोध की अपर्याप्तता और एकांगिता का जो एहसास ध्वनित होता है उसके मूल मे समकालीनता को महज तात्कालिकता के अर्थ में ग्रहण करने वाली परिभाषाएं और व्याख्याएं ही प्रतीत होती हैं। नरेन्द्र मोहन ने स्वयं स्पष्ट किया है कि 'समकालीनता का अर्थ किसी कालखंड या किसी एक दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण निरूपण या ब्यान नहीं है, बल्कि उसे ऐतिहासिक अर्थ में समझना, उनके मूल स्रोत तक पहुचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है। वह एक ठहरी हुई गतिहीन और जड़ स्थिति नहीं है बल्कि यह ठहराव, गतिहीनता और जड़ता को सख्ती और निर्ममता से तोड़ने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया और चेतना है। जाहिर है कि सही क़िस्म की समकालीनता न तो इतिहास को नकारती है और न परंपरा को दरगुज़र ही करती है।

शास्त्रीय सिद्धांतों और रचना में रचना को तरजीह देते हुए वे इंद्रनाथ मदान द्वारा अपनाए गए कृति की राह से गुज़रने के सिद्धांत को आशंसापूर्वक उद्धृत करते हुए भी, उसी तक सीमित नहीं रहते। समीक्षा के केंद्र में कृति को रखने और उसके भीतर से कसौटियां कमाने की बात करते हुए वे यह भी स्पष्ट कर देते है कि कृति की राह से गुज़रते हुए जो हासिल होता है, उसे ऐतिहासिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना आवश्यक है। ज़ाहिर है कि वे साहित्य की स्वायत्तता के सिद्धांत का विरोध करते हैं और आलोचना में विभिन्न ज्ञानानुशासनों की भूमिका स्वीकार करते हैं। रचना की भीतरी दुनिया और समाज-विधाओं के मध्य एक संयोजन और समन्वय की जरूरत पर वे बल देते हैं किंतु जड़ और यांत्रिक किस्म की समाज-शास्त्रीय समीक्षा में लक्षित होने वाला, रचना और सामाजिक परिवेश का बिंब-प्रतिबिंबात्मक रिश्ता उन्हें स्वीकार्य नहीं है। वे रचना-मन को कुर्सी-मेज़ की तरह निर्जीव और परिवेश में व्याप्त ध्वनि-तरंगों और संदर्भों को ग्रहण करने वाला एरियल ठहराने की प्रवृत्ति का विरोध करते है। उनके मतानुसार वह एक जीवन-प्रक्रिया है जिसमें स्मृतियां, संस्थाएं, भाव, विचार, प्रसंग, घटनाएं और परिस्थितियों के प्रतिबिंब एक-दूसरे की सन्निधि में अपनी सक्रिय उपस्थिति जतलाते रहते हैं। परिवेश से सामग्री चयन करते हुए, उनसे जूझते और टकराते हुए, रचना-मन कई मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से गुज़रता है जिससे परिवेशगत

सामग्री नए-नए रूपों में ढलकर सामने आने लगती है।

नरेन्द्र मोहन के आलोचना-कर्म की शुरुआत हिंदी समीक्षा पर हावी समकालीनता, आधुनिकता, अनुभव की प्रामाणिकता जैसी अवधारणाओं के दौर में हुई थी। बाद में निषेध, विसंगति, विडंबना, विचार, विद्रोह, संघर्ष पर प्रकाशवृत्त केंद्रित होता गया। इनसे जुड़ी हुई बहस में नरेन्द्र मोहन ने न केवल सक्रिय भाग लिया बल्कि कई बार उसको मनोवांछित दिशा में मोड़ने की भी कोशिश की।

नरेन्द्र मोहन की दृष्टि में 'आधुनिकता न शास्त्र है, न संप्रदाय, न दर्शन, न रीति, न प्रतिमान, न परिपाटी वरन एक दृष्टिकोण है जो मध्यकालीन मानसिकता और दृष्टिकोण से अलग है क्योंकि इसके मूल में वैज्ञानिकता, टैक्नोलॉजी और औद्योगीकरण की संस्कृति है। मूल्य बनाम प्रक्रिया के रूप में चलने वाली आधुनिकता संबंधी बहस में हस्तक्षेप करते हुए नरेन्द्र मोहन उनके परस्पर विरोधी ठहराने की कोशिश को ही अर्थहीन मानते हैं। वे कहते हैं कि "प्रक्रिया मानने का अर्थ मूल्यों की ग़ैर-मौजूदगी क्यों मान लिया जाए? ऐतिहासिक विकास-क्रम में उसे मूल्य-चिंता के सिलसिले के रूप में या मूल्यों की छानबीन और पड़ताल के रूप में क्यों न लिया जाए? इसी तरह आधुनिकता को मूल्य मानने का अर्थ इतिहास विरोधी क्यों समझ लिया जाए जबकि मूल्यों को हम ऐतिहासिक परिस्थिति में ही ग्रहण करते और अर्जित करते हैं।"

आधुनिकता को प्रक्रिया ठहराने वालों से वे इस सीमा तक ही सहमत हैं कि प्रत्येक दौर की आधुनिकता भिन्न होती है किंतु विभिन्न कालखंडों में विकसित होने वाली आधुनिकताओं को आपस में संबद्ध भी मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि उन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। आधुनिकता की अस्तित्ववादी और समाजवादी व्याख्याओं को वे एकांगी मानते हैं। वे एक ओर अस्तित्ववादी पद्धति पर यथार्थबोध की पहचान को महत्त्व देते हुए भी उसे आधुनिकता का पर्याय नहीं मानते तो दूसरी ओर केवल सामाजिक यथार्थ या मानव-मुक्ति की समाजवादी धारणा तक सीमित रखना भी उचित नहीं समझते। उनकी दृष्टि में वह एक ओर अस्तित्व-दर्शन से, अस्तित्वगत स्थितियों के यथार्थ से जुड़ती है तो दूसरी ओर सामाजिक दर्शन और सामाजिक यथार्थ से। अपने दृष्टिकोण को परिभाषाबद्ध करते हुए वे कहते हैं—"आधुनिकता, आधुनिक युग की गतिशील प्रक्रिया है जो हर बंधी-बंधाई व्यवस्था, रूढ़िग्रस्त मर्यादा और बद्धमूल धारणा को तोड़ती है, जो किसी एक मूल्य, धारणा या सिद्धांत को चरम नहीं मानती बल्कि उसे स्वीकारने से पूर्व जांचने-पड़तालने पर बल देती है। यह इतिहास-विरोधी, मूल्य-निषेधी प्रक्रिया नहीं, इतिहास के संदर्भ में मूल्यान्वेषण की सतत प्रक्रिया से अर्जित मानसिकता है।"

'विचार कविता' आंदोलन के प्रवर्त्तन और कविता में विचार की प्रतिष्ठा में

नरेन्द्र मोहन की उल्लेखनीय भूमिका को देखते हुए उन्हें अनुभव का विरोधी मान लिया गया है। उन्होंने अपने विभिन्न निबंधों में बलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि वे अनुभव के नहीं, अनुभववाद के विरोधी हैं। अनुभव को वे मात्र निजी या भोगा हुआ नहीं मानते और उसकी परिसीमा में वे अर्जित अनुभव को भी समाहित कर लेते हैं। उनके अनुसार लेखक के वही अनुभव संगत होते हैं जो निज से पर तक जाते हैं। उनका विश्वास है कि "मात्र निजी अनुभव से उच्चकोटि की रचना सभव नहीं। रचनात्मक क्षेत्रों में निजी और अर्जित अनुभव परस्पर घुल-मिल जाते हैं और आत्मानुभव को परानुभवों से अलगाना कठिन हो जाता है। वास्तव में निजी अनुभव तो खाद बन जाता है और कवि उसे व्यापक फलक पर सामाजिक सच्चाइयों तक फैला देता है।"

नरेन्द्र मोहन मानते हैं कि अनुभव की प्रकृति सर्वत्र एक-सी नहीं रहती, परि-स्थितियों के अनुरूप उसमें बदलाव आता है इसलिए हर पीढ़ी अपने काव्यानुभव की खोज करती है। परिणामस्वरूप काव्य-चिंतन में भी परिवर्तन हो जाता है। आधुनिक काव्यानुभव की जटिल प्रकृति और संश्लिष्ट बनावट के कारण रस सिद्धांत और रिचर्ड्स का अर्थ-सिद्धांत उसे समझने में अपर्याप्त सिद्ध होते हैं।

नरेन्द्र मोहन कविता में विचार तत्त्व को विशेष महत्त्व देते हैं। उनका विश्वास है कि विचार तत्त्व के बिना उच्चकोटि की कविता संभव नहीं है। "विचार और कविता साथ-साथ हैं। कविता में विचार फैला हुआ और कविता विचार से तनी हुई और तेजस्वी।" वे यह भी स्पष्ट करते है कि "किसी कविता का वैचारिक या ज्ञानात्मक होना कविता में विचार रखना भर नहीं, विचार को उसका अविच्छिन्न हिस्सा बनाना है, विचार द्वारा उसे संयमित और स्फूर्त करना है।" कविता के विचार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे वे न तो दार्शनिक प्रत्यय का पर्याय मानते हैं और न ही किसी मतवाद के शुष्क सिद्धांत का। उनके अनुसार विचार ठोस भौतिक जगत और उसकी वास्तविक परिस्थितियों से ही पैदा होते हैं। परिवेश के जितने गहरे संघात और दबाव से वे निकलेंगे, उतनी ही उनमें सृजनात्मक शक्ति होगी। कविता में विचार और अनुभव के साथ-साथ संवेग की महत्ता को भी वे स्वीकार करते हैं और उनमें संतुलन को आवश्यक ठहराते हैं। उनके मता-नुसार यह देखना भी जरूरी है कि संवेग की तीव्रता विचार-प्रक्रिया को अवरुद्ध तो नहीं कर रही और विचार संवेग-प्रक्रिया से कटकर महज धारणात्मक तो नहीं बन रहा। कविता में अनुभव और विचार, रचना-मन और परिवेश, दृष्टि और दृश्य के निरंतर सन्निधि और टकराव की स्थिति में अवस्थिति को स्वीकार करते हुए वे अंतःप्रेरणा को अतिरिक्त महत्त्व देने वाली दृष्टि का निराकरण भी करते हैं।

वे स्वच्छंदतावादियों की तरह कविता को प्रबल मनोवेगों का सहज उद्रेक, अकस्मात् फूट पड़ने वाली और अंतःप्रेरणा से समूची निःसृत होने वाली नही

मानते। उनके अनुसार पूरी कविता एक क्षण, एक मूड, एक मनःस्थिति का फैलाव नहीं होती। किसी विशिष्ट क्षण में कोई बिंब, विचार प्रतीक या भाव कौंधता जरूर है पर कविता को उस तक सीमित नहीं किया जा सकता। सृजन-क्षण के बाद कविता आगे बढ़ती है, फैलती है। मूल अनुभव के साथ और अनेक अनुभव जुड़ते, बनते-टूटते हैं। कवि अन्य भावों और विचारों से टकराता है, सामाजिक स्थितियों से जूझता है और अन्य संदर्भों, प्रतीकों, बिंबों से जुड़ता है और परिपक्वता तक पहुंचता है।

नरेन्द्र मोहन के इधर के निबंधों में विद्रोह, क्रांति और संघर्ष का बार-बार उल्लेख हुआ है किंतु इन शब्दों को उनकी आलोचनात्मक शब्दावली में सहसा आगत नहीं माना जा सकता। वास्तव में आधुनिकता के विवेचन के अंतर्गत भी उन्होंने कहा था कि उसका सही स्वरूप विद्रोहात्मक है। वे विद्रोह के चुनाव को आधुनिक मनुष्य की अस्तित्वगत और सामाजिक लाचारी मानते हैं। उनकी दृष्टि में नकार या निषेध विद्रोह नहीं है किंतु वह उसकी प्राथमिक स्थिति है। डिसेंट के अभाव से डिसेंट की स्थिति बेहतर है। निषेध से विद्रोह और संघर्ष उत्तेजित होता है, बल प्राप्त करता है और व्यापक धरातलों पर फैलता हुआ सकर्मक गतिविधियों में बदल जाता है। हिंदी के निषेध-केंद्रित अकविता आंदोलन के काल में विशेष चर्चित विसंगति और विडंबना पर उन्होंने विस्तार से बात तो नहीं की किंतु यह स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें 'डेड एंड' मानना या आलोचना के प्रतिमान ठहराना अनुचित है। उन्हें बीच में पड़ने वाले स्तर से अधिक नहीं समझा जा सकता।

सर्वत्र लक्षित अपने मतवाद-विरोधी दृष्टिकोण के अनुरूप, वे रचनाकार के विद्रोह को किसी विचारधारा से उद्भूत नहीं मानते। उनकी दृष्टि में विद्रोहात्मक मूल्य किसी संस्था, प्रतिष्ठान, धार्मिक मठ या दर्शन की पोथी से उद्भूत नहीं होते। उन्हें हर सूरत में जीवन-स्थितियों से और तत्पश्चात् उनका अतिक्रमण करते हुए अर्जित किया जा सकता है। विद्रोह के स्वरूप के निर्धारण में युग-बोध को महत्त्व देते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि आधुनिक विद्रोह मध्ययुगीन विद्रोहभाव से भिन्न कोटि का है। मध्ययुगीन विद्रोह के केंद्र में धार्मिक और दार्शनिक आस्थाएं थीं उन्हीं से जुड़ी हुई मान्यताएं और मूल्य जबकि आधुनिक विद्रोह के मूल में वैज्ञानिक चेतना, सामाजिक दर्शन और राजनीतिक दृष्टि है। लेखक के विद्रोह को वे राजनीतिक विद्रोह से अलगाते हैं। लेखक का व्यवस्था-विरोधी रुख रचनात्मक मानसिकता से छनकर आता है और उसकी मूल्यगत आस्था को सूचित करता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति में वीर मुद्राओं की बजाय यातना का एहसास होता है। विद्रोही मसीहा बनने की विक्षिप्त धुन में मनुष्य की प्राकृतिक आकांक्षाओं और रुझानों को दरगुजर करने की प्रवृत्ति के प्रति अपनी अस्वीकृति के व्यक्तीकरण के लिए नाज़िम हिकमत की पंक्तियां उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि विद्रोह और

संघर्ष वही आदमी कर सकता है जो संघर्षों के बीच अपनी प्रिया को प्यार कर सकता है।

विद्रोह के संदर्भ में नरेन्द्र मोहन लेखक के चरित्र और उसकी अभिव्यक्ति में संगति को भी आवश्यक ठहराते हैं और व्यवस्था को चुनौती देने और साथ ही भक्तिभाव से लिलिसाते हुए व्यवस्था-भवन में धंस जाने की प्रवृत्ति को हेय ठहराते हैं। वस्तु और शिल्प, कथ्य और भाषा में द्वैत उन्हें मान्य नहीं है। उनकी दृष्टि में भाषा कथ्य से और कथ्य भाषा से अलग नहीं है। विद्रोहमूलक कविता के लिए परंपरागत भाषा, बिंब-विधान और प्रतीक-विधान अपर्याप्त हैं। उसके लिए भाषा के प्रचलित ढांचे को विचलित करना और जन-भाषा के करीब लाना लाजमी है लेकिन उनका रवैया अंधलोकवादी नहीं है। वे लोक-साहित्य से ही नहीं, अन्य कलाओं और अनुशासनों से जुड़ना और उनसे प्रतीकों-बिंबों को ग्रहण करना भी आवश्यक मानते हैं।

काव्यरूपों में से विशेष रूप से उन्होंने लंबी कविता की चर्चा की है। उनका विश्वास है कि कविता के फार्म और सामाजिक ढांचे में निश्चय ही एक रिश्ता होता है। छायावादी युग में सामाजिक ढांचे में बदलाव की वजह से स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति बढ़ी और प्रबंधात्मक रूप विधान का शिकंजा ढीला पड़ा और नये-नये काव्य रूपों की खोज होने लगी। आज की उलझी हुई स्थितियों और जटिल परिस्थितियों के संदर्भ में प्रबंधात्मक रूप-विधान अक्षम है। युग और सर्जक की रुचि और क्षमता के अनुरूप लंबी कविता की संरचना में परिवर्तन की संभावना को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसकी संरचना संबंधी कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं।

(क) प्रदीर्घता के आधार पर ही कविता लंबी नहीं होती।

(ख) लंबी कविता को लंबी कविता बनाने वाली कोई केंद्रीय स्थिति ही होती है जिसके गिर्द संदर्भ, प्रसंग और अनुस्पंदन उभरते रहते हैं।

(ग) यह जरूरी है कि उसकी क्रमबद्धता और संबद्धता को सर्जनात्मक धरातल पर अंतर्ग्रथित करने वाला कोई केंद्रीय व्यापार विचार या बिंब हो।

(घ) लंबी कविता पर छोटी कविता या प्रगीत की अन्विति के नियम लागू नहीं किए जा सकते। प्रगीत में अन्विति सीधी, सपाट सतह पर झलकती है एक क्रम में, एक तर्क में, एक निष्कर्ष में ढली हुई जबकि लंबी कविता अपने रचना-विधान में क्रम और निष्कर्ष का प्रायः अतिक्रमण कर जाती है। लंबी कविता ऊपर से विशृंखल और अराजक लगते हुए भीतर से संगठित भी हो सकती है। प्रगीत में संवेदना का स्वरूप आत्मपरक रहता है जबकि लंबी कविता में यथार्थपरक। प्रगीत मुख्यतः भावमूलक होता है जबकि लंबी कविता में विचार या वैचारिक अनुभूति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

(ङ) लंबी कविता में कथा-संदर्भों संकेतों प्रसंगों और उद्धरण का चित्रण

रहता है किंतु उनकी सत्ता या चमक अलग से नहीं दिखनी चाहिए। उनके विन्यास में आनुषंगिक भावनाओं, प्रसंगों और तथ्यों को काव्यात्मक संवेदना और केंद्रीय विचार के संदर्भ में तानना जरूरी है ताकि तमाम प्रसंग और संदर्भ मिल-जुलकर अंतर्संयोजित होकर कविता की मूल संवेदना को गहराने में सहायक हों।

(च) लंबी कविता की रचना-प्रक्रिया का एक अंतर्वर्ती पहलू है सर्जनात्मक तनाव। उसमें सर्जनात्मक तनाव के विविध रूप, स्तर और धरातल विद्यमान रहते हैं। लेकिन लंबी कविता में सर्जनात्मक तनाव का दीर्घकालिक और विस्तृत फलक पर अपनी रचनात्मकता सिद्ध करना जरूरी है।

(छ) लंबी कविता के रचना-विधान का अनिवार्य गुण है, नाटकीयता। इसके बिना आज के जीवन की अंतर्विरोधी परिस्थितियां उजागर नहीं हो सकतीं।

(ज) लंबी कविता अंतहीन और समापन-रहित हो सकती है, यथार्थबोध और संरचना दोनों स्तरों पर।

नरेन्द्र मोहन की आलोचनात्मक मान्यताओं के इस पर्यवेक्षण में स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सर्वत्र अतिवादिता से परहेज किया है। चाहे समकालीन बोध बनाम इतिहास और परंपरा का मुद्दा हो या अनुभव और विचार में किसी एक को वरीयता देने का प्रश्न अथवा आधुनिकता को मूल्य या प्रक्रिया ठहराने के प्रति आग्रही दृष्टि ही हो—वे उनके बीच सर्वत्र संतुलन तलाशने की कोशिश करते हुए प्रतीत होते हैं। किंतु यह संतुलन कृत्रिम अथवा आरोपित नहीं होता। वे ठोस तर्कों के बल पर शिविरधर्मियों के निष्कर्षों की कमियों और खामियों को उजागर करते हुए उनके बीच ऐसे सेतु-बिंदुओं को भी रेखांकित करने का प्रयास भी करते हैं जिनसे उनका पारस्परिक विरोध, विरोधाभास ही प्रतीत होने लगता है।

कविता नरेन्द्र मोहन के लिए जिंदा रहने के सार्थक आधारों की खोज की कोशिश है। उनका विश्वास है कि दुनिया में अन्याय, शोषण और दमन के रहते, मानवीय संभावनाओं की चरितार्थता मुमकिन नहीं है। इसलिए स्वाभाविक रूप से विद्रोह और संघर्ष ही आज की कविता के केंद्रीय सरोकार हो गए हैं। संघर्ष की मानसिकता रचनाकार को, किसी मतवाद की तोतारटंत अथवा दलगत राजनीति के अंधानुसरण से हासिल नहीं हो सकती। विद्रोह को मूल्य रचनाकार जिंदगी में से उठाता है और उसे बेहतर बनाने के लिए जिंदगी को ही सौंप देता है। इसके लिए यदि एक ओर उसको निजी हानि-लाभ से निरपेक्ष होकर जिंदगी की वास्तविक स्थितियों से जूझना और टकराना होगा तो दूसरी ओर मूल्यों की प्रतिबद्धता, संस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा और सामान्य-जन के प्रति लगाव को शिथिल होने से भी बचाना पड़ेगा। यथास्थिति को तोड़ने और व्यवस्था के तिलस्म को छिन्न-भिन्न करने के लिए रचना की सबवर्सिव क्रिया को कथ्य के स्तर तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, उसे भाषा और मुहावरे के मोर्चे पर

भी सक्रिय करना होता है। आज के जटिल, संश्लिष्ट, गतिशील यथार्थ की पहचान और अभिव्यक्ति के लिए जिंदगी की ठोस परिस्थितियों से अर्जित विचार के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वे विचार अनुभव, संवेग के नवीन समीकरण की प्रतिष्ठा की जरूरत पर बल देते हैं। इसके साथ ही, भाषा के प्रचलित रूप को तोड़ने, उसे जन-भाषा के करीब लाने और विविध कलाओं और ज्ञानानुशासनों से उसे अर्जित करना भी आवश्यक मानते हैं।

कथालोचना के आयाम

डॉ० कीर्ति केसर

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने साहित्कि क्षेत्र में अपनी पहली पहचान आलोचक के रूप में बनाई थी। आज इस वर्तमान दौर मे (नौवें-और दसवें दशक मे) आलोचना की जो स्थिति है उस में डॉ० नरेन्द्र मोहन की साहित्यिक सेवाओ का जब भी मूल्यांकन किया जाएगा उनका आलोचना कर्म ही उनकी विशिष्ट पहचान होगा मुझे ऐसा लगता है। मेरी इस धारणा की पुष्टि के लिए उनकी कथा-योजना के अध्ययन के कुछ तथ्य प्रस्तुत है :—

डॉ० नरेन्द्र मोहन की आलोचना की पहली पुस्तक 'आधुनिकता और समकालीन रचना सदर्भ' 1973 ई० में छपी थी जिसमें उनके आलोचकीय आधार तथा उपकरण स्पष्ट रूप से उजागर हो गए थे। उस समय आधुनिकता विवादग्रस्त एवं बहुचर्चित विषय था। इसकी बहुत-सी, विसंगगितयां तथा असगतिया थीं परंतु उसकी प्रासंगिकता को दो टूक नकारा नहीं जा सकता था। इतनी सस्कारशील पारंपरिक सामाजिक-वैयक्तिक मानसिकता का कायाकल्प वह भी चुटकी बजाकर संभव नहीं था। निस्संदेह आधुनिकता अर्थात् पश्चिमीकरण, औद्योगिक विकास अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, नई टैक्नोलॉजी तथा पश्चिमी विचार-धाराओं जैसे मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद और मानववाद का प्रभाव हमारे समकालीन समाज के शिक्षित वर्ग पर बहुत ज्यादा पड़ा परंतु यह प्रभाव बाह्य ज्यादा था आंतरिक कम था। बुद्धिजीवी वर्ग संक्रमण की स्थिति में था। खासतौर पर मध्यवर्ग तो दुविधा में था किंकर्त्तव्य विमूढ़ की स्थिति में। उसकी दोहरी मानसिकता को दोहरे मानदंडों के साथ जी रहा था। कहीं-कहीं आधुनिकता फैशन क तौर पर भी अपनाई जा रही थी। बहुत से रचनाकार कस्बाई मानसिकता और ग्रामीण सवेदना लेकर अर्थात के सस्कार और विचार लवर

के कारण समकालीन समाज की जीवन शैली और सोच दोनों में साठवें दशक तक तीव्र परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। ऐसी सारी वस्तुस्थिति की प्रतिच्छवियां कथा साहित्य (कहानी और उपन्यास) में भी प्रकट होने लगी थीं। इस परिदृश्य में जो आधुनिक सभ्यता विकसित हो रही थी उसके कारण पारंपरिक समाज में सांस्कृतिक विघटन भी शुरू हो गया था। बहुत-सी नैतिक मान्यताएं अप्रासंगिक हो गई थीं। कुछ के सामने प्रश्नचिन्ह लग गया था। नया मूल्यबोध प्रकट हो रहा था। इस वस्तुस्थिति में जहां रचनाकारों ने कथा साहित्य में वैचारिक सूत्र आधुनिकता को बनाया वहां बहुत से आलोचकों ने भी आधुनिकता की अवधारणा को कथा-साहित्य के मूल्यांकन का आधार बनाया।

समकालीन आलोचना में आधुनिक विचारधाराओं के आधार पर मुख्य तीन स्कूल स्पष्ट दिखाई देते हैं।

पहला प्रगतिशील विचारधारा से जुड़ा मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को अपना आलोचकीय आधार मानने वाला स्कूल। इसमें डॉ० रामविलास शर्मा तथा डॉ० नामवर सिंह और निर्मला जैन आदि नाम मुख्य हैं। दूसरा आधुनिकता तथा भारतीयता के बीच समन्वय की संभावनाएं तलाश करने वाला जिसमें डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विजयेन्द्र स्नातक और डॉ० नगेन्द्र उल्लेखनीय हैं। इस गंगा-जमुना के बीच एक सरस्वती के रूप में थे डॉ० इन्द्रनाथ मदान जिन्होंने समाज-शास्त्रीय तथा इतिहास बोध के आधार पर आधुनिकता की बात ऊंचे स्वर में दृढ़ निश्चय के साथ की थी। मुझे लगता है इसी परंपरा को नरेन्द्र मोहन ने कुछ अधिक संतुलित तथा संबंधित रूप में आगे बढ़ाया। उन्होंने अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ' का परिचय उपन्यास और कहानी साहित्य में कराया। उन्होंने कथा साहित्य के समकालीन संदर्भों के घटनाचक्र से हटकर उसके आंतरिक यथार्थ की पड़ताल की। यह पड़ताल उसके अस्तित्वबोध, मानव स्थितियों तथा समकालीन भावबोध के ऐतिहासिक दबावों के बीच से शुरू होती है और मानवीय सरोकारों तथा मानव मूल्यों तक पहुंचती है। जब कथा साहित्य में विसंगति और विडंबना की अराजकता प्रकट होने लगती है और संक्रमण की निराशा, कुंठा, अवसाद, भय और आशंका की बनावटी स्थितियां चित्रित होने लगती हैं तो आधुनिक भाव-बोध की आलोचना नये तथ्यों, नये प्रसंगों तथा नई सोच की प्रामाणिकता को उजागर करती है। तब कथा-साहित्य में समकालीनता के साथ एक नवचेतना—जिसे नरेन्द्र मोहन आधुनिकता का नाम देते हैं—की पहचान की स्थापना का वैचारिक कर्म शुरू होता है तथा 'नगरबोध' का आधार लेकर 'रचना रूढ़ियों' के टूटने की प्रक्रिया को सूक्ष्म स्तर तक पहचान लिया जाता है। यह उस आलोचना का सामर्थ्य है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन की दूसरी पुस्तक 1978 ई० में आई। नाम था—'सम-

कालीन कहानी की पहचान' इसमें कहानी साहित्य पर लगभग तेरह लेख है। समकालीन कहानी के विविध संदर्भों की बात पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार, गहराई तथा नये भावबोध के साथ की गई। इसमें विश्लेषण और अधिक स्पष्ट तथा विवेचन अधिक ठोस आधारों पर किया गया। संदर्भों में पहचान के आधुनिकता के पूर्वाग्रहों की कोई झलक नहीं दिखाई देती। रचना के बीच से गुजरकर रचना की पहचान प्रस्तुत की गई है। कहानियों के ब्यौरों तथा संवेदनात्मक अभ्यतियों में 'फेक' आधुनिकता को भी रेखांकित किया गया। कथा साहित्य क नये संदर्भों में आए वैचारिक, संवेदनात्मक तथा शिल्पगत परिवर्तनों को रेखांकित तो किया ही गया है उनकी 'प्रामाणिकता' की परख ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिदृश्य के अनुसार की गई है। अर्थात् इस पुस्तक में आलोचक समकालीन कथा-साहित्य की एक सम्यक्-समग्रता से पहचान प्रस्तुत करता है और यह पुस्तक पहली पुस्तक का संशोधित एवं परिष्कृत रूप है और आलोचना का रूप ज्यादा निखरा हुआ दिखाई देता है।

'आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी' 1982 ई० में यह पुस्तक छपी। इस पुस्तक में 'आधुनिकता' पर प्रचलित लंबी बहस को कथा-साहित्य के संदर्भ मे पारिभाषिक रूप दिया गया। कोई सूत्र वाक्य तो नहीं बनाया, हां, उसे एक आकृति या पहचान देने का भरसक प्रयास किया। उनके निष्कर्ष हैं—

"आधुनिकता कोई निरपेक्ष धारणा या निरंकुश सिद्धांत नहीं है, यह गतिशील आधुनिक स्थिति है जिसका स्वभाव ठहरना नहीं निरंतर बदलना है, काल धारणा से मुक्त वह कोई सनातन क्रिया नहीं आधुनिक युग की गतिशील प्रक्रिया है। आधुनिकता इसी प्रक्रिया से बनी मानसिकता है जो हर बंधी-बंधाई व्यवस्था, रूढिगत मर्यादा और बद्धमूल धारणा को तोड़ती है, जो किसी एक मूल्य, धारणा या सिद्धांत को चरम नहीं मानती बल्कि उसे स्वीकारने से पूर्व जांचने-पड़तालन पर बल देती है। यह इतिहास-विरोधी, मूल्य-निषेधी प्रक्रिया नहीं है, इतिहास के संदर्भ में मूल्यान्वेषण की सतत प्रक्रिया से अर्जित मानसिकता है।"[1]

इसे वे इस तरह भी रूपायित करते हैं—

"आधुनिकता आधुनिक जिंदगी के दबावों, आधुनिक आदमी की सोच और चिंतन उसके अस्तित्व, उसकी द्वंद्वपूर्ण प्रश्नाकुलता और संघर्षशील मानसिकता से बना एक दृष्टिकोण है जिसे आधुनिक मनुष्य ने अपनी सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक चक्रों को समझते हुए और उनसे गुजरते हुए अर्जित किया है।"[2]

---

1 आधुनिकता के संदर्भ में हिंदी कहानी—डॉ० नरेन्द्र मोहन. पृ० 14

2 वही पृ० 11

आधुनिकता की इस अवधारणा को ठोस आधार बनाकर समकालीन कहानी मे आधुनिक संवेदना, आधुनिक बोध, आधुनिक रचना संदर्भ तथा आधुनिक शिल्प की खोज करके जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके सारांश प्रस्तुत हैं जो उल्लेखनीय भी हैं, विचारणीय भी—

एक—आधुनिक बोध की कथा-साहित्य में शुरुआत प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पूस की रात' और 'कफन' कहानी से मानी जा सकती है। यही से शिल्पगत सांचे भी टूटने शुरू हुए।

दूसरा—स्वतन्त्रता के बाद कथा-साहित्य में आधुनिकता-बोध की अभिव्यक्ति दो स्तरो पर हुई है—एक सभी कुछ को फूहड़, अर्थहीन और निरर्थक करार देने वाला, दूसरा सभी कुछ को क्रांति की आग में दमकता हुआ दिखाने वाला। एक जटिलता, विसंगति और विडबना के विधानों पर टिका हुआ और दूसरा संकल्प और निर्णय के शिखरों पर चढ़ा हुआ।[1]

तीसरा—साठोत्तरी कहानी में आधुनिकता-बोध स्थिति के तर्क में लिपटा हुआ है। इस दौर का लेखक स्थिति में इस कदर मुब्तला है कि उसके परे, उससे आगे वह नहीं देख पाता। हां, स्थितियों का चित्रण करने, स्थिति और चरित्र की विसंगति और विडंबना का विधान करने, स्थिति का चरित्र निरूपण करने मे उनकी तबियत खूब रमी है···जन आंदोलनों के सदर्भ में एक पूरी सोच यह कहानी देती है और सोच को क्रियान्वित करने वाला विचार भी। यह विचार आधुनिक बोध की प्रारंभिक धाराओं स्थिति और नियति को उलांघ करके आधुनिक बोध की सक्रिय संघर्ष और सामाजिक संरचना की पहचान की ओर ले जाने वाला है।

चौथा—हम इस बात से भी सहमत हैं कि 'क्रांतिकारी आधुनिकता' के नाम पर छद्म न पनपे और कहानीकार अतिरिक्त उत्साह और ऊर्जा में ऐसे उपायो की पैरवी करना न शुरू कर दें जो हमारे अहसास से कोसों दूर हों और जिनका हमारी परिस्थितियों से कोई ताल्लुक न बैठता हो।

पांचवां—यह सही है कि जब कोई कहानी तनाव का समाहार करने लग जाती है तो उसे आधुनिक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक कहानी संभावनाओ को अवरुद्ध नहीं करती, उन्हें खुला छोड़ती है—यह निर्णय की कमी का नही उसकी पहचान का सबूत है···एक गढ़ा हुआ रचनातंत्र, चक्करदार शिल्प, चालू मुहावरों वाली उत्तेजक भाषा बनावटी आधुनिकता की निशानियां हैं···।[2]

आधुनिकता के विवाद के साथ समकालीनता के विवाद को भी उन्होंने

1 आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी, डॉ० नरेन्द्र मोहन, पृ० 19, 21

2 वही पृ० 22 24

सुलझाने का प्रयत्न किया। समकालीनता की परिभाषा देते हुए उन्होंने वाद-प्रतिवाद की संभावनाओं के प्रतिरोध में रक्षात्मक रवैया भी अपनाया है। उनका यह कथन उल्लेखनीय है—"समकालीनता का अर्थ किसी कालखंड या किसी दौर मे व्याप्त स्थितियों और समस्यायों का निरूपण नहीं है बल्कि उसे ऐतिहासिक अर्थ में समझना, उसके मूल स्रोत तक पहुंचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है। समकालीनता एक ठहरी हुई, गतिहीन और जड़ स्थिति नहीं है बल्कि यह ठहराव गतिहीनता को सख्ती और निर्ममता से तोड़ने वाली गतिमान ऐतिहासिक प्रक्रिया और चेतना है।"[1]

बात जब डॉ० नरेन्द्र मोहन की कथालोचना की चल रही है तो उनकी चौथी पुस्तक 'समकालीन हिन्दी उपन्यास' का भी उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि यह भी इस सिलसिले की एक कड़ी है। इस पुस्तक में 1950 ई० से 1978 ई० तक के सभी चर्चित एवं साहित्यिकता के लिए महत्त्वपूर्ण उपन्यासो की शोधात्मक आलोचना की गई है। इन रचनाओं की साहित्यिक मूल्यवत्ता को उजागर करके आलोचक ने अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है। साथ ही इतिहास-क्रम मे विकास पाने वाले सामाजिक एवं मानवीय सरोकारों तथा विचारधाराओं, समाज और व्यक्ति के भाव तथा विचार जगत् की थाती को एक जगह एकत्र करके उसे सग्रहणीय बना दिया है। इस लंबे सिलसिले में प्रतिनिधि रचनाएं सिंह सेनापति' (राहुल सांकृत्यायन), मुर्दों का टीला, (रांगेय राघव), वैशाली की नगर वधू (आचार्य चतुरसेन शास्त्री), मृगनयनी (वृंदावनलाल वर्मा) बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी), मैला आंचल (फणीश्वरनाथ रेणु), बूंद और समुद्र (अमृत लाल नागर), सूरज का सातवां घोड़ा (धर्मवीर भारती), अपने अपने अजनबी, नदी के द्वीप (अज्ञेय), झूठा सच (यशपाल), तमस (भीष्म साहनी), अंधेरे बंद कमरे (मोहन राकेश), वह पथ बंधु था (नरेश मेहता), वे दिन (निर्मल वर्मा), जल टूटता हुआ (रामदरश मिश्र) से होता हुआ यह पहचान और परख का सिलसिला यह भी नहीं (महीपसिंह) दूसरी तरफ (महेन्द्र भल्ला) राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल) और जगदंबा प्रसाद दीक्षित के उपन्यासों—कटा हुआ आसमान, मुर्दाघर और 'इतिवृत्त' तक पहुंचता है।

इस पूरे अध्ययन से डॉ० नरेन्द्र मोहन की कथालोचना की कुछ अपनी विशेषताएं प्रकट हुई हैं जो इस आलोचना की एक अपनी पहचान बनाती हैं। पहला, उनकी आलोचना विश्लेषणात्मक तथा विवेचनात्मक है। इससे कथा-साहित्य के (उपन्यास और कहानी) संश्लिष्ट अभिप्राय उजागर हुए हैं। उनकी आलोचना दृष्टि रचना को अपने निजी फ्रेम में फिट नहीं करती बल्कि रचना की बाह्य

1 आधुनिकता के संदर्भ मे हिंदी कहानी—डा० नरेन्द्र मोहन पृ० 26

बुनावट तथा अंत: चेतना में निहित अभिप्रायों को उजागर करती है। ऐतिहासिक परिवेश के रचना में गुंथे हुए दबावों तथा लेखकीय नजरिए के रचनात्मक प्रयोजनों की परख तथा पहचान भी प्रस्तुत करती है। रचना की निर्मिति की परख करके उसमें निहित मूल्य बोध की संभावनाओं को भी उजागर करती है तथा यह आलोचना रचना के किसी भी गैर रचनात्मक अमानवीय या मानवीय संवेदना से रहित अवांछित रवैये को भी रेखांकित करने से संकोच नहीं करती।

दूसरे, इस कथालोचना के कोई बने-बनाए सांचे नहीं है—कुछ मानवीय सरोकारों के आधार हैं जो सभी प्रकार की रचना दृष्टियों (अस्तित्ववादी, मार्क्सवादी, आधुनिकतावादी, परंपरावादी, महानगरीय और कस्बाई) की रचनाओं के बिना किसी पूर्वाग्रह के तटस्थ भाव से गुणात्मक (Postlive) रचनाबोध से पहचानती और परखती है। मार्क्सवादी सौंदयशास्त्री आलोचना ने अज्ञेय जैनेन्द्र और इलाचंद्र जोशी जैसे लेखकों को प्रतिक्रियवादी कह जो 'लट्ठभांज अस्वीकार' का रवैया अपनाया था उससे तो साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा निष्कासित हो जाने का ख़तरा पैदा हो गया था। डॉ० नरेन्द्र मोहन ने खतरे को नकारा नही तो टालने के लिए या रचनाओं की ऐतिहासिकता की रक्षा के लिए जो सक्रिय आलोचनात्मक रवैया अपनाया उससे रचनाओं की रक्षा के संकेत स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। "हमें पसंद नहीं हैं" यह हमारे अनुसार नही है यह कहकर रचनाओं को अस्वीकरना भी एक बहुत बडी वैचारिक संपदा का अपमान करना है। नरेन्द्र मोहन आलोचना में इस अपमान-वृत्ति को नाकारा करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। प्रवृत्तिमूलक बहस का सूत्रपात करते हैं। किसी को जलील करने की बजाए दलील के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार की बात करते हैं। अज्ञेय के उपन्यासों—'शेखर एक जीवनी', 'अपने-अपने अजनबी तथा 'नदी के द्वीप' की बहुत ईमानदार सारगर्भित-सार्थक आलोचना प्रस्तुत की है। उनकी कहानियों के सामाजिक पक्षों को उजागर किया है तो अतिवैयक्तिता का खुला निषेध भी किया है। संभवत: उस लट्ठभांज आलोचना कौशल के दौर में (छठे-सातवें दशक) मे इसकी बहुत आवश्यकता थी क्योंकि यह समाज जिससे साहित्य जन्म लेता है और जिसमें विकास पाता है, जिसकी आवश्यकता बनता है—कोई निरीह जानवरों का झुंड नहीं है कि एक लाठी से हांककर बाड़े में भरने का अधिकार किसी एक 'वैचारिक संप्रदाय' को दे दिया जाए। यह साहित्य विविधताओं के द्वंद्व, संक्रमण, टकरावों तथा समन्वय की निष्पत्ति होता है। इसके लिए सहनशीलता, धैर्य एवं सौहार्द चाहिए गाली-गलौज और धमकियाँ नहीं। यह गुण डॉ० नरेन्द्र मोहन की कथालोचना में सर्वत्र दिखाई देता है—कहानी में भी उपन्यासों मे भी। वहां प्रेमचन्द और अज्ञेय में टकराव नहीं बल्कि ऐतिहासिक परिवेश की स्थितियों एव प्रसंगों की तलाश की गई है, विरोध नहीं बल्कि शुभ तथा

सार्थक प्रयोजनों को दोनों में खोजा गया है। इस प्रकार संश्लिष्ट आलोचना दृष्टि से आलोच्य कृतियां भी लाभान्वित हुई हैं।

इस कथालोचना की तीसरी विशेषता यह है कि उसने किसी गैर साहित्यिक कृति को चुना ही नहीं। साहित्य गुणवत्ता के आधार पर आलोच्य कृति के चुनाव ने उन्हे नकारात्मक (Negative) सोच की तरफ जाने से ही बचा लिया है। अपने आस-पास उन्होंने अवांछित वैचारिक घेरे कदाचित् बनाए ही नहीं।

उनकी आलोचना दृष्टि की चौथी विशेषता है उसका इतिहास-बोध : बात आधुनिकता की हो या समकालीनता की, इतिहास बोध की चिंता उन्हें निरंतर लगी रहती है। उपन्यासों में ही नहीं कहानियों में ऐतिहासिक परिवेश के दबावों और तनावों को झेलने तथा समेटने और परिस्थितियों के संवेदनशील 'प्रामाणिक' ब्यौरों की बात वे निरंतर करते हैं—यह 'प्रामाणिकता' प्रकारांतर से इतिहास की गवाही पर ही निर्भर है। इसलिए प्रवृत्तिमूलक दृष्टि निवृत्ति के लिए ही निषेध करती है। निषेध, निषेध के लिए कथालोचना में शायद ही कहीं देखने को मिले, व्यष्टिमूलक पसंद नापसंद नहीं बल्कि समष्टिमूलक सत्य ही प्रेरक शक्ति हैं। आलोचना में यथार्थवाद की उनकी अवधारणा के साथ भी सांस्कृतिक भावबोध इतिहासबोध में घुल-मिलकर प्रकट हुआ है इसका लाभ यथार्थवादी नजरिए की क्लासिक कृतियों को पहुंचा है जैसे मुर्दाघर, रागदरबारी आदि।

इतिहास बोध की प्रबलता ने उनकी आलोचना में कहानियों तथा उपन्यासो के रचना तथा विकास क्रम को इतिहासकाल की सापेक्षता में समझा है तो उसे ऐतिहासिक क्रम में बांधा भी है। 'समकालीन हिन्दी उपन्यास शास्त्रीय आलोचना को विदाई' पुस्तक मे उन्होंने उपन्यास (हिंदी) की प्रवृत्तियों के विकास को काल-क्रम में रखकर परखा और पहचाना है अत: कालखंड के साथ प्रवृत्तिमूलक विकास या परिवर्तन स्वत: ही क्रम से अंकित हो गया है।

नरेन्द्र मोहन ने अपनी कथालोचना में यथार्थवादी चित्रण की रूढ़ि का निषेध किया है तो आधुनिकता के सन्त्रास, अकेलेपन, अजनबीपन और यौन चित्रण के अनुभववादी जड़ चित्रण की भर्त्सना भी की है। दोनों ही अतिवादी रूढ़ियो की निरर्थकता को रेखांकित किया है। उनकी मान्यता है कि "व्यंग्य और कटाक्ष के अभाव में यथार्थवाद की कोई रचनात्मक सार्थकता नहीं है।" सामाजिक समस्यायों की भिन्नता को लिए हुए यह विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न कालखंडो मे लिखे गए उपन्यास एक साथ नरेन्द्र मोहन की आलोचना का विषय बनकर एक संश्लिष्ट सामाजिक दृष्टि को संप्रेषित करते दिखाई देते हैं। उन्होंने एक खास प्रकार की आलोचना की आक्रामता से बहुत-सी रचनाओं की महत्ता की रक्षा करने का बीड़ा उठाया है। उनका कथन है, "हम जानते हैं कि एक लंबे समय तक अस्तित्ववाद के प्रभाव के अधीन व्यक्ति को समाज और इतिहास से काटकर

देखने की कोशिशें हुईं और व्यक्ति के अकेलेपन, बेगानेपन, आत्मपरायेपन और विकल्पहीनता की भी दुहाई दी गई। समकालीनता के पहले दौर में, नई कहानी-दौर की कहानियों में अस्तित्ववाद का इतना दबदबा रहा कि डॉ० नामवर सिंह जैसे आलोचक भी उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' में मार्क्सवादी 'ऐलीनेशन' ढूंढ़ने लगे।" डॉ० नरेन्द्र मोहन ने अपनी कथालोचना में इस यथास्थिति को भी तोड़ा है।

अंततः कुछ भाषा के बारे में : जटिल आलोचना कर्म में भाषा का बहुत सरल होना शायद संभव नहीं है। फिर भी भाषा को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयास इस आलोचक की तरफ से होता रहा है। अंग्रेजी शब्दों का कठिन अनुवाद करने की अपेक्षा उन्होंने उसके प्रचलित रूप का ही प्रयोग किया है किंतु एकाएक अप्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं अस्वाभाविक लगता है और चौंकाता भी है। एक तथ्य और है जो प्रश्न बनकर उभरता है कि इतना आलोचना कर्म करने के बाद डॉ० नरेन्द्र मोहन ने उससे किनारा क्यों कर लिया? उसे सैद्धांतिक रूप पाने तक निभाया क्यों नहीं अर्थात् इतनी सारी साधना तथा उपलब्धि के बावजूद इस कथा-आलोचना को कोई सैद्धांतिक रूप क्यों नहीं मिला यह प्रश्न, प्रश्न ही रहता है।

कहानी आलोचना के नए प्रतिमान

—डॉ० रत्नलाल शर्मा

समकालीन आलोचना में डॉ० नरेन्द्र मोहन का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने मात्रा की दृष्टि से ही अधिक नहीं लिखा है, अपितु गुणवत्ता की दृष्टि से भी उनके आलोचना लेखन में वज़न है। उनकी आलोचना शिक्षक-दायित्व के निर्वाह के लिए नहीं है, अपितु आलोचना धर्म के निर्वाह का परिणाम है। उन्होंने आलोचना को अपनी अभिव्यक्ति का विशेष माध्यम बनाया है और उनकी आलोचना के केंद्र में रहा है—समकालीन साहित्य। यह समकालीन साहित्य कविता, लंबी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक जैसी प्रमुख यानी मेजर विधाओं में है जिन पर उन्होंने जमकर लिखा है। यह भी कहा जा सकता है कि उनकी आलोचना विविध आयामी है। वह अपने आलोच्य विषय को उसके एक पक्ष के आधार पर उद्-घाटित नहीं करते, अपितु उनके कई पक्षों को एक-एक करके प्रस्तुत करते चले जाते हैं।

डॉ० नरेन्द्र मोहन विचार कविता आंदोलन और लंबी कविता आंदोलन के एक सूत्रधार रहे। इस नाते उन्होंने इन दोनों काव्य-रूपों पर अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखीं और विवेचनात्मक लेख लिखे। यह सही है कि विचार कविता अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित नहीं कर सकी परंतु इस आंदोलन का इतना प्रभाव तो अवश्य पड़ा कि विचारशून्यता की ओर अग्रसरित तत्कालीन हिंदी कविता में विचारों को अंतर्ग्रथित करने की प्रवृत्ति पुनः पनपने लगी। हां, लंबी कविता आंदोलन से कवियों का रुझान लंबी कविता की रचना करने की ओर अवश्य हुआ और वह स्वतन्त्र विधा के रूप में स्थापित हो गई।

समकालीन कथा-साहित्य को भी उन्होंने अपनी आलोचना का आधार बनाया और कहानी-उपन्यास पर कितने ही आलोचनात्मक लेख लिखे। इस प्रकार वह समकालीन साहित्य के प्रमुख समकालीन आलोचक हैं। इस दृष्टि से पंद्रह समकालीन आलोचकों की एक सूची बनाई जाए तो उसमें डॉ० नरेंद्र मोहन का भी नाम होगा। इसकी पृष्ठभूमि में उनका आलोचनात्मक लेखन है जिसमें उन्होंने

अपनी आलोचना का स्तर बनाए रखा है और हिंदी आलोचना को आंदोलित किया है। उन्होंने आलोचना को नई भाषामय अभिव्यक्ति दी, उसमें नए अर्थ भरे और आलोचना का सशक्त शिल्प भी दिया। अवश्य ही वह समर्थ आलोचक हैं जिन्होंने अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। हमें उनकी आलोचना में सहृदय प्रबुद्ध पाठक से साक्षात्कार होता है जिसके पास लंबे समय के व्यापक अनुभव हैं, अर्जित ज्ञान है, विवेचन की सूक्ष्म दृष्टि है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० नरेन्द्र मोहन की विशेष अभिव्यक्ति साहित्य की विभिन्न विधाओं की आलोचना के माध्यम से होती है और आलोचना के रूप में वह अधिक प्रतिष्ठित हैं। कहानी आलोचना के क्षेत्र में भी उनका सराहनीय योगदान है। उनकी अधिकांश कहानी आलोचना का लेखन आठवें दशक में हुआ और थोड़ा-सा तत्संबंधी लेखन सातवें दशक में और नवें दशक के प्रारंभ में हुआ। इस क्रम में उन्होंने तीन दशकों की कहानी यानी छठे, सातवें, आठवें दशक की हिंदी कहानी पर अपना ध्यान केंद्रित रखा है। इसमें भी उन्होंने छठे दशक की कहानी यानी नई कहानी पर सर्वाधिक लिखा है, सातवें दशक की कहानी पर उससे कम और आठवें दशक की कहानी पर सबसे कम लिखा है। सातवें दशक की कहानी पर लिखते समय उनके सामने केवल अकहानी और सचेतन कहानी रही है। इनसे हटकर भी उस समय कहानी लिखी जा रही थी, उस ओर उनका ध्यान ही नहीं गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० नरेन्द्र मोहन ने उस समयावधि की कहानी को अपनी आलोचना का मुख्य आधार बनाया जब उनके आलोचक का व्यक्तित्व बन रहा था, निखर रहा था और उनके प्रत्यक्ष अनुभव परिपक्व हो रहे थे। यह भी कहा जा सकता है कि वह कहानी आलोचना लिखते समय पूर्णतः अपने समय के साथ रहे हैं और साथ-साथ चले हैं। यह अलग बात है कि वह पूर्व कहानी मे संदर्भ के लिए गए हैं या उस कहानी के माध्यम से अपने समय की कहानी को अधिक अच्छी तरह समझना चाहते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि अपने समय के साहित्य पर लिखना कठिन होता है, क्योंकि उसकी निंदा या स्तुति का खतरा बना रहता है जो आलोचक नरेन्द्र मोहन के साथ नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके पास विवेकसम्मत संतुलित दृष्टि है।

तो उनकी कहानी आलोचना का मुख्य विवेच्य विषय है—समकालीन कहानी। इस क्रम में यहां कई प्रश्न उठते हैं। समकालीन कहानी क्या है? इसकी विशेषताएं क्या है? उसकी सामान्य प्रवृत्तियां क्या हैं? उसका रचना-विधान क्या है? वह अपनी पूर्व कहानी से कितनी अलग है? अगर हम ऐसे ही प्रश्नों के आलोक में समकालीन कहानी की पहचान करना चाहते हैं तो इसके कई आधार हो सकते हैं। उनमें से दो मुख्य आधार हैं—(1) समकालीनता और (2) आधु-

निकता। डॉ० नरेन्द्र मोहन ने इन्हीं दो आधारों को लेकर समकालीन कहानी की जाच-पड़ताल की है जिसे कहानी आलोचना की उनकी दो पुस्तकों में देखा जा सकता है जो इस प्रकार हैं—(1) समकालीन कहानी की पहचान और (2) आधुनिकता में संदर्भ के हिंदी कहानी जिनका प्रकाशन वर्ष क्रमश: 1979 और 1982 है।

प्रश्न उठता है, समकालीनता क्या है और तब समकालीन कहानी क्या है? डॉ० नरेन्द्र मोहन इसका उत्तर देने से पहले समकालीन के कई रूपों को एक-एक करके प्रस्तुत करते हैं और फिर हर बार कहते हैं कि समकालीन कहानी यह नहीं है, वह नहीं है और अंत में बताते हैं कि वह क्या है। जैसे वह कहते है कि समकालीनता का अर्थ किसी काल-खंड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण निरूपण या बयान-भर नहीं है, बल्कि उन्हें ऐतिहासिक अर्थ में समझना, उनके मूल स्रोत तक पहुंचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है। फिर वह कहते हैं, समकालीनता केवल परिदृश्य कथन नहीं है। समकालीन जीवन मे घटित होने वाले परिवर्तनों का सघन और सश्लिष्ट रूप में रचनात्मक प्रमाण दिए बिना कोई कहानी समकालीन नहीं हो सकती। अत: समकालीन कहानी ऐतिहासिक स्थितियों और शक्तियों के लेखा-जोखा का साक्ष्य उपस्थित करने वाली एक ऐसी संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसका कहानियों में प्रतिफलन आत्मगत धरातलों से लेकर सामाजिक धरातलों तक फैला हुआ है। तभी तो वह अपनी आलोचना में विभिन्न पहलुओं, विविध धरातलों, पड़ावों और उत्थानों के आलोक मे समकालीन कहानी की पहचान कराने का प्रयत्न करते हैं।

अब प्रश्न उठता है, आधुनिकता क्या है? नरेन्द्र मोहन इसे आधुनिक युग की ख़ास मानसिकता, ख़ास दृष्टि मानते हैं जिसके मूल में वैज्ञानिकता, टेकनोलोजी और औद्योगीकरण की संस्कृति है। इससे आधुनिकता के आयाम खुलते हैं और क्षेत्र की व्यापकता के संकेत मिलते हैं। इसे दूसरे ढंग से भी स्पष्ट किया जा सकता है। "आज हमारे जीवन पर अनेक दबाव हैं जिनसे हमारी सोच प्रभावित हुई है और हमारे विचार को लकुआ मार गया है। इस सबके परिणामस्वरूप हमारा अस्तित्व खतरे में पड़ गया है और हम द्वंद्वमय जीवन जीते हैं या ढोते हैं। ऐसी ही विकट स्थितियों में हम अनेक संगत-असगत प्रश्नों से घिरे रहते हैं और इनसे खास किस्म की मानसिकता निर्मित हुई है। इस प्रकार जो दृष्टिकोण बनता है, वही आधुनिकता है जो समाज में जटिल और संश्लिष्ट संरचनागत पहलुओं का बोध कराती है तथा सांस्कृतिक आशयों और मूल्यों का परिज्ञान भी कराती है।"

प्रश्न यह भी है कि आधुनिकता का आरंभ कहां से माना जाए? इसमें विज्ञान की महती भूमिका है जिसके प्रभाव के कारण स्थापित मान्यताओं एवं धारणाओं पर प्रश्नचिन्ह लगे और असहमति, विरोध एवं विद्रोह का स्वर प्रमुख हो गया।

यह युग भारत में स्वतंत्रता के बाद शुरू हुआ जो हिंदी कहानी में छठे दशक में अभिव्यक्त हुआ, परंतु सातवें दशक में यह स्वर तीव्र हो गया जहां आक्रोश, विद्रोह और संघर्ष उभरकर सामने आए। आठवें दशक की कहानी में वास्तविक स्थिति को देखते हुए संघर्ष के बाहरी और भीतरी, वैयक्तिक और सामाजिक संदर्भ रूप व्यक्त हुए हैं।

अब हमारे सामने अगला प्रश्न यह है कि आधुनिकता का दर्शन क्या है? यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आधुनिक युग में दो दर्शन विशेषतः प्रचलित रहे हैं—अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद। आधुनिकता का संबंध इन दोनों ही दर्शनों से है। भले ही, वे एक-दूसरे के अनुकूल न पड़ते हों। सचाई यह है कि आधुनिकता का संबंध व्यक्ति की खोज और मानव मुक्ति की गतिशील धारणा से है जहां व्यक्ति और समाज के यथार्थ का उन्मेष होता है। जहां तक साहित्य से संबंध का प्रश्न उठता है, आधुनिकता साहित्य में आरोपित नहीं होती, बल्कि लेखक की रचना-दृष्टि और रचना-प्रक्रिया में घुली-मिली रहती है। इसीलिए डॉ० नरेन्द्र मोहन के अनुसार आधुनिक बोध ही प्रक्रिया और मूल्य के दोहरे स्तरों पर रचना का हिस्सा बनता है। इस प्रकार अब यह विवाद सार्थक नहीं रह गया है कि आधुनिकता मूल्य है या प्रक्रिया, बल्कि वह एक दृष्टि है।

यहां एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने आ जाता है कि आधुनिकता और समकालीनता के बीच क्या संबंध है? क्या ये समानार्थी शब्द हैं जो एक-दूसरे में समाहित हैं या हो जाते हैं? डॉ० नरेन्द्र मोहन ने इन दोनों को समानार्थी नहीं माना है, परंतु वे एक-दूसरे में समाहित जान पड़ते हैं। बस, अंतर इतना ही है कि उन्होंने आधुनिकता के अंतर्गत समकालीनता को रखकर उसके तीन भाग किए हैं जिनके आधार पर तीन दशकों की हिंदी कहानी का मूल्यांकन किया गया है। ये तीन भाग इस प्रकार हैं—समकालीन कहानी 1 (छठे दशक की कहानी), समकालीन कहानी-2 (सातवें दशक की कहानी) और समकालीन कहानी-3 (आठवें दशक की कहानी)।

इस प्रकार डॉ० नरेन्द्र मोहन ने समकालीनता को व्यापक अर्थों में लिया है और उसे आधुनिकता के समकक्ष रख दिया है, क्योंकि वह आधुनिकता को भी स्वातंत्र्योत्तर युग से मानते हैं। सचाई यह है कि बीसवीं शती के प्रारंभ से ही आधुनिक पश्चिमी-जगत की आधुनिक विचारधाराएं प्रचारित हो जाने लगी थीं और उनका प्रभाव पड़ने लगा था जिससे भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। अतः आधुनिकता का आरंभ बीसवीं शती के प्रारंभ से ही मानना चाहिए और यही माना जाता है। सामान्यतः समकालीनता का अर्थ होता है—उस समयावधि की कहानी जिसमें हमारा कहानीकार समसामयिक संदर्भों में कहानी की रचना कर रहा है जो सार्थक है और प्रासंगिक भी। यानी आलोचक

के लिए पिछले दो-तीन दशकों की कहानी को समकालीन मान लेना उचित है और यही डॉ० नरेन्द्र मोहन ने किया है। तभी तो उन्होंने कहानीगत समकालीनता की तीन दशकों की यात्रा के विभिन्न मोड़ोंऔर पड़ावों को अपना विवेच्य बनाया है।

कुल मिलाकर मुख्य मुद्दा यह है कि वह समकालीन कहानी की पहचान करने और कराने में व्यस्त रहते हैं। और इसके लिए समकालीनता और आधुनिकता के मुख्य आधार को अपनाते हैं। ये आधार अलग-अलग हैं, परंतु विवेच्य कहानी की समयावधि वही है यानी छठे, सातवें, आठवें दशक की हिंदी कहानी। पहली पुस्तक में वह समकालीनता के संदर्भ में इन मुद्दों के संदर्भ में तीन दशकों की कहानी का विवेचन करते हैं—रचनाविधान, यथार्थ, मानवस्थितियां, वैचारिकता, शैली-शिल्प, विसंगति और विडंबना, परिवेश, नैतिकता और मानवीय पहलू। उनके अतिरिक्त वह विशेष संदर्भित कहानी का विवेचन भी करते हैं जैसे—नई कहानी, सातवें दशक की कहानी, युवा पीढ़ी की कहानी, भारत विभाजन की कहानी।

उधर आधुनिकता के संदर्भ में वह आधुनिकता का बहुआयामी अध्ययन करते है और फिर तीन दशकों में कहानी को विभाजित करके उसका विवेचन करते हैं। रचनाविधान, संदर्भों और सरोकारों को भी मुद्दा बना लेते हैं। इन आधारों पर और संदर्भों में इन चार विशिष्ट कहानियों का विवेचन करते हैं—जिंदगी और जोंक (अमरकांत), गुल की बन्नो (धर्मवीर भारती), नन्हीं (शिवप्रसाद सिंह), भोलाराम का जीव (हरिशंकर परसाई)। साथ ही पंद्रह कहानी-संग्रहों को भी विवेच्य बनाते हैं। अवश्य ही वे चारों कहानियां नई कहानी की विशेष उपलब्धियां हैं और प्रतिनिधि कहानियां भी हैं जिन्हें उन्होंने संदर्भ और सरोकार का अंग बनाया है। इससे सातवें, आठवें दशक की कहानी वंचित रह गई है।

जब डॉ० नरेन्द्र मोहन कहानी-संग्रहों को चर्चा के मध्य लाते हैं तो वह कहानी-संग्रह के माध्यम से संदर्भित कहानीकार को ही उद्‌घाटित करते हैं जिससे कहानी-कार का बदलता हुआ रूप स्पष्ट हो जाता है। इस क्रम में वह तीन दशक की कहानी में से पंद्रह कहानीकारों के एक-एक संग्रह को अपने विवेचन का आधार बनाते हैं। इस प्रकार वह व्यापक अर्थों में संदर्भों और सरोकारों का आकलन करते है। फिर भी इसी समय की जनवादी कहानी और समांतर कहानी को विवेचन से बाहर रखते हैं।

'समकालीन कहानी की पहचान' में भी वह बहुत बड़ी संख्या में कहानियों और कहानी-संग्रहों को अपना विवेच्य नहीं बनाते, अपितु उनकी संख्या सीमित ही रखते हैं। हां, वह उनकी गहराई में अधिक जाते हैं और स्थल-स्थल पर पूर्वापर कहानी में आए बदलाव को अवश्य रेखांकित करते हैं। इसके साथ ही दोनों के

बीच के सामान्य एवं सूक्ष्म अंतर को स्पष्टतः रूपायित कर देते हैं। इससे उनकी अध्ययनशीलता एवं विवेकशीलता का परिचय अवश्य मिलता है। इस दृष्टि से 'समकालीन कहानी का रचनाविधान' नामक लेख विशेषतः उल्लेखनीय है जिसे इन दोनों कहानी-आलोचना पुस्तकों में दिया गया है। एक बात और भी है। इन दोनों पुस्तकों में विषय और विवेचन की पुनरावृत्ति भी हो गई है।

कुछ कमजोरियों के बावजूद डॉ० नरेन्द्र मोहन की कहानी आलोचना की विशेषताएं विशेषतः उजागर हुई हैं। उनकी स्थापनाएं सटीक हैं। उनका यह स्थापना-बिंदु तर्कसंगत है कि आधुनिक कहानी किसी भी रूप में संभावनाओं को अवरुद्ध नहीं करती, अपितु उन्हें खुला छोड़ देती है। तभी तो यह स्थिति बनी है कि उसमें चरम बिंदु का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इतना ही नहीं, यह भी हमारे सामने प्रत्यक्ष है कि आधुनिकता के दबाव से कहानी के वस्तु-विन्यास, वस्तु-संगठन में भी बुनियादी परिवर्तन हो गए हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि आज ब्यौरों के सर्जनात्मक इस्तेमाल की जरूरत और अहमियत पहले से अधिक बढ़ गई है। इस प्रकार वह आधुनिक बोध की कहानी को परंपरागत कहानी से अलगाते हैं और अलगाव बिंदुओं को अलगाते हैं। इसके साथ-साथ वह संदर्भित कहानी आदि की व्याख्या विश्लेषण और विवेचन करते हैं तथा सूक्ष्म अंतर को सप्रमाण पुष्ट करते हैं।

उन्होंने यह स्थापना भी की है कि हमारे जीवन पर आधुनिकता का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है जिसे समकालीन कहानी में देखा जा सकता है। यह भी सच है कि समकालीन कहानी के कथ्य और शिल्प में आमूलचूल परिवर्तन हो गया है जिसका सम्यक् विवेचन उन्होंने विशेषतः कहानी के रचनाविधान में किया है। वह बलपूर्वक यह स्थापित करते हैं कि समकालीन कहानी में कहानी का अर्थ और आशय एक जगह केंद्रित नहीं होता, अपितु पूरी कहानी में अंतर्व्याप्त होता है। वे सिद्ध करते हुए दृष्टिगत होते हैं कि प्रेमचंद ने जो कार्य यथार्थ चित्रण के धरातल पर किया था, उसे नई कहानी ने यथार्थ और कला जैसे दोनों ही धरातलों पर पूरा करने का प्रयत्न किया। घटनाओं और प्रसंगों की यांत्रिक अंतर्संबद्धता सिद्ध करने वाली पुरानी तकनीकी पद्धति को नई कहानी ने छिन्न-भिन्न कर दिया।

डॉ० नरेन्द्र मोहन यह भी स्थापित करते हैं कि उन्नीस सौ साठ के बाद के प्रारंभिक वर्षों में अंतर्जगत और आंतरिक संगति कथा विधान में मुख्य हो गए। सातवें दशक की कहानी घटनाक्रमों और चारित्रिक घटाटोपों से परे हटकर स्थिति के रूप में स्थिति का बोध कराने की दिशा में प्रवृत्त हुई, कहानी को कथा-रूढ़ि से मुक्ति मिली तथा चरित्र के बजाए स्थिति केंद्र में आ गई। केंद्रित ब्यौरो द्वारा कहानी की संवेदना और उसके आशय को गहराने की प्रवृत्ति भी कहानी मे

देखने में आई। इतना ही नहीं, समकालीन कहानी के रचना-विधान में प्रतीकों और कोडेसीगत तत्त्वों का विधान करने वाली दृष्टि ही बदल गई। नई कहानी में प्रतीकों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है जो इस हद तक है कि अनेक कहानियां अमूर्त एवं दुर्बोध हो गईं। उधर सातवें दशक की कहानी में प्रतीक बीच-बीच में उभरते है और वे कहानी के अर्थ को संबद्ध करते हैं। इस प्रकार वह नई कहानी और सातवें दशक की कहानी के रचना-विधान को अलग-अलग स्पष्ट कर देते हैं, परन्तु आठवें दशक में कहानी के रचना-विधान का स्वरूप बदला या नहीं या कितना किस रूप में कितना बदला, इस पर कुछ नही कहते।

अब हम डॉ० नरेन्द्र मोहन की कहानी आलोचना की कल्पना-प्रक्रिया पर विचार करें। वह अपनी आलोचना में एक केंद्रीय विषय को उठाते है, उसका आधार सुनिश्चित करते हैं, उसमें मुद्दे तलाशते हैं, फिर संदर्भित कहानियों की व्याख्या करते है और विश्लेषण भी। वह कभी-कभी उनका विवेचन भी करते हैं, विशेष रूप से सामान्य सिद्धांत के संदर्भ में विवेचन अवश्य करते है। सामान्यतः ऐसा होता है कि वह विश्लेषण विवेचन से मूल्यांकन तक नहीं पहुंचते। शायद वह अपनी प्रक्रिया को ही मूल्यांकन मान लेते हैं या निष्कर्षों को प्रबुद्ध पाठक के लिए छोड़ देते है कि अमुक कहानी कैसी है या उसे कैसा होना चाहिए।

सामान्यत: वह रचना की विशेषताओं को अच्छी तरह उभारते हैं। इस क्रम मे कहानी की शक्ति, क्षमता को उद्घाटित कर देते है। इसके बाद वह कहानी के दूसरे पक्ष को प्रस्तुत करते हैं यानी कहानी की कमज़ोरियों पर उंगली रखते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी आलोचना आक्रामक नहीं होती, अपितु संतुलित रहती है। न वह किसी का गुणगान करते हैं, न किसी को धराशायी करते हैं। सचाई यह है कि उनकी संतुलित जीवन दृष्टि को उनकी संपूर्ण आलोचना में देखा जा सकता है। वह न कभी असंयत होते हैं और न कभी धैर्य खोते हैं, बस, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जाते हैं।

डॉ० नरेन्द्र मोहन की आलोचना की विशेष बात यह है कि वह निर्धारित मुद्दे पर जमकर बात करते हैं। उससे इधर-उधर नहीं भटकते। इस क्रम में वह सभी संभावित पक्षों को उठा लेते हैं और एक-एक को उद्घाटित करते जाते हैं जिससे समूचा विषय हमारे सामने खुलता जाता है। उनकी आलोचना एक ओर रचनात्मक होती है, मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं होती तो दूसरी ओर तर्क, युक्ति और प्रमाण से पुष्ट होती है।

उनके पास अपने विचार हैं, अपनी दृष्टि है और आलोचना विवेक भी है। वह रचना के पास बनी-बनाई, बंधी-बंधाई दृष्टि लेकर नहीं जाते हैं, बल्कि खुला मन लेकर जाते हैं जिसमें उनके सहृदय पाठक की महती भूमिका होती है। वह रचना के पास उसकी धज्जियां उड़ाने नहीं जाते बल्कि उसे समझने और

स्पष्ट करने के लिए जाते हैं। अवश्य ही, यह पक्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और इस प्रवृत्ति के आलोचक बहुत कम होते हैं।

इस प्रकार डॉ० नरेन्द्र मोहन ने हिंदी कहानी का अध्ययन व्यापक स्तर पर किया है और समकालीन कहानी की पहचान का आधार प्रस्तुत किया है। वह अपने विवेच्य विषय को विभिन्न पहलुओं से उठाते हैं और बेबाक विवेचन करते हैं। सच तो यह है कि वह न विषय को उलझाते हैं और न शब्दों के साथ खिलवाड़ करते हैं। वह भावुक नहीं हैं, बल्कि बौद्धिक चेतना से अपने आलोच्य विषय को परत दर परत खोलते हैं। विवेचन के निष्कर्ष के रूप में उनकी टिप्पणी उनकी आलोचना-प्रक्रिया का एक अंग है जिसकी ओर पाठक का ध्यान स्वतः आकृष्ट होता है। उनके निष्कर्षों से असहमति हो सकती है, परंतु समकालीन आलोचना को उनकी देन सार्थक है। यहां यह कह देना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन्होंने हिंदी कहानी आलोचना के नए आयाम उद्घाटित किए हैं।

आधुनिकता-विवेचन

—डॉ० महावीर दाधीच

डॉ० नरेन्द्र मोहन की दो पुस्तकों यथा 'आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ' और 'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' में आधुनिकता संबद्ध आलेख है। यद्यपि नरेन्द्र मोहन के प्रायः सभी लेखों में आधुनिकता परिप्रेक्ष्य या संदर्भ के रूप में अन्वित है, पर विशेष अवधारणापरक विवेचन उनके दो लेखों में ही हुआ है। ये लेख हैं 'आधुनिकता की भूमिका' और 'आधुनिकता कहानी के संदर्भ में'। इन दो लेखों में 'आधुनिकता की भूमिका' पूर्ववर्ती है। 1973 में यह लेख लिखा गया था, जबकि दूसरा लेख 1991 में प्रकाशित पुस्तक 'शास्त्रीय आलोचना से विदाई' में संकलित है। दूसरे लेख में लगभग वही बिंदु हैं, जो पहले लेख में विवेचित हुए हैं। इसलिए 'आधुनिकता की भूमिका' लेख को ही मैं प्रस्तुत निदर्शन के लिए आधारभूत मान रहा हूं।

नरेन्द्र मोहन इस खुले दृष्टिकोण से चर्चा शुरू करते हैं कि आधुनिकता के संबंध में अंतिम रूप से कुछ तय कर पाना, निर्णय देना या निष्कर्ष निकालना कठिन है। इसके नित्य क्रियाशील और गतिमान रूप को पकड़ पाना आसान नहीं। इसलिए वे आवश्यक समझते हैं कि इसकी गति के समानांतर चलकर ही इस तक पहुंचा जा सकता है। समानान्तर चलने का क्या आशय है? यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुई है।

आधुनिकता का प्रथम विस्फोट वे धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में मानते हैं। पर इसी अर्थ संदर्भ तक इसे सीमित करना वे उचित नहीं ठहराते। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित होने के कारण आधुनिकता ने 'धर्म और अध्यात्म की तानाशाही' को जबरदस्त चुनौती दी। धार्मिक मान्यताओं-मर्यादाओं के सम्मुख प्रश्नचिह्न लगाने शुरू किए। विज्ञानसम्मत विवेक दृष्टि का विकास होने से मध्यकालीन धर्मप्रेरित जीवन-दृष्टि अप्रासंगिक हो गई। इसी तर्कशीलता या प्रश्नचिह्न की निरंतरता या 'वैज्ञानिक दृष्टि' को नरेन्द्र मोहन आधुनिकता की मूल प्रकृति मानते हैं इस वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य की नई मानसिकता और बौद्धिक दृष्टि

निर्मित हुई है, जिसका परंपरा से कोई सीधा संबंध नहीं है। एक 'सतत क्रियाशील प्रश्न' के रूप में इसे शाश्वत मानने की दूधनाथ सिंह की धारणा का नरेन्द्र मोहन विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि मूलत: ही आधुनिकता में परंपरित स्वीकृत मूल्यों, मान्यताओं और धारणाओं का विरोध है और अस्वीकार को विचार और सृजन का आधार बनाया गया है। इसलिए "आधुनिक रचना के विशेष गुण ही आधुनिकता को निर्धारित करते हैं, परंपरा तो उसके लिए खाद बनती रहती है।" निष्कर्षत: आधुनिकता की आधारभूत प्रवृत्ति परंपरा के अस्वीकार की है।

नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को इतिहासवादी दृष्टि से देखने की कोशिश का एक विराट सरलीकरण और आधुनिकता के विशिष्ट गुणों को बलि चढ़ा देने के बराबर मानते हैं। इस संदर्भ में वे डॉ० रमेश कुंतल मेघ के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि "आधुनिक होना आधुनिक मनुष्य का एकाधिकार नहीं रह जाता, क्योंकि आधुनिक मनुष्य (अर्जुन, कौटिल्य, कबीर) भी हुए हैं और इसके पहले भी आधुनिक युगों की कौंध हुई है।"

नरेन्द्र मोहन के अनुसार आधुनिकता में अनेक सामाजिक-दार्शनिक पहलू और 'प्रतिपत्तियाँ विद्यमान हैं। इसी कारण इसमें एक ओर वैयक्तिकता है, दूसरी ओर सामाजिकता, एक ओर नियति का एहसास है, दूसरी ओर आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति, एक ओर जटिल मानव प्रकृति है, दूसरी ओर गहन मानव स्थिति।' नरेन्द्र मोहन पुन: दोहराते हैं कि 'आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है, जो हर बंधी-बंधाई व्यवस्था या मर्यादा या धारणा को तोड़ती है। जो किसी एक मूल्य, धारणा या सिद्धांत को स्वीकरने से पूर्व उसे जांचने-पड़तालने पर बल देती है। "इसके कई शेड्स हैं—कहीं यह मानव प्रकृति में हो रहे परिवर्तनों को, नवीन अभिरुचियों को रेखांकित करने का स्तर है, जहां परंपरा से सहयोग की स्थिति रहती है, तो कहीं यह मानव प्रकृति के मौलिक बदलाव का स्तर है, जहां परंपरा को पूर्णत: नकारा जाता है।"

आधुनिकता के आत्मनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ पक्षों की चर्चा करते हुए नरेन्द्र मोहन एक संतुलित दृष्टि अपनाते हैं। आत्मनिष्ठ साहित्य का सही स्वरूप स्थिर करते हुए वे कहते हैं, "लेखक बाहरी यथार्थ से जुड़ी बड़ी-बड़ी घटनाओं और प्रसंगों का चित्रण या वर्णन नहीं करता, बल्कि उस यथार्थ से उसके अंतर्मन में जो हलचल हुई, उसका यह चित्र खींच देता है। यह आधुनिक बोध का आत्मनिष्ठ पहलू है।" मार्क्सवादी आलोचकों को प्रत्युत्तर देते हुए कहा गया है कि सच्चाई यह है कि आत्मनिष्ठता आत्मिक स्तर पर इतिहास बोध की समवर्ती स्थिति है। इसमें बाहरी यथार्थ का संदर्भ प्रत्यक्ष न होकर रचना में घुला-मिला होता है। "आधुनिक लेखकों ने ऐसी मानव स्थितियों का चित्रण किया है, जो घोर वैयक्तिक संदर्भों को भी महत्ती हैं और सामाजिक संदर्भों को भी नरेन्द्र मोहन यहां

मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के अतिवादों से बचकर मध्यम मार्ग अपनाते हैं। वे सही कहते हैं कि "आधुनिकता को अस्तित्ववादी अर्थ में ग्रहण करने से जहां एक ओर भ्रांतियां फैली हैं, वहां इसे मार्क्सवादी अर्थ मे ग्रहण करने से मानवीय विचारों के समाजशास्त्रीय विकास से अंतर्बद्ध करके देखने से आधुनिकता को चरम सूत्र और जड़ स्थिति बना दिया गया है।" वे किसी भी प्रकार की वादी व्याख्या के विरुद्ध हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि आधुनिकता 'संश्लिष्ट, व्यापक और विकासमान प्रक्रिया' है जो बहु आयामी है। यह एक ऐसी दृष्टि है जो अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नों तथा संपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व से अपना गहरा सरोकार बनाए है। इसीलिए इसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य भी समाविष्ट है और मानवमुक्ति की गतिशील धारणा भी। इस प्रकार एक ओर यह सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है तो दूसरी ओर अस्तित्वगत स्थितियों से भी। आधुनिकता का यथार्थ अनेकपक्षीय, जटिल और पेचीदा होता है। इसलिए किसी एक पक्ष से ही इसका स्वरूप निर्धारण समीचीन नहीं होगा।

नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को खंडों में विभाजित करने के प्रयत्न का विरोध करते हैं। मानवीकृत-अमानवीकृत, यथार्थ-अयथार्थ, वास्तविक-अवास्तविक और सही-गलत के लेबल आधुनिकता पर नहीं चिपकाए जा सकते, क्योंकि यह कोई ठोस अचल पदार्थ नहीं है, एक संश्लिष्ट व्यापार है, जिसमें अनेक गुण, अनेक विशेषताएं, अनेक विरोधात्मक प्रवृत्तियां एक साथ विद्यमान रह सकती हैं। आधुनिकता को संकीर्ण मतवाद के शिकंजे में कसना उपयुक्त नहीं होगा।

महानगरों का आधुनिकीकरण वस्तुतः आधुनिकता का परिवेश या संदर्भ है, जो लेखक की चेतना को प्रभावित करता है। "यह प्रभाव जितना सघन और गहन होगा और उसकी अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म और अमूर्त कलात्मक होगी, उतनी ही रचना आधुनिक बोध के संप्रेषण में सफल होगी।" आधुनिक लेखक परिवेशगत यथार्थ को अपने भीतर रूपांतरित और अमूर्त करता हुआ उसे सृजित करता है। यह सृजन विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है।

नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को कृतियों के रूप-विधान, भाषा और शिल्प से सबद्ध करते हैं—पर एक हद तक ही। वे मानते हैं कि परंपरागत क्लासिकल काव्यरूपों (महाकाव्य, खंडकाव्य आदि) में बदली हुई दृष्टि और संवेदना को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इन रूपाकारों में आधुनिकता की अभिव्यक्ति का प्रयास स्वयं में एक विरोधाभास है। आधुनिक संवेदना के समानांतर या तो परंपरागत रूपाकारों का कल्प होना चाहिए या नए काव्यरूपों, रूपबंधों का अन्वेषण। यही बात भाषा और शिल्प के बारे में सही है। आधुनिक रचना मे भाषा का नए सिरे से सर्जनात्मक प्रयोग होता है। वह रचना की भीतरी तहों में रसी-बसी रहती है। फिर भी रूपबंध, भाषा और शिल्प का अतिरिक्त

आग्रह अवांछनीय है। नए की झोंक में कृत्रिम रचनातंत्र, चक्करदार शिल्प, उत्तेजक भाषा आदि से ही आधुनिकता रूपायित नहीं होती। इसकी उपस्थिति के लिए आवश्यक है 'रचना का भीतरी मिजाज'।

आगे नरेन्द्र मोहन आधुनिकता और समकालीनता के अंतर्संबंध की चर्चा करते हुए कहते हैं कि आधुनिकता और समकालीनता पर्याय नहीं हैं। यह सही है कि आधुनिक बोध से संयुक्त हर रचना समकालीन संदर्भ से जुड़ी रहती है, पर मात्र इस जुड़ाव से ही कोई रचना आधुनिक नहीं हो जाती। समकालीन संदर्भ होते हुए भी रचना परंपरा-पोषक या पक्षधर हो सकती है। समकालीनता का आग्रह लेखक को एकांगी भी बना सकता है। वस्तुतः आधुनिक लेखक समकालीनता का अतिक्रमण करता है और उसकी नई व्याख्या भी। "समकालीन लेखक 'आज' की तात्कालिकता से परिचालित होता है, जबकि आधुनिक लेखक समकालीन परिदृश्य के प्रति सजग और संवेदनशील होता हुआ भी समकालीन मूल्यों को चरम और अंतिम नहीं मानता।"

नरेन्द्र मोहन ने अपने दूसरे लेख 'आधुनिकता कहानी के संदर्भ में' में एक स्थल पर आधुनिकता और मूल्य विधान की चर्चा की है। आधुनिकता मूल्य है या प्रक्रिया? नरेन्द्र मोहन के अनुसार मूल्य और प्रक्रिया को एक दूसरे के विरोधी मानने की धारणा इस बहस के मूल में स्थित है। वे कहते हैं, "हमें समझ नहीं आता कि इसे प्रक्रिया मानने का अर्थ मूल्यों की गैर मौजूदगी क्यों मान लिया जाए? ऐतिहासिक विकास-क्रम में उसे मूल्य-चिंता के रूप में या मूल्यों की छानबीन और पड़ताल के रूप में क्यों न ग्रहण किया जाए?" उनका कहना है कि "आधुनिकता बोध प्रक्रिया और मूल्य दोहरे स्तरों पर रचना का हिस्सा बनता है और मूल्यांकन करते वक्त उन्हें एक-दूसरे से काटा नहीं जा सकता।"

नरेन्द्र मोहन का उक्त विवेचन पर्याप्त संतुलित है। न तो वे आत्मनिष्ठता (अस्तित्ववाद) को तरजीह देते हैं और न वस्तुनिष्ठता (मार्क्सवाद) को। उनका प्रयत्न दोनों धारणाओं में सामंजस्य स्थापित करने का हैं। एक दृष्टि से शायद यह अत्यधिक कठिन कार्य है, क्योंकि इसमें मतों के सरलीकरण होने की संभावना है। पर लेखक स्वभावतः सरोकारों से संबद्ध होता है, न कि विचारक के समान तार्किक मताग्रह से, और सरोकार 'निज' से 'पर' (समाज) और 'पर' से 'निज' तक परिव्याप्त हो सकते हैं।

नरेन्द्र मोहन का विवेचन तर्कपुष्ट और विवेकसंगत है। फिर भी कुछ बिंदु ऐसे हैं, जिनसे सहमत हो पाना कठिन है। पहला मुद्दा तो यही है कि नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को एक प्रक्रिया मानते हैं। आधुनिकता के संदर्भ में 'प्रक्रिया' की अवधारणा स्पष्ट नहीं है, क्योंकि प्रक्रिया एक सामान्य कार्य-व्यापार है जो किसी कालखंड में बंधी हुई नहीं रहती। वह स्वतः पूर्ण नहीं होती। किसी के द्वारा

या किन्हीं कारणों से परिचालित होती है। वैज्ञानिक प्रक्रिया कहना संगत है, क्योंकि इसका अर्थ है विज्ञान के कारण प्रवर्तित प्रक्रिया। पर विज्ञान एक प्रक्रिया है, कहना अस्पष्ट हो जाएगा, क्योंकि विज्ञान मूलतः एक दृष्टि (Attitude) है, एक परिप्रेक्ष्य है, जो विशेष प्रक्रिया (वैज्ञानिक) को प्रवर्तित करता है। इसी वजन पर कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक दृष्टि है, जो वस्तु और विषय के ग्रहण करने को प्रभावित करती है और सर्जन को भी। नरेन्द्र मोहन ने सही कहा है कि आधुनिकता का प्रथम संघर्ष धर्म से हुआ, क्योंकि आधुनिकता विज्ञान-प्रेरित थी। पर यह विचारणीय है कि यह धर्म यूरोपीय धर्म था, संस्थाबद्ध अंध श्रद्धा पर आधारित ईसाई धर्म। इसलिए कहा जा सकता है कि आधुनिकता वस्तु या विषय के ग्रहण की, अनुभव करने की धर्म-निरपेक्ष दृष्टि या रीति है, जो विवेक पर बल देती है। नरेन्द्र मोहन ने यत्र-तत्र इस बात का उल्लेख किया भी है। वे सही कहते हैं कि यह मूल्य-निरपेक्ष नहीं हो सकती, क्योंकि मध्यकालीन परंपरा का नकार इसकी आधारभूमि है। नकार भी स्वीकार की तरह मूल्य-प्रवर्तित होता है। अन्य अनेक छोटे-मोटे बिंदु और भी हैं, जो विवादास्पद हैं, पर वे उतने महत्त्वपूर्ण नहीं।

अंततः मैं नरेन्द्र मोहन के आधुनिकता विवेचन से प्रभावित हूं—विशेषतः उनकी तटस्थ और संतुलित विचार-प्रक्रिया से। वे अपनी बात साहस से कह सके हैं।

लंबी कविता का एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान

—डॉ० मृत्युंजय उपाध्याय

लंबी कविताओं के स्वरूप, विकास, प्रतिमान, उपलब्धियों और सीमाओं के मूल्यांकन के लिए डॉ० नरेन्द्र मोहन का संपादन—'लंबी कविताओं का रचना विधान' एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। नरेन्द्र मोहन आलोचना जगत के चर्चित हस्ताक्षर रहे हैं। अपने संपादकीय लेख में उन्होंने हिंदी की लंबी कविताओं के स्वरूप और संवेदना पर प्रकाश डाला है। साथ ही कृति में समीक्षित-मूल्यांकित लंबी कविताओं पर सार्थक टिप्पणियां की हैं। नरेन्द्र मोहन का यह लेख लंबी कविता की सृजन-प्रक्रिया और विकास-यात्रा का सम्यक् विवेचन और समीक्षा करता है। लंबी कविता के माध्यम की पहचान और पड़ताल करने वाला यह पहला गंभीर आलोचनात्मक कार्य है।

इस पुस्तक में जिन महत्त्वपूर्ण लंबी कविताओं का विश्लेषण-मूल्यांकन किया गया है, वे हैं : 'परिवर्तन' (1926 : पंत), 'प्रलय की छाया' (1933 : जयशकर प्रसाद), 'राम की शक्ति पूजा' (1937 : निराला), 'समय देवता' (1951 : नरेश मेहता), 'प्रमथ्यु गाथा' (1959 : धर्मवीर भारती), 'असाध्य वीणा' (1961 : अज्ञेय), 'अंधेरे में (1964 : मुक्तिबोध), 'अलविदा' (1966 : विजय देव नारायण साही), 'मुक्ति प्रसंग' (1966 : राजकमल चौधरी), 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967 : रघुवीर सहाय), 'लुकमान अली' (1968 : सौमित्र मोहन) 'फिर वही लोग' (1969 : रामदरश मिश्र), 'पट कथा' (1972 : धूमिल), 'नाटक जारी है' (1972 : लीलाधर जगूड़ी), 'एक मामूली आदमी का बयान' (1974 : रमेश गौड़), 'कुआनो नदी' (1972 : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) और 'उपनगर में वापसी' (1974 : बलदेव वंशी)। संपादक ने इस पुस्तक की भूमिका 'आख्यान से बिंब से विचार तक की अन्तर्यात्रा' में लंबी कविता के विधायक तत्त्वों और प्रतिमानों पर पहली बार विचार किया है और इसे एक ज़रूरी काव्य-माध्यम के तौर पर रेखांकित किया है। यहां संपादक ने लंबी कविताओं का आलोचनात्मक जायजा भी लिया है। एक तरह से लंबी कविताओं की व्याव-

हारिक समीक्षा की बानगी भी पहली बार प्रमुख समीक्षकों के निबंधों से मिलती है।

लंबी कविताओं के रचना-विधान पर विचार करते हुए डॉ० नरेन्द्र मोहन ने माना है कि कविता का लंबा होना भर लंबी कविता की शर्त नहीं है। लंबाई में फैली प्रदीर्घ कविता प्रगीत भी हो सकती है जिसमें लंबी कविता का एक भी गुण न हो। छोटी कविताओं को क्रमबद्ध और परस्पर संबद्ध करके लंबी कविता बनाना भी उचित नहीं है। लंबी कविता के लिए एक केंद्रीय स्थिति अपेक्षित है, जिसके इर्द-गिर्द प्रसंग, संदर्भ और अनुस्पंदन उभरते रहते हैं। 'परिवर्तन' को लंबी कविता इसलिए माना गया है कि यह अपने तौर पर भले ही मुक्तकों और स्वतंत्र कविता खंडों का क्रमबद्ध संकलन लगे पर भीतरी तौर पर इसकी क्रमबद्धता और संबद्धता को कोई केंद्रीय विचार या बिंब अंतर्ग्रहित किए रहता है। डॉ० नरेन्द्र मोहन हिंदी की लंबी कविता की स्थिति पर टिप्पणी करते हैं : "छोटी कविताओं के संयोजन मात्र से लंबी कविता रचने या संक्रांत करने की पद्धति (जहां एक स्थिति का बोध जगाने की खातिर अनेक संदर्भ और प्रसंग परस्पर घुलते और टकराते हुए एक विशेष अनुगूंज पैदा करते हैं) हिंदी में सफल नहीं हुई है।" (पृष्ठ 2)

एक अन्य स्थल पर नरेन्द्र मोहन ने लिखा है : "एक विधि यह भी अपनाई गई है कि कविता को गद्यात्मक व्याख्याओं की सन्निधि में रखकर उसके द्वारा अनुभव की जटिलता को अभिव्यक्ति मिले। इस प्रक्रिया में कविता का लंबा हो जाना स्वाभाविक है। इस विधि से विलियम कार्लोस विलियम्स और टी. एफ. इलियट ने अपनी लंबी कविताओं के सृजन में लाभ उठाया है। यह भी ध्यान रखा गया है कि लंबी कविता का गठन जहां बिंबात्मक हो, वहां अन्विति अखंडित दिखे और जहां बिंब संकेंद्रण पर आग्रह न होकर संदर्भों और प्रसंगों की सन्निधि और टकराव पर बल दिया गया हो, वहां अन्विति शिथिल और खंडित दिखे।" (पृष्ठ 3) अन्विति के ये दोनों ही प्रकार बिंबात्मक और वैचारिक कहलाते हैं। गठन के ये दोनों प्रकार लंबी कविताओं में रह सकते हैं—आख्यान और बिंब से शुरू करके विचार की दिशा में चलना और विचार से शुरू करके बिंब विधान की ओर चलना। इलियट बिंबात्मक विधान और सपाटबयानी को संयुक्त रूप से लंबी कविताओं में महत्त्व देते हैं और इजरा पाउंड संदर्भों के विपर्यास को बिंबात्मक क्रम में बांधने का प्रयास करते हैं। उनकी बिखरी हुई सत्ताओं को बिंबों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। लेखक ने वेस्ट लैंड का हवाला देकर बताया है कि "इलियट शुरू से ही अपनी कविता 'वेस्ट-लैंड' में विधायक रूपक को तानते हैं, पर वे रूपक के तनाव को काव्यात्मक स्थितियों पर हावी नहीं होने देते विवरणों के संयोजन द्वारा व तनाव को बीच बीच में कम या ढीला

करते जाते हैं जिससे तनाव और स्थितियों में एक प्रकार का संतुलन आ जाता है।" (पृष्ठ 3) यह इलियट की लंबी कविता के प्रधान गुण हैं और हिंदी की लंबी कविता ने इस संरचनात्मक गुण को अपेक्षाकृत अधिक ग्रहण किया है। यहां दोनों प्रकार की अच्छी कविताएं विद्यमान हैं। 'राम की शक्ति पूजा' आख्यान के सहारे बिंबात्मक रूप को प्रतिफलित करती है तो 'अंधेरे में' में बिंब ही पूरे काव्यात्मक विधान को संतुलित करता है। 'असाध्य वीणा' बिंब से आख्यान की ओर प्रयाण है। लेखक की दृष्टि सदा लंबी कविता के आख्यान से बिंब और बिंब से आख्यान की यात्रा तक है। उसके लेख की मूल चेतना यही है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन लंबी कविता की अन्विति, नाटकीयता, संरचना और कविता के सर्जनात्मक तनाव पर भी विचार करते हैं। एक में आवश्यक गठन पर ध्यान रहता है तो दूसरे में स्थितियों और संदर्भों की टकराहट से उत्पन्न आवश्यक अन्विति पर। आज के जीवन की जटिल स्थितियों, खंडित व्यक्तित्व एवं पेचीदी व्यवस्था को रचना का स्वर देने के लिए नाटकीयता की अनिवार्यता होती है। कार्यों और व्यापारों को नाटकीयता द्वारा स्थितियों के अंतर्विरोधों के बोध तक पहुंचाया जा सकता है। लंबी कविता के लिए जिस गहन कलात्मक संयम की अपेक्षा है, वह नाटकीयता द्वारा ही प्रभावी रूप में संभव है। लंबी कविता की संरचना की यह एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। इसके द्वारा विविध आख्यानों, प्रसंगों, संदर्भों तथ्यों और उद्धरणों को संयोजित किया जा सकता है। ये संदर्भ, आख्यान अलग-अलग होकर भी कविता की मूल संवेदना को गहन बनाते हैं। उनका अंतर्ग्रथन और संयोजन होना चाहिए न कि वह अपनी-अपनी सत्ता को अलग-अलग प्रतिभासित करें। इनका कविता की मूल संवेदना और विधायक अंतश्चेतना से प्रत्यक्ष और गहन संबंध न हुआ तो लंबी कविता कमजोर पड़ जाती है, प्रभावहीन हो जाती है। लेखक स्पष्ट तौर पर कहता है: "रचनागत शैथिल्य या लापरवाही लंबी कविता को ले डूबती है। अभिव्यक्ति का अपव्यय इसमें कोढ़ की तरह चमकता रहता है।" (पृष्ठ 5)

लंबी कविता का अंतर्वर्ती विधायक तत्त्व है रचनात्मक तनाव। इस तनाव की अवस्था में वह अतीत-प्रसंगों में प्रत्यावर्तित होता है और इस प्रकार अपने कथ्य से असंबद्ध प्रतीत होने वाले पड़ावों, विवरणों और भावानुभूतियों को कलात्मक संरचना में गूंथ देता है। 'राम की शक्ति पूजा', 'प्रलय की छाया', 'मुक्ति-प्रसंग' और 'अंधेरे में' इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। विभिन्न संदर्भ भाषा द्वारा गहराए जाने पर या शब्दों के परंपरित अर्थ बदल देने या उलटने मात्र से लंबी कविता विशिष्ट बन जाती है। उदाहरणस्वरूप 'आत्महत्या के विरुद्ध' या 'अलविदा' 'प्रलय की छाया' में लय द्वारा इस संतुलन को साधा गया है। लंबी कविता में अंत का बड़ा महत्त्व है इसे यथार्थ बोध और संरचना दोनों स्तरों

पर अंतहीन—यथार्थ बोध और संरचना दोनों स्तरों पर—अंतहीन, समापनरहित होना चाहिए। इस ओर मुक्तिबोध का संकेत स्पष्ट है, "नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती कि वह आवेग त्वरित कालयात्री है।" इन्होंने यथार्थ के गतिशील तत्त्वों के दृष्टिकोण से अपनी लंबी कविताओं की रचना की ओर संकेत भी किया है। इस सूत्र का उपयोग नरेन्द्र मोहन ने अपनी भूमिका में कई जगह किया है।

लेखक की स्थापना है कि किसी विधायक बिंब या रूपक की उपस्थिति से ही सर्जनात्मक तनाव निष्पन्न होता है। इसके बिना 'खंड-खंड पाखंड पर्व' (कवि मधुकर) लंबी कविता के रूप में असफल हो गई और अपने अराजक तेवर और संरचना के बावजूद केंद्रीय विचार और बिंब से आंतरिक स्तरों पर संयोजित होकर 'मुक्ति प्रसंग' हिंदी की एक विशिष्ट लंबी कविता बन गई। (पृष्ठ 8) कृति में मूल्यांकित लगभग सभी कृतियों पर लेखक ने सटीक टिप्पणी की है, उनकी आंतरिकता से साक्षात्कार कराया है। इसमें दो मत नहीं कि डॉ० नरेन्द्र मोहन ने सभी कृतियों को स्वतंत्र रूप से और आलोचकों की स्थापनाओं के आलोक में मनोयोगपूर्वक पढ़ा और परखा है। इसलिए उसकी स्थापनाएं तर्काश्रित, ठोस, नीर-क्षीर विवेकी और मान्य हैं। कहना नहीं होगा कि लंबी कविताओं के अध्ययन की दृष्टि से इस कृति का अपना अलग महत्व रहा है जिस पर काल कभी अंकुश नहीं लगा सकता।

भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा की विलक्षणता और आलोचना की मानक भाषा का सर्वत्र उपयोग इस कृति को कवियों और आलोचकों के लिए एक साहित्यिक दस्तावेज बना देता है। निश्चय ही, डॉ० नरेन्द्र मोहन की संपादन-प्रतिभा और आलोचनात्मक क्षमता हिंदी की लंबी कविताओं के उनके गंभीर विश्लेषण और मूल्यांकन में झलकती है। लंबी कविता पर उनके आलोचना-कर्म से इस माध्यम की विशिष्टता रेखांकित हुई है। कालांतर में उनका यह कार्य एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान के रूप में स्वीकृत हुआ है—इससे समकालीन रचना और आलोचना दूर तक प्रभावित हुई है।

रचना और आलोचना का अंतर्वर्ती संबंध

—डॉ० सुदेश बत्रा

किसी भी कृति का मूल्यांकन समय-धारा की नब्ज को पहचाने बिना सभव नहीं है। संभवतः इसीलिए प्रारंभिक शास्त्रीय प्रतिमानों के पश्चात् नए प्रतिमानों की खोज आवश्यक प्रतीत हुई। तीव्र वेग से बदलता सोच और समाज-व्यवस्था के जटिल समीकरणों में जब रचना का आधार ही बारीक, जटिल और पैना होता जा रहा है, तब रचना की परख भी समानांतर रूप से तीव्रता की अपेक्षा रखती है। यह सच है कि इतिहास और विगत को समझे बिना वर्तमान अधूरा है, किंतु उसी इतिहास की सामयिकता में से ही नए मूल्य अंकुरित होते हैं।

आलोचना के लिए अध्ययन और मथन पहली शर्त है, भावुकता से परे बौद्धिकता और तार्किकता के साथ रचना में सौंदर्य बोध और मूल्य बोध का मूल्यांकन अपेक्षित होता है। इस अपेक्षा में जिम्मेदारी निहित होती है। आलोचक को पूरी तटस्थता के साथ जहां रचना के अर्थ को उद्घाटित करना पड़ता है, वहां दलबंदी और गुटबंदी से अलग ईमानदारी भी बरतनी पड़ती है। यह ईमानदारी एक लंबी परंपरा की शास्त्रीयता से अलग हटकर नवीन भाव बोध का समर्थन भी करना चाहती है क्योंकि पुरानी परंपरा और प्रतिमानों को रूढ़ि समझकर छोडा भी जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि रचनागत सोच के साथ-साथ उसके मूल्यांकन और समीक्षक का तेवर भी नया बन रहा है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने परंपरागत, क्लासिकल काव्य रूपों की उपयोगिता और सार्थकता के सामने प्रश्नचिह्न लगाते हुए 'आधुनिक जीवन की जटिल वास्तविकता' की अभिव्यक्ति को परखने के लिए वर्तमान संदर्भों के अनुरूप मूल्यों की खोज पर बल दिया है। रचनाकारों ने जब से स्वयं साहित्यिक मूल्यांकन में दखलदाजी की है, तब से नई आलोचना की सरणियां भी बदलती रही हैं। प्रेमचंद ने साहित्य के प्रयोजन को विशेष रूप से रेखांकित किया, किंतु समय के परिवर्तन के साथ-साथ कथ्य और प्रस्तुति दोनों ने ही शास्त्रीय आलोचना को नकारा है। बने-बनाए खांचों में कच्चा माल डालने की बजाय तैयार माल को नए परिप्रेक्ष्य मे

देखना अधिक बेहतर है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन स्वयं एक रचनाधर्मी हैं। अतः काव्यात्मक संवेदना के उन बिंदुओं की ओर उनकी दृष्टि गई है जो भारतेंदु से लेकर बीसवीं सदी के अंतिम चरण तक कविता के नए रूपों में उद्घाटित हुई है। रचनात्मक बदलाव केवल कविता के प्रस्फुटन में ही नहीं, बल्कि कहानी, उपन्यास और गद्य की अन्य विधाओं में भी मौजूद है।

नरेन्द्र मोहन ने गद्य और पद्य की रचनाओं को समकालीन संदर्भों में टटोला है। वे आलोचना के लिए न तो भारी-भरकम प्रतिमानों और सिद्धांतों की स्थापना करते हैं, न ही अपनी मान्यताओं के समर्थन के लिए विरोधी खेमों का आतंक उत्पन्न करते हैं। किंतु उन्हें उन लोगों से शिकायत अवश्य है जो कथ्य और रूढ़ दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है—"रचना को शास्त्र के सुपुर्द कर देने या उसका मुखापेक्षी बनाने से आलोचना अपनी रचनाधर्मी सक्रियता और गत्यात्मकता खो बैठती है, जिससे न रचना को लाभ पहुंचता है और न आलोचना को। समकालीन रचनाकारों और आलोचकों ने रचना और आलोचना में एक अर्थपूर्ण संबंध स्थापित करते हुए शास्त्र की रूढ़ियों का खंडन किया है।"

नरेन्द्र मोहन साहसपूर्वक अपनी बात कहते हैं और उसके लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। समकालीन आलोचना के नए तेवर को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानते है, क्योंकि नये दौर में शास्त्रीय सिद्धांत अप्रासंगिक होते चले गए हैं। स्वतंत्रता के बाद गद्य की विविध विधाओं के मुहावरे और रूपाकारों में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुए हैं, अतः समय का दबाव परिवर्तन की आकांक्षा करता है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोक-दृष्टि के विकास की मान्यता को मुक्त रूप से स्वीकारा है। इस विकास का एक आयाम हजारीप्रसाद द्विवेदी की मानवतावादी दृष्टि का है तो दूसरी ओर नंद-दुलारे वाजपेयी की सांस्कृतिक चेतना से संपृक्त आलोचना का। परंपरा को नकारा नहीं जा सकता, किंतु विभिन्न सोपानों की क्रमिकता में वर्तमान की आवश्यकता को समझना भी जरूरी है। इस विकास-यात्रा में वे डॉ० नगेन्द्र की सौंदर्यानुभूति के विश्लेषण के भी कायल हैं। नरेन्द्र मोहन भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के पुनर्मूल्यांकन के पक्षधर हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'रचना' प्रमुख और केंद्रीय वस्तु होती है। भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र विरोधी या एकांगी भूमिका न निभाकर रचना की पहचान में सार्थक हों, यह आवश्यक है। यदि आलोचक सैद्धांतिक खींचतान करता है तो रचना के प्रति न्याय संदिग्ध हो उठता है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य पर विभिन्न दर्शनों, विचारधाराओं का भरपूर प्रभाव पड़ा है। आधुनिक साहित्यकार के अनुभवों की परिधि का विस्तार वैश्विक फलक

तक हुआ है, अतः जीवन की जटिलता, सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और विचार-प्रक्रिया पर एक व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है। मनुष्य का मन जीवन और अस्तित्व ही समस्त क्रियाओं के मूल में है। विश्व-चिंतन के आधार पर मनो-विश्लेपणवाद, मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद जैसी विचारधाराएं यथार्थ का उद्घाटन करती हैं। डॉ० नरेन्द्र मोहन परंपरा का अवदान स्वीकार करते हुए भी नई विचारधाराओं के समावेश को 'आलोचना' के लिए प्रासंगिक और आवश्यक मानते हैं। वे अपने तर्क को स्थापित करने के लिए विश्लेषण पद्धति को अपनाते हैं। एक-एक बिंदु को उठाते हुए अपने मतव्य को 'संवाद' की शैली में स्पष्ट करते हुए व्याख्या करते हैं। इस व्याख्या में वे रचनाकार चाहे कवि हो या लेखक—आवश्यकतानुसार उद्धरण देते चलते हैं। समकालीन रचनाकारों और समकालीन आलोचकों की अभिव्यक्ति समानांतर रूप से मूल्यांकन परीक्षण के दौर से गुजरती है। डॉ० नरेन्द्र मोहन इस मूल्यांकन परीक्षण की व्याख्या व्यावहारिक धरातल पर करते हैं, जिससे दुरूह सिद्धांत भी सहज संप्रेषण की क्षमता रखते हैं। वस्तुतः उनका दृष्टिकोण किसी लेखक या कृति को स्थापित या विस्थापित करने में नहीं, बल्कि साहित्य के विकास के आधार पर अभिव्यंजना शैलियों का तटस्थ विश्लेषण करना होता है। विश्लेषण और निष्कर्षात्मक टिप्पणियों में वे अपने कथ्य में प्रवाह और गत्यात्मकता बनाए रखते हैं। यथा—"साहित्यिक मूल्यांकन में मनोविज्ञान, दर्शन, समाज शास्त्र और संस्कृति के उपयोग से हिंदी आलोचना ने काव्यशास्त्र की परिधि को लांघा है और सौंदर्य-शास्त्र के परिवृत्त का विस्तार किया है। परिणामतः नए दृष्टिकोण, परिप्रेक्ष्य बिंदु और समीक्षा पद्धतियां उभरी हैं। इससे हिंदी आलोचना समृद्ध हुई है, उसमें नये आयाम जुड़े हैं।"

आलोचना के नए आयामों के प्रति आलोचक की सजग दृष्टि और सतर्कता परिलक्षित होती है। यदि सृजन के बदलाव की गंध भाषिक संरचना में मिलती है तो उसके मूल्यांकन में भी नए शब्दों की खोज हुई है। जाहिर है कि इन मुहावरों ने पुरानी शास्त्रीयता की बाड़ेबंदी तोड़ी है। नरेन्द्र मोहन ने समकालीन आलोचना में नवप्रयुक्त शब्दों को न केवल पकड़ा है, बल्कि उन्हें नूतन संदर्भों के लिए जायज भी पाया है, जैसे—'रचना की साहित्यिक मूल्यवत्ता,' 'रचना की अन्विति एवं सांगिक एकता', 'रचना की भाषा के सृजनात्मक रूप की जांच', 'आंतरिक व्यवस्था', यथार्थ बोध', 'सार्थक कला सृजन', व्यक्ति मर्यादा', 'व्यक्ति-सत्य' आदि। ऐसे अनेक नए शब्दों को उन्होंने रचनाकारों की बदली मानसिकता का प्रतीक माना है। साथ ही आलोचना कोष के भंडारण की श्रीवृद्धि भी की है। नरेन्द्र मोहन आलोचकों की शैलियों और पद्धतियों पर टिप्पणी तो करते ही हैं, साथ ही स्वयं कवियों, रचनाकारों द्वारा किये गए आलोचना धर्म पर भी अपना मत प्रस्तुत करते हैं, लेकिन उनका स्वर कहीं भी तीखा या आरोपात्मक नहीं

होता। वे निरतर एक संतुलन की तलाश में रहते हैं। समकालीन आलोचना के प्रति लगाव को दर्शाने वाला यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है—"आलोचना में विभिन्न ज्ञानानुशासनों की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। रचना की भीतरी दुनिया और समाज विधाओं के मध्य एक संयोजन (को-आर्डिनेशन) एवं समन्वय की स्थिति को साधने की दिशा में समकालीन आलोचना सक्रिय रही है। नरेन्द्र मोहन केवल आयातित आलोचना शैली के पक्ष में नहीं—वे परंपरा का तिरस्कार भी नहीं करते किंतु आलोचकों की बौद्धिक चालाकी अथवा खेमेबाजी के अंतर्गत होने वाली रचनाओं के प्रति पक्षधरता अथवा उखाड़ नीति के खिलाफ हैं। आधुनिक आलोचकों की एक लबी फेहरिस्त उनके पास है—चाहे वे काव्यालोचक हो अथवा कथा-आलोचक। उन्हें समीक्षा-दृष्टियों या विचार-सरणियों से गिला नहीं है किंतु उनके उपयोग और व्यवहार पर शक अवश्य है। यही कारण है कि नए मूल्यों, प्रतिमानों के प्रति आग्रह रखते हुए भी वे आलोचना की विश्वसनीयता के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। उनका निश्चित मत है कि इतिहास और परंपरा से कट-कर समकालीन साहित्य की जडो को नहीं पहचाना जा सकता। वे उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी इस मत के समर्थक हैं—"आलोचना के लिए समकालीन बोध से सपन्न होना जरूरी है तो उसके लिए यह भी जरूरी है कि वह समकालीनता को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में देखे और समझे। आस्वाद और मूल्याकन के विविध धरातलों को आत्मसात कर सकने वाली आलोचना दृष्टि परपरा और इतिहास के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। समकालीन संदर्भों और कृतियों को परपरा के जीवंत तत्त्वों और अंशों की संगति में बेहतर समझा जा सकता है और इससे आलोचना के लिए नए मुद्दे उभरकर सामने आ सकते हैं।"

डॉ० नरेन्द्र मोहन की आलोचना शैली सृजन-धर्मिता की कोमल अभिव्यंजना लिए है। इसीलिए उनकी बात सहज रूप से फिसलती हुई दिखती है, वहा फतवे देने या दावे करने का आग्रह नहीं है। अतः लेखक के प्रति वे अधिक संवेदनशील है। उनका मानना है कि लेखक जब किन्हीं विशिष्ट शब्दों का प्रयोग करता है, मसलन विद्रोह या संघर्ष का तब वह केवल शब्दों से खिलवाड नहीं करता, वह शब्द उसकी रचनाधर्मिता का, उसकी मानसिक सोच का ही एक हिस्सा होता है। लेखक यातना से गुजरकर विद्रोह तक पहुंचता है। नरेन्द्र मोहन लेखकीय आस्था और मूल्यपरक प्रतिबद्धता के प्रति आश्वस्त हैं; क्योंकि लेखकीय दायित्व जीवन के यथार्थपरक संदर्भों से जुड़े है, दूसरे अनुशासनो से अलग साहित्यिक सवेदनशीलता अभिव्यंजित होती है। यथार्थ के आधुनिक सरोकार मध्ययुगीन सरोकारों और प्रतिबद्धताओं से भिन्न हैं, अतः रचना की परख भी नए औजारों की अपेक्षा रखती है। व्यक्ति और व्यवसाय के अंतर्विरोधों के प्रति लेखक को सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए नरेन्द्र मोहन की आलोचना-शैली निबंधात्मक रूप में एक-एक

तथ्य का, परत-दर-परत खुलासा करती है। वे 'रचना' और लेखकीय दायित्वों को यथार्थ और परिवेश के प्रत्येक कोने से घेरते हैं। धैर्यपूर्वक उनको मंतव्य और अर्थ प्रदान करते हैं और फिर एक मूल्यपरक रचना की पहचान बताते हैं, किंतु फार्मूलाबद्ध रचनाओं से उन्हें सख्त परहेज है—"साहित्य के संदर्भ में विद्रोह और क्रांति का बोध फार्मूलों और सुनिश्चित धारणाओं के सहारे संभव नहीं है। उदाहरण के लिए सामाजिक परिवर्तनों की आकांक्षा के निमित्त शोषित वर्ग के जुझारू लेबर को दिखाना एक बात है, पर सर्वत्र शोषक वर्ग पर उसे विजयी होते दिखाना नुस्खे का शिकार हो जाना है और छद्म को पनाह देता है। वे अनुभव की ईमानदारी को सिद्धांत से अधिक प्रामाणिक मानते है, तभी लेखन सार्थक हो पाएगा।

नरेन्द्र मोहन ने कविता को आधुनिक उपकरणों से व्याख्यायित करने की चेष्टा की है। जीवन की जटिलता और संश्लिष्टता के साथ-साथ तार्किकता और बौद्धिकता भी बढ़ी है, अतः कविता में अनुभूति के साथ विचारों की दखलंदाजी और खुरदरापन बढ़ता गया है, अतः प्राचीन काव्यशास्त्रीय उपकरण—रस, अलंकारों की लाक्षणिक व्यंजनाएं भी मिसफिट हो गई हैं। प्रतीकों और बिंबों के साथ उपमानों और शब्दों के प्रयोग में भी परिवर्तन हुआ है। परिवेश के अनेक स्वरों की पहचान आज एक व्यापक फलक की मांग करती है। नरेन्द्र मोहन ने अनेक विद्वानों के उद्धरणों के हवाले से कविता में 'विचार' की उपस्थिति दर्ज करते हुए माना है कि विचार और विचारधारा में अंतर होता है। काव्य में अनेक आंदोलनों और परिवर्तनों के पीछे 'विचार' का आग्रह प्रबल और आवश्यक है। वे लंबी कविताओं को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। उनका कहना है कि इन लंबी कविताओं की वैचारिक संवेदना और बनावट (जिसे नई कविता की मुख्य प्रवृत्ति में खपाया नहीं जा सकता) से नई कविता की भावनापरकता और अनुभव-पद्धतियों में विच्छेद उपस्थित हुआ, आत्मगत तथा वैयक्तिक धरातलों पर सिमटा हुआ विचार आत्म की गहराइयों में उतरने लगा तथा वस्तु और इतिहास के ठोस संदर्भों में संचरित होने लगा। उनका विचार, कविता में आरोपित नहीं, बल्कि घुला हुआ होना चाहिए। नरेन्द्र मोहन ने छायावाद से लेकर समकालीन कविता के विभिन्न आंदोलनों और प्रमुख कवियों की पड़ताल करते हुए समय के साथ होने वाली प्रतिक्रियाओं की आवश्यकता, अनावश्यकता, औचित्य, अनौचित्य और सार्थकता के बिंदुओं का विश्लेषण किया है। वक्त के तकाजे ने राजनीतिक दर्शन को प्रखर कविता की भाषा दी। नरेन्द्र मोहन रूढ़ियों और रीतियों को तोड़ने वाली कविता में विचार और अनुभव की प्रामाणिकता, व्यंग्य और विडंबना, विवरण, सपाटबयानी, तनाव, अतिरंजना, खुरदरापन, आभिजात्य भंगिमाओं के तिरस्कार के रूप में स्वीकार करते हैं। वे अपने मत की सोदाहरण विवेचना के बाद निष्कर्षात्मक टिप्पणी में सारांश समेटने की चेष्टा करते हैं—

"विचार और अनुभूति का जो विशिष्ट समीकरण इधर की कविता मे उभरा है, वह आज की कविता का संगत और उपयुक्त विधान है। इससे वास्तविकता की समझ और पहचान निश्चय ही बढ़ी है तथा विद्रोह की अर्थवान भूमिका तैयार हुई है। इसके अभाव में विचारहीन अनुभव कविता मे रोमानी और छद्म लड़ाई को पनाह देता रहेगा या निबंध के व्यक्तिवादी आत्महंता रूपों में सिमटकर रह जाएगा।"

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने लंबी कविताओं की विस्तृत चीर-फाड़ की है। वे कविता की आवश्यकताओं को समकालीन बोध से समुत्पन्न मानते हुए उसे क्लासिकल काव्य से भिन्न काव्यानुभव मानते हैं। हिंदी के कवियों और उनकी रचनाओं के काव्य विधान को उठाते हुए पश्चिमी रचनाकारो और उनकी रचनाओं तथा सिद्धांतों का हवाला देते हैं। तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए वे रचना की आंतरिक सरचना, सार्थकता और संप्रेषणीयता की संभावनाओं को उजागर करते हैं— 'वैसे बिंब और विचार का तनाव लंबी कविता की संरचना का मूल आधार है।" उनकी निष्कर्षात्मक शैली का एक नमूना है—" 'निराला की राम की शक्ति पूजा' मे आख्यान के सहारे सर्जनात्मक तनाव को बिंबात्मक रूप में प्रतिफलित किया गया है, जबकि मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे' में में बिंब और विवरण पूरे काव्यात्मक विधान को संतुलित किये हुए है। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' आख्यान से बिंब की ओर प्रस्थान का उदाहरण है तथा राजकमल चौधरी की कविता 'मुक्ति-प्रसंग' तनाव को केंद्रीय बिंब-प्रतीक द्वारा संयमित करने का उदाहरण है।" कई बार वे केवल ढेर सारे नाम गिनाकर आगे बढ़ जाते हैं, तो कई बार ढेर सारे विचार-बिंदुओं की सूची प्रस्तुत हो जाती है, मगर हर बार लगता यही है कि वे बहुत पैनेपन से बारीक रेशों को भी पकड़ लेते हैं। उनके पास नया कहने को बहुत कुछ है। वे कविता के सरोकारों के प्रति चिंतित हैं—"कविता यदि आस-पास के परि-दृश्य से नहीं जुड़ती—यदि भाषा और मुहावरे अपने परिवेश और अनुभव को अभिव्यक्त नहीं करते तो कविता में प्रखरता नहीं आ सकती, किंतु कविता के भीतर झांके बगैर कवि की अंतर्यात्रा और अंतर्मंथन को बाह्य जगत से नहीं जोड़ा जा सकता।" इसलिए नरेन्द्र मोहन कहते हैं—" 'प्रतीकों और बिंबों' की दुनिया कविता के सरोकार की समानांतर दुनिया है। सरोकार कविता के भीतर से फूटता है'''उसके रचाव और भाषा मे से। इसीलिए सरोकार दृष्टिकोण नहीं है, उसका प्रतिफलन है, परिप्रेक्ष्य नहीं, उसका आधार है।" उनको अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से कोई परहेज नहीं है, क्योंकि आधुनिक बोध जीवन की रोजमर्रा की व्यावहारिक अनुभूतियों से उपजता है, अतः आज की कविता, विद्रोह, संघर्ष, तनाव, मुद्रा, रैटारिक, बयानबाजी एब्सर्ड, डिसेंट आदि मानवीय चिंताओं और सरोकारों से अलगाकर नहीं देखी जा सकती। किंतु कहीं-कहीं सृजनधर्मी कवि की भावुकता

आलोचना को भी काव्यात्मक बना देती है, जैसे धधकता हुआ इंकार, पीड़ा का जश्न, अंदाजेबयां आदि।

आधुनिकता को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने का आग्रह उनका गद्य की विविध विधाओं के प्रति भी है। वर्तमान युगीन वैज्ञानिकता, टेक्नोलोजी और औद्योगीकरण की संस्कृति ने जहां मानव जीवन की शैली को बदला है, वहां उसके चिंतन और द्वंद्वात्मक अस्तित्व को भी प्रश्नों के घेरे में ला खड़ा किया है। नरेन्द्र मोहन आधुनिकता का मतलब स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "आधुनिकता मेरे लिए न शास्त्र है न संप्रदाय, न दर्शन है न रीति, न प्रतिमान है न परिपाटी। इसे आप आधुनिक युग की खास दृष्टि कह सकते हैं।"

आधुनिकता के विकास को वे तर्कपूर्ण ढंग से विश्लेषित करते है। चार्ल्स डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से लेकर कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष की अवधारणा तक और फिर मानव मुक्ति की गतिशील धारणा तक के ऐतिहासिक विकास-क्रम की पड़ताल करते है। इसी आधुनिकता और प्रगतिशीलता के संबंधों को तलाशते हुए वे आधुनिक कहानी की जांच करते हैं—पुराने खांचों को परे फेंककर भावात्मक परायेपन की भी चर्चा करते हैं और अस्तित्ववादी भाववादी मुद्राओं और तेवरों की भरमार की भी। उनकी खूबी यह है कि वे अपने समकालीन आलोचकों के मतामतों का भी विश्लेषण करते हैं और विधा के विकास-क्रम का भी। आजादी के बाद आधुनिकता का अर्थ-बोध बहुत जल्दी-जल्दी बदला है, जिंदगी की औसत रफ्तार तेज हुई है तो लेखन में भी करुणा और पीड़ा बोध का सुर बदला है। व्यक्ति, व्यवस्था और सामाजिक सच्चाइयों को सीधे, स्पष्ट, और विद्रोही मुद्रा में कहने का हौसला सातवें दशक के बाद बढ़ा है, अतः सभी पुरानी अवधारणाओं के पुनर्विचार की आवश्यकता भी महसूस हुई है। नरेन्द्र मोहन बहुत धैर्यपूर्वक स्वातंत्र्योत्तर आधुनिकता बोध की अभिव्यक्ति की जांच-पड़ताल करते हैं। उनकी शैली में साहित्य के साथ 'इन्वाल्वमेंट' और आत्मीयता का संस्पर्श बहुत गहरा है, अत. वे बिना किसी दंभ के दूसरों के विचारों को उद्धृत करते हुए अपनी बात कह देते हैं। इस कहने में नीरसता इसलिए नहीं आ पाती कि रचनाओं के उद्धरण और उनके ब्यौरे साथ चलते है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों की छानबीन करते हुए वे हिंदी उपन्यास की नई भूमिका की दस्तक वस्तु, संरचना, दृष्टिकोण और भाषा के धरातल पर सुनते हैं। निश्चय ही वह बदलाव सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों की देन है। मानव-मूल्यों के संक्रमण के तीव्र दौर से गुजरते हुए हिंदी उपन्यास ने समकालीन यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। सन् 1947 से 1960 तक के मुख्य हिंदी उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए वे निष्कर्षात्मक टिप्पणी देते हैं—"इस दौर के उपन्यासों में एक सुनिश्चित भौतिक ढांचे में अनुभव को ढालने के बजाय उससे चरित्र-चित्रण मूल्य संक्रमण और मानव स्थिति के प्रश्नों की

खोजबीन का प्रयत्न किया गया है। उपन्यासों की संरचना के मूल में भी किसी नैतिक आग्रह को मान्यता नहीं दी गई।

आधुनिकता का एक अहम हिस्सा है तनाव। समाज का कोई भी वर्ग, किसी भी आयु वर्ग का व्यक्ति इससे अछूता नहीं। सामाजिक समस्याओं के अनेक रूप, अनेक आयाम, लेखन का फलक तलाशते हैं, मूल्यों के विघटन की चिंता भी अर्थ खोजती है और अर्थ के बढ़ते शिकंजे में पिसते मानव की जिजीविषा भी। नरेन्द्र मोहन साहित्य के माध्यम से भारतीय अस्मिता की चिंता करते है, किंतु वे निराश नहीं हैं—"हिंदी उपन्यास का संवेदनात्मक और वैचारिक दायरा बढ़ा है साथ ही इनमें वस्तु के अनुरूप कला रूप के पुनः अन्वेषण के प्रयत्न भी हुए हैं। व्यक्ति सत्य और सामाजिक सत्य, वैयक्तिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थ के खाने और ढांचे इधर के उपन्यासों में टूटे हैं।

डॉ० नरेन्द्र मोहन ने नाटकीय विधा के विभिन्न पहलुओं पर भी लेखनी चलाई है। उनका मानना है कि 'नाटक और रंगमंच' एक-दूसरे के साथ जीते और मरते हैं, बनते और बिगड़ते हैं। नाटक की रचना-प्रक्रिया और मंचीकरण की प्रक्रिया की कुछ भ्रामक अवधारणाएं हैं उन्हें दूर करना आवश्यक है। सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों की छाप पूरी नाट्य संरचना पर भी पड़ी है। 'थियेटर' की विविध परिकल्पनाएं इसी परिवर्तन की सूचक हैं। जयशंकर प्रसाद से लेकर आज तक के नाटकों का एक त्वरित हवाला देते हुए उनकी निरंतर चिंता नाटक को आम जीवन से जोड़ने की रही है। विधा कोई भी हो, उसमे समकालीन यथार्थ के उद्‌घाटन की क्षमता अवश्य होनी चाहिए।

डॉ० नरेन्द्र मोहन का स्वर आस्थापरक और गहरे लगाव का है। विभिन्न खेमेबाजियों से अलग उनकी चिंता साहित्य के सामाजिक सरोकारों के प्रति है। वे उन सभी विद्वानों, विचारकों के दृष्टिकोणों को उद्धृत करते हैं, जिनका अवदान साहित्यिक परंपरा को समृद्ध करने वाला है। अतः उनके स्वर में प्रतिद्वंद्विता पूर्ण अथवा अहं मिश्रित व्यंग्य-विनोद अथवा कटाक्ष नहीं है, न ही किसी प्रकार की उठापटक का स्वर है। वे अपने स्वाध्याय, चिंतन, मथन और अनुभवों से कुछ विचार तलाशते हैं। बहस मुबाहसों के माध्यम से उन्हें सान पर चढ़ाते हैं और समकालीन यथार्थ परिवेश को, अपरिहार्यता के रूप में, उदारतापूर्वक प्रस्तुत कर देते हैं। फिर भी 'कविता' के प्रति उनका रुझान और लगाव विशिष्ट है। आधुनिक कविता की अंतर्वर्ती संरचना के प्रति उनकी गोताखोरी का आग्रह प्रबल है। उनके विषय में यह कथन सही प्रतीत होता है—"वे रचना और आलोचना में एक अंतर्वर्ती संबंध मानते हैं, रचना को आलोचना में खोलते हैं और आलोचना को रचना में से उभारते हैं। इस तरह वे रचना और आलोचना में कृत्रिम तौर पर पैदा किये गए फासले को भी पाटते रहे हैं।"

समग्र दृष्टि मूल्यांकन की ओर

—डॉ० वीरेन्द्र सिंह

सहयोगी लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से नरेन्द्र मोहन के कृतित्व का जो विवेचन एवं मूल्यांकन किया है, उससे यह निगमित होता है कि उनके कृतित्व पर एक समग्र दृष्टि से विचार किया जाए। जहां तक मूल्यांकन का प्रश्न है, वह यहां पर अंतिम नहीं है क्योंकि किसी जीवित एवं समकालीन रचनाकार का मूल्यांकन अंतिम नहीं हो सकता, वह असल में, एक 'प्रक्रिया' के तहत ही होता है। दूसरी बात यह है कि रचनाकार काल की सापेक्षता में हमसे जितनी दूर होगा, उसका विवेचन और मूल्यांकन उतना ही तटस्थ एवं वैज्ञानिक होगा। फिर भी, जो भी रचनाकार हमारे समकालिक हैं, उनकी रचनात्मकता के आयामों को, उनकी संभावनाओं को तथा उनकी रचना-दृष्टि को रेखांकित तो अवश्य किया जा सकता है जो उनके मूल्यांकन की प्रक्रिया में न्यूनाधिक रूप से सहायक हो सके। इस दृष्टि से, जिन भी लेखकों के आलेख यहां संग्रह के रूप मे दिए गए हैं, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उन घटकों या तत्त्वों की ओर अवश्य संकेत करते हैं जो समान रूप से नरेन्द्र मोहन की सृजनात्मकता को गति एवं अर्थ देते रहे हैं। यदि गहराई से देखा जाए तो उनके काव्य, नाटक और आलोचना मे जो प्रमुख तत्त्व है, वह है विचार की रचनात्मकता जो यथार्थ के भिन्न स्तरो से गहरी जुड़ी हुई है। यदि इसे और व्यापक संदर्भ में कहें तो विचार-संवेदन के भिन्न आयाम उनके सृजन-माध्यमों में व्यक्त हुए हैं। नरेन्द्र मोहन का कहना है कि विचार उनके सृजन का केंद्रबिंदु है जिसे वे अनुभव के बीच से उभारते है। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुभव और विचार का एक समीकरण उनकी रचना-प्रक्रिया के केंद्र में है। मेरे विचार से अनुभव घटनासापेक्ष स्थिति है, और इसीसे इतिहास-दर्शन में यह माना गया है कि घटनाक्रम और विचार का रिश्ता द्वंद्वात्मक है। कविता और नाटक में घटना (क्रिया), विचार, पात्र, ब्यौरे तथा बिंब-प्रतीक न्यूनाधिक रूप में उनकी 'संरचना' को जन्म देते हैं। नाटकों मे ये बिंब-प्रतीक दृश्यात्मक होते हैं। आलोचना में इन बिंबों-प्रतीकों की व्याख्या

होती है, उन्हें इतिहास समाज, दर्शन तथा विज्ञान-बोध के परिप्रेक्ष्य में व्यापक अर्थ दिया जाता है। यही कारण है कि नरेन्द्र मोहन के कृतित्व में इन तत्त्वों का विशेष हाथ है। चाहे उनकी छोटी व लंबी कविताएं हों अथवा नाटक—ये तत्त्व न्यूनाधिक रूप से उनके सृजन में प्राप्त होते हैं। इस पक्ष का विवेचन संग्रह के अनेक निबंध करते हैं।

नरेन्द्र मोहन के कृतित्व में विचार-संवेदन के धरातल पर इतिहास, संघर्ष और विद्रोह को अपनी तरह से 'अर्थ' दिया गया है। उनकी कविताओं और नाटकों (आलोचना में भी) मे इतिहास मूलत: 'स्मृति' (भूत) के रूप में आता है जैसाकि हम उनकी लंबी कविताओं तथा नाटकों में पाते हैं। यहां पर इतिहास मूलत: स्मृति से जुड़ा हुआ है जिसे अनेक लेख संदर्भित करते है। यह स्मृतिकाल के परिदृश्य को उजागर करती है क्योंकि स्मृति (अतीत) वर्तमान को अर्थ देती है और भविष्य या संभावना को अनुमानित भी करती है। नरेन्द्र मोहन के काव्य एव नाटक में कभी-कभी स्मृति को वर्तमानता में अर्थ प्राप्त होता है और इतिहास यहा मात्र तथ्यात्मक न होकर कल्पना एवं संवेदना के द्वारा एक 'प्रतिविश्व' या 'फैंटेसी' का सृजन करता है। रचनाकार इतिहास के तथ्यों, घटनाओं तथा पात्रों को लेता तो अवश्य है, लेकिन उन्हें स्मृति से निकालकर अपने समय की सापेक्षता में इनका अर्थ-रूपातंरण करता है। यह रूपांतरण इतिहास की पुन-र्रचना करता है जो शायद मात्र रचनाकार ही कर सकता है, इतिहासकार उस अर्थ में नहीं। 'कहै कबीर सुनो भाई साधो', 'सींगधारी', 'कलंदर' तथा 'नो मैंस लैंड' में इतिहास इसी रूप में आता है, इस तथ्य को अनेक निबंध अपनी तरह से उद्‌घाटित करते हैं। यही स्थिति न्यूनाधिक रूप से लंबी कविताओं की है।

समकालीन साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में संघर्ष और विद्रोह की अपनी भूमिका रही है। इन तत्त्वों को समकालीन रचनाकारों ने अपनी-अपनी तरह से 'अर्थ' दिया है। यह संघर्ष या द्वंद्व बाह्य परिस्थितियों के अभ्यांतरीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है जो कविता तथा नाटक में बिंबों-प्रतीकों, पात्र व परिस्थितियों के द्वारा गति एवं अर्थ प्राप्त करता है। यह संघर्ष बाह्य एवं आंत-रिक दोनों स्तरों पर चलता है। यही कारण है सृजन के धरातल पर उनका एक गहरा आपसी संबंध है। नरेन्द्र मोहन के सृजन-कर्म में यह द्वंद्व कही तीव्र है जैसे लंबी कविताओं में या नाटकों में तो कहीं अपेक्षाकृत कम तीव्र है जैसे उनकी कुछ छोटी कविताओं में। उनकी आलोचना में इस संघर्ष को स्पष्ट किया गया है और उनके व्यापक सामाजिक-वैयक्तिक संदर्भों को उजागर किया गया है। असल में, यह संघर्ष और विद्रोह चुनौतियो का सामना करने के लिए एक कार-गर माध्यम है—एक ऐसा माध्यम है जो परिवर्तन को गति देता है और हमारी सोच को तीव्र एवं पैना करता है। नरेन्द्र मोहन के साहित्य-कर्म में इन दोनों

तत्त्वों का स्वरूप उसी तरह का है, और वे इन्हें 'मूल्य' की श्रेणी तक ले जाते हैं। उनके काव्य एवं नाट्य सृजन में संघर्ष और विद्रोह एक केंद्रीय सरोकार है। सृजन-कर्म को यदि व्यापक रूप में देखा जाए, तो उसमें ये दोनों तत्त्व 'रचनात्मक' संदर्भ प्राप्त करते हैं। स्वयं नरेन्द्र मोहन ने यह स्वीकार किया है कि ये तत्त्व उनके कवि कर्म का हिस्सा है, उनकी मानसिकता में रसे-बसे हैं। (बातचीत से)। यह संघर्ष-विद्रोह वैयक्तिक धरातल को छूता हुआ सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक संदर्भों तक पहुंच जाता है। नरेन्द्र मोहन के नाटक एवं कविताएं इस भाग को पूरा करती हैं जो अनेक निबंधों में भी रेखांकित हुई हैं। इसी संदर्भ मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सरोकारों की अभिव्यक्ति में भाषा का तेवर आक्रामकता का नही है, बड़बोलेपन का भी नहीं हैं और न शाब्दिक 'जार्गन' निर्मित करने का है। भाषा की संरचना इस तरह की है जो संघर्ष और विद्रोह की 'मानसिकता' को पुख्ता करती है, हमें सोच और कर्म के धरातल पर प्रेरित करती है। मेरे विचार से, नरेन्द्र मोहन की रचनात्मकता में भाषा का यह रूप उन्हें एक अलग स्थान देता है, और हुजूम मे से उन्हें अलगा देता है। उसे और स्पष्ट किया जाए तो मैं डॉ० रमेश कुंतल मेघ के शब्दो में कहूंगा जो कविता के संदर्भ में कहा गया है, लेकिन वह उनके पूरे लेखन के बारे में भी सत्य है—
"नरेन्द्र मोहन की ये कविताए (लंबी) सौम्य हैं। उसी तरह जैसे स्वयं वे जीवन मे सौम्य हैं। उनमें बड़े भारी दावे नहीं हैं, ढपोरशंखीपन नहीं है। अत: ये मामूली कविताएं हमारी निजी हैं। यह आमफहम की समझदारी को, उदार हिंदू की धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से आधुनिक भारत की पहचान ज्यादा स्पष्ट व सुलभ करती हैं। असल में विद्रोह और सघर्ष मात्र बाह्य एवं आंतरिक ही नहीं है, वरन् वह भाषा के स्तर पर भी लड़ा जाता है। विद्रोह और संघर्ष की मनोभूमि भाषा के रूढ एवं अर्थहीन प्रारूपों को नकारती है और नए प्रतिरूपों की संरचना करती है। यह एक सतत प्रक्रिया है जो यह तथ्य प्रकट करती है कि रचनाकार स्वय अपने को लगातार तोड़ता चलता है जो केवल सही एवं अर्थवान संघर्ष एव विद्रोह के द्वारा ही संभव है मात्र फैशन के बतौर नहीं। नरेन्द्र मोहन के सृजन-कर्म में ये दोनों तत्त्व फैशन अथवा आरोपण की प्रवृत्ति को लक्षित नहीं करते है, वरन् वे स्वाभाविक रूप में व्यक्त होते हैं।

नरेन्द्र मोहन के लेखन में (विशेष रूप से आलोचना) एक अन्य घटक है 'आधुनिकता' बोध के स्वरूप तथा उसके क्षेत्र को लेकर जो अनेक निबंधो मे विवेचित हुआ है। नरेन्द्र मोहन ने आधुनिकता बोध को एक व्यापक संदर्भ दिया है और उसे अस्तित्ववादी आधुनिकता तक सीमित नहीं रखा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अस्तित्ववाद या किसी अन्य आधुनिक दर्शन को नितांत नकारा जाए क्योंकि दर्शन के कुछ न कुछ तत्त्व प्रासंगिक रहते हैं

में वैयक्तिक विद्रोह, अकेलापन, एब्सर्ड बोध तथा परायापन ऐसे संप्रत्यय हैं जो आधुनिकता बोध के अंग मात्र हैं क्योंकि ये सभी तत्त्व वैयक्तिकता का अतिक्रमण कर सामाजिक क्षेत्र में भी अपना अस्तित्व रखते हैं। यही कारण है कि नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को युग की खास तरह की मानसिकता कहते हैं जिसमें दो प्रवृत्तियां प्रमुख हैं, एक मध्यकालीन दैवी शक्ति के स्थान पर 'मानव' का केंद्र में आना तथा दूसरे वैज्ञानिक तकनीक तथा औद्योगिकीकरण की संस्कृति। इसीसे आधुनिकता आज के दबावों, सोच, चिंतन तथा संघर्षशील प्रश्नाकुलता से संबंधित एक दृष्टिकोण है, यहां तक कि वह मूल्य और प्रक्रिया भी है। मेरे विचार से आधुनिकता बोध के पीछे मूल दृष्टि वैज्ञानिक-बोध की है जो मात्र तकनीकी विकास नहीं है, वरन् उस विकास में वैचारिक द्वंद्व का रूप भी है। इसी से रसेल ने विज्ञान के दो मूल्य माने हैं—एक शक्ति मूल्य तथा दूसरे प्रेम या विचार मूल्य जो प्रकृति, विश्व, मानव तथा जगत को, उसके संबंधों और प्रक्रियाओं को परीक्षण एवं विवेक के द्वारा परिभाषित करता है। यहां पर मूल तत्त्व है विवेकशील मानसिकता जो चीजों और वस्तुओं को सही 'लोकेशन' दे सके। अक्सर हम विज्ञान को उसके मिथक-तकनीक-तक केंद्रित करते हैं, जो विज्ञान का मात्र एक पक्ष है, संपूर्ण विज्ञान नहीं। नरेन्द्र मोहन ने वैज्ञानिक मानसिकता पर बल तो अवश्य दिया है, लेकिन इस रूप में नहीं। मेरे विचार से इसे उन्हें और व्याख्यायित करना चाहिए था। फिर भी उन्होंने आधुनिकता को एक व्यापक संदर्भ दिया है, और उसे समकालीन सृजन विधाओं के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया है, विशेषकर कविता और कहानी के संदर्भ में। **डॉ० सुरेश बत्रा, डॉ० महावीर दाधीच, डॉ० कीर्ति केसर** तथा **डॉ० रत्नलाल शर्मा** आदि सहयोगी लेखकों ने इस पक्ष का सार्थक विवेचन-विश्लेषण किया है।

जैसाकि मैंने कहा कि विज्ञान बोध आधुनिक दृष्टि का एक आवश्यक-अभिन्न अंग है जिसका सृजन एवं चिंतन के भिन्न रूपों पर परोक्षतः या प्रत्यक्षतः प्रभाव पड़ा है। विवेकशीलता, प्रश्नाकुलता, प्रेक्षण, साक्ष्य तथा द्वंद्वात्मकता—ये सभी तत्त्व वैज्ञानिक बोध से संबंधित हैं और इनका न्यूनाधिक संदर्भ सृजन एवं चिंतन के क्षेत्रों में देखा जा सकता है। हमारा हिंदी का रचनाकार विज्ञान बोध के धरातलीय रूप से ज्यादा प्रभावित है, उसके वैचारिक एवं प्रेय मूल्य से उतना संबंधित नहीं है। उसकी रचनाओं में वैज्ञानिक आशयों एवं प्रतीकों का वह रचनात्मक संदर्भ प्राप्त नहीं होता है जो हमें मुक्तिबोध, प्रसाद, नरेश मेहता तथा विश्वंभरनाथ उपाध्याय में न्यूनाधिक रूप से प्राप्त होता है। हम लोकवृत्ति की बात तो बहुत करते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि आज के संदर्भ में 'लोक' का अर्थ व्यापक होता जा रहा है, उसे अब मात्र पारंपरिक रूढ़ि अर्थ में लेना ठीक नहीं है। लोक में जहां एक ओर ग्रामीण जनपदीय-महानगरीय परिवेश है, वहीं

उसमें विज्ञान बोध और भिन्न वैचारिक आशयों का एक द्वंद्वात्मक रूप भी है। नरेन्द्र मोहन के रचना-संसार में 'लोक' की धड़कनें हैं जो उपर्युक्त व्यापक अर्थ की दृष्टि से कुछ दूर है, लेकिन विज्ञान बोध का उपर्युक्त रचनात्मक संदर्भ उनमें भी अपेक्षाकृत कम है। मुझे लगता है कि नरेन्द्र मोहन में वह ऊर्जा है जो इस क्षेत्र को भी रचनात्मक संस्पर्श दे सकती है। जब तक रचनाकार दर्शन, धर्म, समाज, राजनीति और इतिहास के संप्रत्ययों और आशयों का रचनात्मक संदर्भ देता रहा है, तो वह विज्ञान बोध के संप्रत्ययों और आशयों को अपनी सृजनात्मकता का अंग क्यों नहीं बना सकता? वह उनके द्वारा भी 'फैंटेसी' या 'प्रतिविश्व' की रचना कर सकता है। आज के संदर्भ में रचनाकार के विचार-संवेदन में इस विज्ञान-बोध का परोक्ष रचनात्मक संदर्भ उसकी सृजन-प्रक्रिया को व्यापक एवं अर्थवान बनाएगा। यह ठीक है कि एक आलोचक, रचनाकार को यह नहीं कह सकता कि वह यह लिखे या स्वीकार करे, वह एक संवाद की स्थिति में, एक आत्मीय मित्र की हैसियत से सोचने के लिए प्रस्तावित कर सकता है। मुझे ऐसा महसूस हुआ, इसी से अपने मन की बात नरेन्द्र मोहन और अपने उनके समकालीन रचनाकारों से, आत्मीय संवाद की दशा में कह रहा हूं।

मैंने उपर्युक्त जिन तत्त्वों या घटकों का जिक्र किया है, वे नरेन्द्र मोहन के कृतित्व में न्यूनाधिक रूप से गतिशील हैं और उनके रचनात्मक व्यक्तित्व में 'सहचर' के रूप में विद्यमान हैं। फिर भी, मैं प्रत्येक विधा (कविता, नाटक और आलोचना) पर लिखे समीक्षात्मक आलेखों में से उन विचारों को यहां संक्षेप में रखना चाहूंगा जो नरेन्द्र मोहन के मूल्यांकन एवं विवेचन में आवश्यक तत्त्व हैं।

कविता के संदर्भ में अनेक सहयोगी लेखकों ने कुछ विचार एवं मुद्दे उठाए हैं जो नरेन्द्र मोहन की कविताओं पर तटस्थ एवं महत्त्वपूर्ण कथन हैं। पहला कथन **डॉ० महावीर सिंह चौहान** का है। उनका मानना है कि कवि की कविताएं यथास्थिति को तोड़ती हैं और यह एक सौंदर्यशास्त्र प्रक्रिया भी है। यह तोड़ना एक नए सौंदर्य शास्त्र को जन्म देता है। मेरे विचार से यह मत उन सभी रचनाकारों पर समान रूप से लागू होता है (चाहे वे आदि या मध्यकाल के ही क्यों न हों) जो यथास्थिति के भिन्न स्तरों से टकराते हैं और उन्हें कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर तोड़ते हैं। उस तोड़ने में एक नए सौंदर्यशास्त्र का जन्म होता है जो सृजन को गति देता है। दूसरा ध्यान देने योग्य कथन **डॉ० रामदरश मिश्र** का है। वे मानते हैं कि कवि की कविताएं एकालाप हैं, संवाद नहीं। यह मत छोटी कविताओं के लिए तो सही है, पर शायद लंबी कविताओं के संदर्भ में नहीं। डॉ० मिश्र का यह भी कथन है कि कवि की बाद की कविताओं में गहरे संश्लिष्ट बिंबों के दर्शन होते हैं, शुरू की कविताओं में नहीं। यह मत सही है। इसी संदर्भ में श्री **जगदीश चतुर्वेदी** का मंतव्य है कि कवि की रचनाओं में प्रेम कविताएं

कम हैं। यदि कहीं हैं भी तो मात्र उनका 'ध्वनन' ही मिलता है। राजनैतिक कवि-ताएं अधिक हैं। यह मत उचित है। डॉ० मनोज सोनकर और वीरेन्द्र सिंह ने अपने लेखों में कवि के संवेदनात्मक चित्रों व दृश्यों (प्रेम-प्रकृति-परिवार-बिंब) का जो विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, वह नरेन्द्र मोहन के उस पक्ष को उजागर करता है जिस पर लोगों का कम ही ध्यान गया है। यदि हम 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' कविता को लें, तो हम पाते हैं कि यह लंबी कविता दो स्तरों पर समानांतर रूप से चलती है—एक सामाजिक-राजनैतिक स्तर पर और दूसरे प्रेम-संवेदना के स्तर पर। अतः कवि के सृजन-कर्म में ये दोनों पक्ष विद्यमान हैं, अधिक से अधिक मात्रात्मक अंतर माना जा सकता है।

इस संपादन में लंबी कविताओं पर कुछ लोग हैं जो अक्सर नए संदर्भ उठाते हैं। डॉ० रमेश कुंतल मेघ का लेख निश्चित ही नए संदर्भों को मनोवैज्ञानिक-सामाजिक-साहित्यिक स्तर पर उठाता है। उनका मानना है कि संकट दृश्य का नहीं, पर दृष्टि का है। हम दृश्य को कैसे लेते हैं, उसका कैसे रूपांतर करते हैं, यह 'दृष्टि' के बगैर संभव नहीं है। कवि के पास यह दृष्टि है, तभी तो वह साहचर्यों को बिंबों में ढालता है। एक प्रकार से वह साहचर्यों का रूपांतरण करता है। यह रूपांतरण साहित्यिक संस्कृति को अर्थ देता है। अनेक साहित्यिक कृतियों के साहचार्य से यह एक ऐसा समग्र 'बिंब' उपस्थित करता है जो राजनैतिक-सामाजिक संस्कृति को पृष्ठभूमि में ले जाता है और एक साहित्यिक संस्कृति को पूरे परिदृश्य पर आच्छादित कर देता है। लंबी कविताओं का यह विवेचन-मूल्यांकन इन कविताओं की संरचना को नए संदर्भ देता है। इस मूल्यांकन में डॉ० माहेश्वर ने एक नया संदर्भ उठाया है कि इन कविताओं में संकट मात्र वाह्य का नहीं है, वरन् वह आंतरिक, ऐतिहासिक और स्मृतिपरक है। दूसरा तत्त्व जो डॉ० माहेश्वर ने उठाया है कि लंबी कविताओं में स्मृति और इतिहास का तत्त्व हो ही, यह जरूरी नहीं है। इसके पक्ष में उन्होंने सरोज-स्मृति को पेश किया है जिसमें स्मृति के बिंब हैं, वरन् वे वैयक्तिक अधिक हैं। यहां भी इतिहास है जो वैयक्तिक भी है और सामूहिक भी। इसी संदर्भ में डॉ० भगवानदास वर्मा ने लंबी कविताओं में अनुभूति, विचार और कथा तत्त्व के संयोग को 'क्रोनोलॉजिकल या तिथिक्रम के रूप में देखा है जो कविता की 'हॉरीजॉन्टल' संरचना है। यह सही है कि लंबी कविता की संरचना में पात्रों, ब्यौरों एवं बिंबों आदि का एक तिथिक्रम होता है—एक अनुक्रम होता है—पर यह अनुक्रम स्मृति के रूप में भी होता है, उसमें पूर्वापर संबंध सभी जगह हो, यह आवश्यक नहीं है। यहां पर साहचर्यों का विशेष स्थान है जिसकी ओर समीक्षक का ध्यान नहीं गया है। डॉ० मीनू गेरा तथा प्रताप सहगल लंबी कविता को प्रबंधात्मकता का पर्याय नहीं मानते है, उनकी अपनी विशिष्ट संरचना होती है। यहां पर एक तथ्य की ओर संकेत

करना जरूरी है कि सामान्य रूप से सभी समीक्षकों ने लंबी कविता के क्षेत्र में डॉ० नरेन्द्र मोहन के देय को स्वीकार किया है जो उनके मूल्यांकन का विशिष्ट तत्त्व है।

समीक्षकों ने सामान्य रूप से नरेन्द्र मोहन की नाट्य-संरचना को 'मंच' के अनुकूल पाया है। मात्र डॉ० **गुरचरण सिंह** उनके नाटकों के मंचन से पूर्णतया संतुष्ट नहीं हैं। 'फ्लैश बैक' को वे नाटक के लिए उपयुक्त नहीं मानते हैं। उनका यह मानना है कि नरेन्द्र मोहन के नाटकों के मंचन के लिए मंटो के साहित्य तथा उसकी प्रवृत्ति से परिचित होना जरूरी है। **डॉ० गुरचरण सिंह** ने नाटकों के मंचन को लेकर जो मुद्दे उठाए हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं जिसकी ओर निर्देशकों का ध्यान जाना चाहिए। दूसरी ओर **डॉ० पवन कुमार मिश्र** ने नरेन्द्र मोहन के नाटकों का विवेचन एक नए प्रकार से किया है। उनके नाटकों की संरचना 'क्रियाशीलता' में है। उसके अंदर क्रिया-अक्रिया का द्वंद्व सतत चलता है जो उसे रचनात्मक उत्तेजना देता है। यह क्रियात्मकता एक प्रतिसंसार की रचना करती है जिसमें कथ्य, पात्र तथा संवाद झिलमिलाने लगते हैं। यह प्रतिसंसार विशिष्ट से सामान्य और पुनः सामान्य से विशिष्ट की ओर एक 'वृत्त' में चलता है जिसमें 'संघर्ष' की स्थितियां जन्म लेती हैं। इस पूरी प्रक्रिया का सुंदर विवेचन नाटकों के संदर्भ में किया गया है और लेखक का मत है कि सभी नाटकों में सत्य के प्रकटी-करण की 'क्रिया' है जो अपने में इतिहास की पुनर्रचना है, यही सृजन का 'प्रति-संसार' है। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य डॉ० मिश्र के अनुसार यह है कि नाटकों की भाषा भी क्रिया की भाषा है, वह न काव्य रस है, न कथा रस, वरन् वह 'क्रिया रस' है। यह असल में 'क्रिया रस' 'आस्वादन' का विषय है। अतः यदि 'क्रिया-रस' के स्थान पर 'क्रिया-आस्वादना' का प्रयोग होता तो ज्यादा सार्थक होता। लेखक का यह भी सही मानना है कि प्रसाद के नाटकों की भाषा काव्य-भाषा है न कि क्रिया-भाषा। प्रसाद घटना को 'दृश्य' नहीं बना पाते हैं। डॉ० **लवकुमार लवलीन** ने नरेन्द्र मोहन के नाटकों को प्रयोगधर्मी माना है तथा डॉ० **नरनारायण राय** ने नरेन्द्र मोहन को भीष्म साहनी तथा मणि मधुकर की परंपरा में रखा है। **श्याम आनंद** ने नाटकीय तनाव का सुंदर विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार, समीक्षकों ने नरेन्द्र मोहन के नाटकों का विवेचन किया है और मूल्यांकन भी। नाट्य-रचना में उन्होंने इतने कम समय में जो स्थान बनाया है, उससे यह साफ जाहिर होता है कि वे भविष्य में नाट्य-रचना की ओर और सार्थक कदम उठाएंगे।

नरेन्द्र मोहन की आलोचना-दृष्टि के बारे में सभी समीक्षक एक स्वर से सह-मत हैं कि वे अपनी आलोचना में पूर्वाग्रहों से काफी मुक्त हैं और वे आत्मनिष्ठ इतिहास बोध के पक्षधर नहीं हैं। उन्होंने आधुनिकता बोध को व्यापक संदर्भ देते हुए कथा-साहित्य का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अपने में महत्त्वपूर्ण है। यही

जहाँ उन्होंने अस्तित्ववादी शब्दों को नई अर्थ व्यंजनाएं दी है। डॉ. कीर्ति केसर डॉ. सुलेख चंद्र शर्मा, डॉ. हरदयाल शर्मा, डॉ. सुरेश बत्रा तथा डॉ. देवराज के निबंधों में न्यूनाधिक रूप से उपर्युक्त तत्त्वों को भिन्न-भिन्न तरह से व्याख्यायित किया गया है।

दूसरा मुद्दा जो आलोचकों द्वारा उठाया गया है, वह है शास्त्रीय आलोचना से विदाई का। अनेक सहयोगी लेखकों ने शास्त्रीय आलोचना के उन तत्त्वों को स्वीकार किया है जो आज भी प्रासंगिक हैं। इस दृष्टि से डॉ० सुलेख चंद्र शर्मा डॉ० हरदयाल तथा डॉ० रत्नलाल शर्मा ने शास्त्रीय आलोचना के 'प्रगतिशील' तत्त्वों को स्वीकार किया है। मेरे विचार से डॉ० नरेन्द्र मोहन ने शास्त्र का विरोध वहां किया है जहां वह रूढ़ि होता जा रहा है और आज की रचनाशीलता को सही संदर्भ देने में असमर्थ है। शास्त्र और शास्त्रीय में अंतर है (बातचीत मे देखें) क्योंकि आज के अनुशासन भी शास्त्र हैं तो वाद, विवाद और संवाद के द्वारा अपना विकास करते हैं और इस प्रकार गतिशीलता का परिचय देते हैं। शास्त्र को इस व्यापक अर्थ में लेने से वह वैचारिकता और संवेदना के निखार में सहायक ही होगा। नरेन्द्र मोहन, शास्त्र या अनुशासन का सहारा रचना को केंद्र में रख-कर लेते हैं, वहां आरोपण नहीं है, सिद्धांत-प्रतिपादन नहीं है, भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग नहीं है वरन् कृति की संरचना से उभरने वाले विचार-संवेदन के रचनात्मक आयामों का विवेचन है। डॉ० रत्नलाल शर्मा ने कहानी-आलोचना के संदर्भ में यह मत रखा है कि नरेन्द्र मोहन विश्लेषण विवेचन को पूरी शिद्दत के साथ करते हैं, पर वे मूल्यांकन तक नहीं पहुंचते हैं। यह स्थिति कहीं-कहीं तो है, पर सर्वत्र नहीं। असल में, विश्लेषण-विवेचन के दौरान मूल्यांकन की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है, उसे पूरी तरह से अलग नहीं किया जा सकता है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि नरेन्द्र मोहन समानांतर रूप से तीन विधाओं में लिखते हुए भी साहित्य की 'रचनात्मकता' के प्रति अत्यंत सजग हैं, और इस रचनात्मकता में वे वैचारिक एवं संवेदनात्मक आयामों को 'अर्थ' देते है। वे अपनी आलोचना एवं सृजन में सौम्य हैं, वे विरोध के लिए विरोध नहीं करते हैं, यही नहीं वे विरोध भी आत्मीय शैली में करते हैं। उनमें समीक्षात्मक विवेक है तभी तो वे कविताओं की कमी एवं गुणों को आंक सकते हैं। प्रयोग-धर्मी कवि की हैसियत से आलोचना को कवि-चित्त का स्पर्श दे रचनात्मक बना देते हैं, इसी से मैं उनकी आलोचना को 'रचनात्मक आलोचना' कहना चाहूंगा जिसमें डॉ० चंद्रकांत बांदिवड़ेकर, प्रभाकर श्रोत्रिय, विद्यानिवास मिश्र तथा आनंदप्रकाश दीक्षित जैसे आलोचक आते हैं। नाटककार की हैसियत से वे काव्य और आलोचना के शब्दों और प्रतीकों को एक नाटकीय हरकत में परिवर्तित कर देते हैं। नाटक में शब्द और प्रतीक (यहां तक कि भाषा) की अवधारणाएं पूरी

हरकत के साथ नाटकीय व्यंग्य और नाटकीय अर्थ को साकार करती हैं। नरेन्द्र मोहन में इसकी क्षमता है जो अभी विकास की संभावनाओं की ओर संकेत करती है।

नरेन्द्र मोहन की मूल्यांकन-प्रक्रिया के तहत एक तथ्य की ओर विनम्र निवेदन करना चाहूंगा जो मुझे महसूस हुआ है (हो सकता है मैं ग़लत होऊं)। मेरा संकेत है 'विचार-साहित्य' का और अधिक मंथन जो रचनाकार की 'संवेदना' को बहु-आयामी बना सके। मैंने यहां विचार-साहित्य के अध्ययन के बाद 'मंथन' की बात पर जोर दिया है क्योंकि रचनाकार हो या आलोचक या विचारक—ये सभी वैचारिक मंथन को अनुभव-संवेदन में घुलाकर प्रस्तुत करते हैं। लेकिन यह 'घोल' रचनाकार में अपेक्षाकृत अधिक होता है, तभी उसकी रचनात्मकता का आयाम एवं स्वरूप एक विचारक और वैज्ञानिक से अलग होता है। यह संपादन इस 'घोल' को प्रस्तुत करता है, ऐसा मेरा विश्वास है।